आचार्य मेधाव्रत की साहित्यिक रचनाओं में प्रतिबिम्बित दयानन्द-दर्शन

ओ३म्

डॉ० योगेश शास्त्री

स्वामी दयानन्द की दार्शनिक विचारधारा सर्वथा स्पष्ट, संशयरहित एवं वेदानुकूल है। वे ईश्वर-जीव और प्रकृति के त्रैतवाद को स्वीकार करते हैं। महर्षि का ब्रह्मचर्य अखण्ड था, उनका देशप्रेम अद्भुत था, वे सत्य के प्रबल पक्षधर थे, प्राचीन गुरुकुल पद्धति के प्रति उनकी अगाध आस्था थी। वे निराकार ईश्वर के उपासक थे, सदाचार और मानवता के पुजारी थे, उनकी वेदव्याख्या पद्धति विश्वहितकारी थी।

महर्षि के जीवन चरित और उनकी सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक मान्यताओं ने लेखकों, कवियों और विद्वानों को इतना प्रभावित किया कि देवभाषा संस्कृत एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनेक उत्तमोत्तम महाकाव्यों का निर्माण महाकवियों ने किया। इन महाकवियों में सबसे ऊँचा आसन है- महाकवि मेधाव्रत का। आचार्य मेधाव्रत ने दयानन्द-दिग्विजय नामक अमर महाकाव्य की रचना कर स्वामी दयानन्द की धवल कीर्ति को दिग्दिगन्त में फैलाने का कार्य किया है। लगभग **30** गद्य-पद्य काव्यों का निर्माण कर कान्तासम्मित शैली में दयानन्द दर्शन के प्रत्येक प्रत्यक्ष का सुव्यवस्थित प्रतिपादन करने में कवीन्द्र मेधाव्रत को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

विद्वान् गवेषक ने दयानन्द-दर्शन की अवधारणा स्पष्ट करते हुए आचार्य मेधाव्रत के रचना-संसार का सुव्यवस्थित परिचय दिया है। ज्ञान-मीमांसा, कर्म मीमांसा और आचार-मीमांसा के अन्तर्गत सात अध्यायों में मेधाव्रत साहित्य में प्रतिबिम्बित प्रमाणों का निरूपण करते हुए सृष्टि-उत्पत्ति-प्रक्रिया, ईश्वर-जीव-प्रकृति, कर्मफल, पुनर्जन्म आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

मूल्य - ४८०.०० रुपये

दि०03/x/17

सम्माननीय प्रो० स्वतन्त्र
कुमार जी, (कुलपति)
गुरुकुल कांगड़ी वि०वि०
(हरिद्वार) को सादर
भेंट-

(डा० धर्मेन्द्र शास्त्री)

आचार्य मेधाव्रत की साहित्यिक रचनाओं में प्रतिबिम्बित दयानन्द-दर्शन

डॉ० योगेश शास्त्री

प्राचार्य (विद्यालय-विभाग)
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

परिमल पब्लिकेशन्स

दिल्ली

प्रकाशक :

परिमल पब्लिकेशन्स

कार्यालय - 27/28, शक्ति नगर, दिल्ली-110 007

बिक्री केन्द्र - 22/३, शक्ति नगर, दिल्ली-110 007

दूरभाष- 011-23845456, 65441516, 47015168

e-mail : parimal@ndf.vsnl.net.in

url : www.parimalpublication.com

इस शोध प्रबन्ध के प्रकाशन में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा वित्तीय सहायता प्रदान की गई है।

प्रथम संस्करण 2007

ISBN : 81-7110-309-X

मूल्य - ४८०.०० रुपये

मुद्रक :

हिमांशु प्रिन्टर्स

मेन यमुना विहार रोड़

मौजपुर, दिल्ली-92

समर्पणम्

जिन्होंने अपनी पावमानी कृपा, शुभाशीर्वाद एवं दिव्य ज्ञानाऽमृत
से अभिसिंचित कर अपने सामीप्य एवं निर्देशन में वैदिक
वाङ्मय के अध्ययन एवं सहस्राधिक यज्ञों को करने
और कराने का सुयोग सुलभ कराया, उन्हीं
जन्म-जन्मान्तरों के मेरे गुरुवर, पूज्यपाद ब्रह्मर्षि
कृष्णदत्त जी महाराज (पूर्व जन्मों के
ऋष्यश्रृंग) एवं वैदिक वाङ्मय के
अधिकारी विद्वान् एवं मेरी
शोध-क्षमता के
सृष्टिकर्ता
गुरुवर प्रो० महावीर जी अग्रवाल
एवं
प्रो० वेदपाल जी
तथा पूज्य पिताश्री राजकुमार जी
एवं माता श्रीमती रामेश्वरी देवी जी
के कर-कमलों में सादर सश्रद्ध समर्पित
मेरा यह प्रथम शोध-प्रसून...........

ओ३म्
OM

प्रो० स्वतंत्र कुमार
कुलपति
PROF. SWATANTRA KUMAR
VICE-CHANCELLOR

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार – 249 404 (भारत)
GURUKULA KANGRI VISHWAVIDYALAYA
HARDWAR - 249 404 (INDIA)

क्रमांक/Ref. No. ....

दिनांक/Dated ....

वर्धापनम्

महर्षि दयानन्द के आविर्भाव एवं उनके द्वारा आर्यसमाज की स्थापना को १९वीं सदी की महानतम घटना माना जाता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विष के प्याले पीकर और हर प्रकार का अपना अपमान सहकर वैदिक ज्ञान के आलोक से पृथ्वी को आलोकित किया था। गौतम, कणाद, कपिल और पतंजलि द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक चिन्तन धारा को महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश, यजुर्वेद भाष्य, ऋग्वेदभाष्य आदि अमर रचनाओं में अत्यन्त प्रभावशाली रूप में अभिव्यक्त किया, जिससे सम्पूर्ण भारतवर्ष में एक अद्भुत वैचारिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। पाखण्ड का पर्वत चूर चूर होने लगा।

महर्षि के लोकोत्तर जीवन चरित्र तथा उनकी दार्शनिक विचारधारा को लेकर संस्कृत एवं भारत की अन्य भाषाओं के अनेक गद्य, पद्य, काव्यों की रचना की गई। ऐसे स्वनामधन्य कवियों में आचार्य मेधाव्रत का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है। महाकवि मेधाव्रत ने रससिद्ध शैली में वैदिक दर्शन को प्रतिबिम्बित किया है।

गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के वैदिक विद्वान् डॉ० योगेश शास्त्री ने अपने शोध प्रबन्ध में आचार्य मेधाव्रत की साहित्यिक रचनाओं में प्रतिबिम्बित दयानन्द दर्शन को सरल, सरस एवं प्रांजल भाषा में अभिव्यक्ति प्रदान की है। वस्तुत: डॉ० योगेश शास्त्री एक होनहार, भावनाशील, चरित्रवान एवं सुयोग्य विद्वान् हैं। महर्षि दयानन्द में अनन्य भक्ति एवं वेदों के प्रति प्रगाढ आस्था के कारण प्रियवर डॉ० योगेश शास्त्री अपनी इस शोधकृति में आचार्य मेधाव्रत की रचनाओं में प्राणतत्त्वस्वरूप दयानन्द-दर्शन को मुखरित करने में पूर्णत: सफल हुए हैं।

मैं विद्वान् लेखक को अपने अन्त:करण की गहराइयों से हार्दिक शुभकामनाएँ प्रदान करते हुए इनके सर्वविध सुख, सौभाग्य एवं कीर्ति की प्रभु से प्रार्थना करता हूँ।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थ के प्रकाशन से अनेक दार्शनिक गुत्थियाँ सुलझेंगी और जिज्ञासुओं को विशेष लाभ होगा जिससे दयानन्द-दर्शन की सार्थकता सिद्ध हो सकेगी।

प्रो० स्वतंत्र कुमार



ओ३म्

Off. : 0133-416207
Resi. : 0133-423451
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya, Hardwa
पो० ओ० गुरुकुल कांगड़ी, जि० हरिद्वार - २४९४०
P.O. Gurukula Kangri, Distt. Hardwar - 2494

प्रो० वेद प्रकाश शास्त्री
आचार्य एवं उप-कुलपति

प्रशंसातः प्ररोचना

आर्य समाज की स्थापना वेद एवं वैदिक वाङ्मय के प्रगूढ़ विलोढन के लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने १८७५ में मुम्बई नगर में की थी। उन्होंने समग्र मानव जगत् को वेदानुसार अपने विचार प्रकट करते हुए संसार को प्रेरणा दी कि प्रत्येक व्यक्ति वैदिक शिक्षा प्राप्त कर जीवन को सफल करें। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने मानवीय जीवन के सर्वाङ्गीण विकास को ध्यान में रखते हुए भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों पक्षों की ओर समान रूप से मानव समाज का ध्यान आकृष्ट किया।

महाकवि आचार्य मेधाव्रत ने जीवन के अभ्युदय का मूलाधार ज्ञान-मीमांसा को मानते हुए वेदों में वर्णित त्रैतवाद का विशद विवेचन यथार्थ रूप से समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। स्वामी जी द्वारा प्रदर्शित त्रैतवाद को स्वीकार करते हुए आचार्य मेधाव्रत जी ने जो काव्य रचनाएँ की उन काव्य रचनाओं के माध्यम से त्रैतवाद को जन-मानस तक पहुँचाना अपना धर्म समझा।

आचार्य मेधाव्रत के शब्दों में -

काकायन्ते पुरा मुग्धा ब्रह्माब्रह्मविवेचने।।
हंसायते स्म योगीन्द्रो मुक्ताशः क्षीरपो बुधः।।
ब्रह्म सत्यं जगत्सत्यं जीवास्सत्याश्च संसृतौ।।
ज्ञानतो दृश्यमानं तन्निखिलं सत्यमात्मवत्।।
द्वा सुपर्णेति मन्त्रेऽस्मिन् स्पष्टतः प्रत्यपादि तत्।।
ब्रह्मजीव प्रकृत्याख्यं तत्त्वत्रयमनादि सत्।।
ब्रह्मसर्वज्ञमल्पज्ञो जीवस्तु प्रकृतिर्जडा।।
साक्षि भोक्ता च भोग्येयं वेदतो युक्तितोऽप्यहो।।

काव्यशास्त्रीय परम्परा में जब काव्य प्रयोजनों की ओर ध्यान दिया तो उन्होंने काव्य के प्रयोजनों को ''चतुर्वर्गफल प्राप्ति सुखादल्पधियामपि'' कहकर यह प्रदर्शित किया, कि कर्तव्य करना तभी सार्थक है, जबकि काव्य-अध्येता के जीवन में चतुर्वर्ग पूर्णत: उल्लसित हो सके। ऋषिवर स्वामी दयानन्द सरस्वती का उद्देश्य भी मानव-समाज को वेद-ज्ञान प्राप्त कर चतुर्वर्ग की ओर प्रेरित करना था। इस चतुर्वर्ग का विकास त्रैतवादिय परम्परा में ही सम्भव है। अत: आचार्य मेधाव्रत ने अपने गद्य-पद्य ग्रन्थों में त्रैतवादिय परम्परा को यथास्थान प्रकट करते हुए काव्य प्रणयन से समाज को दिशा प्रदान की है। आचार्य मेधाव्रत की कृतियों में महर्षि दयानन्द के दर्शन को प्रतिबिम्बित करते हुए, डॉ० योगेश शास्त्री ने अपने गम्भीर अध्ययन, निगूढ़ चिन्तन तथा गवेषक की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों को सहज रूप में प्रस्तुत किया है। जो कर्तव्य, शास्त्रीय, वाक्य-रचना से स्वीकार करने में कुछ कठिनाई होती है, उन्हीं को काव्य की वाक्यावली के द्वारा सरलता के साथ स्वीकार कर लिया जाता है।

डॉ० योगेश शास्त्री का यह शोध-प्रबन्ध जहाँ उनके पूर्ण परिश्रम की ओर संकेत करता है, वहाँ ऋषि दयानन्द के प्रति उनकी आस्था एवं श्रद्धा को भी प्रकट करता है, या यह कहा जा सकता है, कि उन्होंने यह ग्रन्थ लिखकर वास्तव में ऋषि ऋण से उन्मुक्त होने का प्रशंसनीय कार्य किया है।

इस 'शोध-प्रबन्ध' के लेखक डॉ० योगेश शास्त्री के प्रति सारस्वत जगत् में निरन्तर अभ्युदय की कामना करते हुए मैं उनके कान्तियुक्त, दीर्घायु, उत्तम स्वास्थ्य एवं मंगलमय भविष्य की जगन्नियन्ता परमात्मा से कामना करता हूँ।

वेदप्रकाश शास्त्री

प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री



॥ ओ३म् ॥
''विद्ययाऽमृतमश्नुते''

निवाम :-
'वेदालोक' 22 नन्द विहार,
पो० गुरुकुल कांगड़ी,
हरिद्वार-249404 (उत्तरांचल)
☎ : C1334-228544

पत्रांक..........................

दिनांक..........................

डॉ० महावीर अग्रवाल
प्रोफेसर संस्कृत विभाग
अध्यक्ष, प्राच्यविद्या संकाय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
सदस्य, उत्तरांचल संस्कृत अकादमी
हरिद्वार- २४९ ४०४ (भारत)

किञ्चिन्मनोगतम्

साक्षात्कृत-धर्मा महर्षि गौतम-कणाद-कपिल एवं पतञ्जलि आदि ऋषियों की गरिमामयी परम्परा के पश्चात् सुदीर्घ कालखण्ड में उन्नीसवीं सदी में गुजरात राज्य के टंकारा नगर में मूलशंकर नामक एक बालक औदिच्य वंश में उत्पन्न हुआ था जो कि संन्यास की दीक्षा लेकर स्वामी दयानन्द के नाम से विश्वविख्यात हुआ। उस आदित्य ब्रह्मचारी देव दयानन्द ने मथुरा में ब्रह्मर्षि विरजानन्द की कुटिया में बैठकर प्राप्त किये आर्ष ज्ञान से अपने पवित्र अन्त:करण में सत्य, निर्भ्रान्त एवं संशय, विकल्प विहीन चिन्तन की एक ऐसी ज्योति प्रज्ज्वलित की जिसने संसार में व्याप्त अज्ञानान्धकार को समूल नष्ट करने के लिये तथा समग्र वसुधा को सत्यज्ञान से आलोकित करने के लिए १८७५ में मुम्बई नगरी में आर्यसमाज का रूप धारण किया।

महर्षि के कर्मक्षेत्र में अवतरण से पूर्व इस देश की दार्शनिक चिन्तनधारा इधर-उधर भटक रही थी। आचार्य शंकर ने वेदान्त की व्याख्या में अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया था, वहीं आगे चलकर रामानुज एवं निम्बार्क आदि आचार्यों के मस्तिष्क में विशिष्टाद्वैतवाद आदि के विभिन्न रूप धारण कर दिग्भ्रमित कर रहा था। ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या, सर्व खल्विदं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि आदि वाक्य सामान्यजन की बुद्धि को भ्रमित कर रहे थे। वेद का पठन-पाठन छूट गया था। पाखण्ड बढ़ रहा था, देश परतन्त्रता की शृङ्खला में ही नहीं अपितु मानसिक दासता में भी जकड़ा हुआ था। ऐसे समय में वेदोदधि को अपनी दार्शनिक मान्यताओं का मूलाधार एवं गौतम, कणादादि ऋषियों को अपना मार्गदर्शक मानते हुए ऋषि ने वेदभाष्य तथा सत्यार्थ प्रकाश,

संस्कार विधि, ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका, आर्याभिविनय, गोकरुणा निधि, व्यवहारभानु आदि कालजयी रचनाओं का लेखन प्रारम्भ किया। स्वामी दयानन्द लोकैषणा एवं सांसारिक मान-अपमान, लाभ-हानि, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से सर्वथा दूर थे, संसार का उपकार करना ही उनके जीवन का लक्ष्य था, अहंकार उनको छू न सका था, कोई नया मत-मतान्तर या सम्प्रदाय स्थापित करने का उनके विशुद्ध हृदय में दूर-दूर तक कोई विचार नहीं था, वे संसार में सत्यज्ञान की पताका फहराने आये थे, और इस महान् कार्य को पूर्ण करने में सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा नामक चार ऋषियों के पावन अन्तःकरणों में प्रकाशित चारों वेदों के ज्ञान को ही वे परम प्रमाण मानते थे। अतः महर्षि दयानन्द दर्शन का अभिप्राय है - वैदिक दर्शन अथवा गौतम, कणादादि ऋषियों का दर्शन।

स्वामी दयानन्द की दार्शनिक विचारधारा सर्वथा स्पष्ट, संशयरहित एवं वेदानुकूल है। वे ईश्वर-जीव और प्रकृति के त्रैतवाद को स्वीकार करते हैं। ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप है, तो जीव सत्-चित् और प्रकृति केवल सद्रूपा है। प्रत्येक जीव को अपने किये हुए शुभ-अशुभ कर्मों का फल अवश्य प्राप्त होता है -

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम्।'

इसी प्रकार मोक्ष प्राप्त होने तक जन्म-मरण का क्रम अवश्यम्भावी है।

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।'

इसी प्रकार ईश्वर न्यायकारी और दयालु है। वह प्रभु संसार के कण-कण में व्याप्त है, स्वयं अभोक्ता है, किन्तु जीव के समस्त क्रियाकलापों को प्रतिक्षण देखता है। इस प्रकार स्वामी दयानन्द से सुस्पष्ट दार्शनिक विचारधारा प्राप्त कर यह संसार कृतकृत्य हो गया। महर्षि का ब्रह्मचर्य अखण्ड था, उनका देशप्रेम अद्भुत था, वे सत्य के प्रबल पक्षधर थे, प्राचीन गुरुकुल पद्धति के प्रति उनकी अगाध आस्था थी। वे निराकार ईश्वर के उपासक थे, सदाचार और मानवता के पुजारी थे, उनकी वेदव्याख्या पद्धति विश्वहितकारी थी। यही कारण है कि महर्षि की रचनाओं से तथा प्रवचनों से समाज में नव-चैतन्य का संचार हुआ और एक अद्भुत परिवर्तन सर्वत्र दिखाई देने लगा। स्वार्थी जन स्वामी जी द्वारा प्रतिपादित सत्य ज्ञान को उसी तरह नहीं देख पाते थे, जैसे उल्लू सूर्य के प्रकाश को सह नहीं पाता है।

महर्षि के जीवन चरित और उनकी सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक मान्यताओं ने लेखकों, कवियों और विद्वानों को इतना प्रभावित किया कि देवभाषा संस्कृत एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनेक उत्तमोत्तम महाकाव्यों का निर्माण महाकवियों ने किया। इन

महाकवियों में सबसे ऊँचा आसन है- महाकवि मेधाव्रत का। आचार्य मेधाव्रत ने दयानन्द-दिग्विजय नामक अमर महाकाव्य की रचना कर स्वामी दयानन्द की धवल कीर्ति को दिग्दिगन्त में फैलाने का कार्य किया है। लगभग 30 गद्य-पद्य काव्यों का निर्माण कर कान्तासम्मित शैली में दयानन्द दर्शन के प्रत्येक प्रत्यक्ष का सुव्यवस्थित प्रतिपादन करने में कवीन्द्र मेधाव्रत को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। मेधाव्रत एक महाकवि और विविध विद्याओं में निष्णात आचार्य हैं, साथ ही भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के प्रखर व्याख्याता और उद्गाता हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाएँ आर्ष शिक्षा पद्धति के प्रचार-प्रसार केन्द्र गुरुकुलों में ब्रह्मचारियों एवं ब्रह्मचारिणियों को पढ़ाई जाती है।

डॉ० योगेश शास्त्री, प्राचीन शिक्षा परम्परा के अनुसार बाल्यकाल में ही गुरुकल बरनावा की पुण्यभूमि में शिक्षा ग्रहण करने हेतु प्रविष्ट कर दिये गये थे। माता-पिता के उत्तम संस्कारों के साथ-साथ अपने पूर्वजन्म के शुभ कर्मों के कारण पूज्य गुरुचरणों में बैठकर इनकी जीवनवल्लरी विद्यारूपी मधु का पान कर लहलहा उठी। चारित्रिक, बौद्धिक एवं मानसिक शक्तियों का विकास करते हुए डॉ० योगेश वेद, दर्शन, व्याकरण एवं साहित्य आदि विद्याओं के देदीप्यमान स्नातक बनकर तथा संस्कृत में स्नातकोत्तर कक्षा उत्तीर्ण कर अपनी शोध-पिपासा शान्त करने के लिये सौम्य, शान्त, गम्भीर स्वभाव के धनी मनीषीप्रवर डॉ० वेदपाल जी की सन्निधि को प्राप्त हुए। महर्षि दयानन्द, वेद, भारतीय दर्शन एवं भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध, अटूट श्रद्धा के कारण आचार्य मेधाव्रत के साहित्य पर निष्ठा, श्रद्धा एवं परिश्रमपूर्वक कार्य करते हुए मन्थनोत्थ काव्यामृत के रूप में दयानन्द दर्शन का सुन्दर स्वरूप डॉ० योगेश ने प्रस्तुत किया है। शोध-प्रबन्ध की भाषा भावपूर्ण, सरस तथा सहृदय-हृदयग्राह्य है।

विद्वान् गवेषक ने प्रथम अध्याय में दयानन्द-दर्शन की अवधारणा स्पष्ट करते हुए आचार्य मेधाव्रत के रचना-संसार का सुव्यवस्थित परिचय दिया है। आगे के अध्यायों में ज्ञान-मीमांसा, कर्म मीमांसा और आचार-मीमांसा के अन्तर्गत सात अध्यायों में मेधाव्रत साहित्य में प्रतिबिम्बित प्रमाणों का निरूपण करते हुए सृष्टि-उत्पत्ति-प्रक्रिया, ईश्वर-जीव-प्रकृति, कर्मफल, पुनर्जन्म आदि पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए मानव-जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को स्पष्ट किया तथा मोक्ष प्राप्ति के साधन प्रतिपादित किये हैं। शोध-प्रबन्ध के प्रत्येक पृष्ठ, प्रत्येक वाक्य एवं प्रत्येक शब्द में गुरु विरजानन्द की कुटिया से विदा होते हुए ब्रह्मर्षि द्वारा अपने प्रिय शिष्य दयानन्द को आशीर्वाद के रूप में दिये गये आदेश की मधुर ध्वनि सुनाई देती है। प्रज्ञा चक्षु विरजानन्द ने दयानन्द से कहा था -

''स्वस्त्यस्तु ते याहि दिगन्तवृन्दे
वन्द्यर्षि सद्ग्रन्थनिबद्धविद्याः।
विद्योतय प्रोज्ज्वल वेद धर्म
श्रीवेजयन्तीं लघु-लासय त्वम्।।''

अर्थात् हे दयानन्द! तुम्हारा कल्याण हो। तुम जाओ। महर्षियों के सद्ग्रन्थों का, वेदविद्या का और उज्ज्वल वैदिक सिद्धान्तों का देश-देशान्तर में प्रकाश करो और शीघ्र ही वैदिक वैजयन्ती फहरा दो।

इस प्रकार राष्ट्र गौरव, संस्कृति प्रेम एवं दयानन्द दर्शनानुराग से परिपूर्ण हृदय वाले युवा विद्वान् डॉ० योगेश शास्त्री द्वारा लिखित यह शोध ग्रन्थ वैदिक दर्शन अथवा वैदिक संस्कृति को जानने के इच्छुक अध्येताओं के लिये अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ बन गया है। वेद एवं दर्शन विषय में शोध करने वाले शोधार्थियों के लिये यह ग्रन्थ मार्गदर्शक का कार्य कर सकता है। इस उत्तम कृति के प्रकाशित होने से जिज्ञासु जन निश्चय ही लाभान्वित होंगे।

मैं ग्रन्थ के प्रकाशन पर प्रियवर डॉ० योगेश शास्त्री को हार्दिक बधाई एवं शुभकामना प्रदान करते हुए कामना करता हूँ कि भविष्य में भी इनकी चिन्तनधारा इसी प्रकार सतत प्रवाहित होती रहेगी और इनकी लेखनी से संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि निरन्तर होती रहेगी।

मैं विनम्रता की प्रतिमूर्ति, विद्या और सदाचार के धनी गुरुकुलीय पद्धति के परिपोषक, यज्ञीय परम्परा के उन्नायक डॉ० योगेश शास्त्री के सर्वविध सुख-सौभाग्य तथा धवल कीर्ति, दीर्घायु एवं पारिवारिक अभ्युदय की मंगल कामना करता हूँ।

महावीर

प्रो० महावीर

दो शब्द

आदिकाल से ही मनुष्य की यह प्रवृत्ति दिखाई देती है कि वह दृश्यमान जगत् के अन्वीक्षण का प्रयत्न करता रहा है। इसी अन्वीक्षण को दर्शन शब्द से अभिहित किया गया है। इस अन्वीक्षण-चिन्तन के प्रमुख बिन्दु रहे हैं—

१. सृष्टि की उत्पत्ति

२. जगत् का रचयिता-परमात्मा

३. जागतिक पदार्थों का भोक्ताजीव

४. मुक्ति और उसके साधन

५. मुक्ति से पुनरावृत्ति

६. पुनर्जन्म तथा सुख-दुःख आदि

उन्नीसवीं शती में महर्षि दयानन्द सरस्वती के आगमन से पूर्व भी मनीषी उक्त प्रश्नों पर विचार करते रहे हैं, जिनके चिन्तन का मूल वेद से जुड़ा रहा। वे न्याय, वैशेषिक आदि षड्दर्शनों को मानते रहे तथा शेष की चिन्तन शैली इनसे स्वतन्त्र रूप में चार्वाक्, जैन, बौद्ध आदि नाम से प्रख्यात है। उक्त षड्दर्शन मानने वालों में भी विचार वैभिन्न्य के कारण अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि अनेक सम्प्रदाय हैं। उदाहरणार्थ, कपिल प्रोक्त सांख्य को कोई निरीश्वरवादी स्वीकार करते हैं, तो दूसरे ईश्वरवादी। यही अवस्था अद्वैत आदि को लेकर वेदान्त दर्शन की है। ऐसी स्थिति में— ''षड्दर्शन को प्रामाणिक मानते हुए उनकी वेदमूलकता का प्रतिपादन कर छहों दर्शनों का परस्पर समन्वय प्रस्तुत करना दर्शन के क्षेत्र में महर्षि दयानन्द सरस्वती का मौलिक योगदान है।'' महर्षि की इसी संगति के आधार पर व्यक्त मन्तव्य को ही 'दयानन्द-दर्शन' के नाम से अभिहित किया गया है।

महर्षि प्रतिपादित विचारों से अनुप्राणित आचार्यों ने विपुल साहित्य का सृजन किया है, जिसमें महर्षि के अभिमत मन्तव्यों का प्रतिपादन उपलब्ध होता है। आचार्य मेधाव्रत ने 'दयानन्द दिग्विजयम्' महाकाव्य के साथ ही 'प्रकृतिसौन्दर्यम्' (नाटक) 'कुमुदिनी चन्द्र' (उपन्यास) आदि ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है। उक्त सभी ग्रन्थों में महाकवि ने यथा-प्रसंग दयानन्दीय मन्तव्यों को निरूपित किया है। तद्यथा— ईश्वर, जीव, प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन—

ब्रह्मसत्यं जगत्सत्यं जीवास्सत्याश्च संसृतौ।
ज्ञानतौ दृश्यमानं तन्निखिलं सत्यमात्मवत्।। द०दि० १४.६८

डॉ० योगेश शास्त्री ने आचार्य मेधाव्रत की उपलब्ध संस्कृत रचनाओं में प्रतिबिम्बित दयानन्द-दर्शन को एकत्र व्यवस्थित रूप से अत्यन्त मनोयोग एवं परिश्रमपूर्वक प्रस्तुत किया है। दर्शन के क्षेत्र में विवेचित सभी बिन्दु एवं तद्विषयक दयानन्दीय मन्तव्य महाकवि की रचनाओं से उद्धृत कर डॉ० शास्त्री ने सफलतापूर्वक विवेचित किये हैं। दार्शनिक विषयों के विवेचन के साथ ही यथार्थ जीवन के सन्दर्भ में दयानन्दीय चिन्तन (षष्ठ अध्याय) महर्षि को मध्यकालीन दार्शनिक आचार्यों से पृथक् ही नहीं अपितु दार्शनिक आचार्यों की श्रेणी में मूर्धाभिषिक्त करता है।

डॉ० योगेश शास्त्री की सारस्वत साधना का यह प्रथम प्रसून ऋषितर्पण के साथ पाठकों की ज्ञानवृद्धि में सहायक होगा। अन्त में शिष्य-कल्प डॉ० योगेश शास्त्री को हृदय-लसित-भावाभिव्यक्त मंगल कामनायें एवं शुभाशीष तथा इस उत्तम कृति के लिए लेखक का शुभांशसन।

१० मई २००७

डॉ० वेदपाल
रीडर, अध्यक्ष (संस्कृत विभाग)
जनता वैदिक कॉलेज,
बड़ौत (बागपत)

मनोभाव

शैशवकाल से ही संस्कृत के प्रति अभिरुचि एवं आर्य-समाज का वातावरण प्राप्त होने के कारण वैदिक साहित्य में अध्ययन करने की प्रवृत्ति थी। सौभाग्य से पूज्य पिताजी द्वारा कक्षा पाँच उत्तीर्ण करने के पश्चात् कक्षा छ: में प्रवेश पूज्य ब्रह्मर्षि ब्रह्मचारी 'कृष्णदत्त जी' महाराज द्वारा संस्थापित 'श्री महानन्द संस्कृत महाविद्यालय, लाक्षागृह बरनावा' (मेरठ) वर्तमान में जनपद (बागपत) उ०प्र० में करा दिया गया, जिसके फलस्वरूप कक्षा छ: से 'आचार्य' पर्यन्त तक की कक्षाओं को विधिवत् रूप से गुरुकुल के पवित्र वातावरण में पूर्ण किया। 'आर्य-समाज' के प्रचार तथा वैदिक वाङ्मय में रुचि तो पहिले से ही थी, किन्तु 'लाक्षागृह बरनावा' पर प्रतिवर्ष आयोजित 'चतुर्वेद पारायण यज्ञों' तथा समय-समय पर आयोजित 'वेदपारायण यज्ञों' में पधारने वाले वैदिक मनीषियों तथा विद्वानों के प्रवचनों ने इसे और अधिक पुष्ट किया। इसी बीच गुरुकुल 'बरनावा' में प्रतिवर्ष आयोजित 'चतुर्वेद पारायण-यज्ञ' में जनता वैदकि कॉलेज, बड़ौत (बागपत) के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष एवं रीडर पूज्य गुरुदेव डॉ० वेदपाल जी से सम्पर्क हुआ। प्रसंगवश वार्तालाप के मध्य स्वामी दयानन्द के 'दर्शन' को लेकर चिन्तन प्रारम्भ हुआ। पूज्य गुरुदेव के विचारों से प्रभावित होकर मैंने इस सन्दर्भ में 'पी-एच०डी०' उपाधि हेतु उनके निर्देशन में शोध-कार्य सम्पन्न करने की इच्छा व्यक्त की। कुछ देर तक विचार-विमर्श के पश्चात् यह निश्चय किया गया कि स्वामी दयानन्द की विचारधारा और आर्य समाज से प्रभावित होकर आधुनिक युग में जिन बुद्धिजीवियों ने साहित्यिक रचनाएँ की हैं, उन पर अध्ययन एवं अनुसन्धान का कार्य किया जाये। सौभाग्य से आचार्य 'मेधाव्रत' जी की रचना 'दयानन्द दिग्विजय' का कुछ अध्ययन मैंने किया था। उनका यह ग्रन्थ (महाकाव्य) स्वामी-दयानन्द की दार्शनिक विचारधारा से ओत-प्रोत है। अत: निर्देशक महोदय की अनुमति से यह निश्चय किया गया कि "आचार्य मेधाव्रत की साहित्यिक रचनाओं में प्रतिबिम्बित दयानन्द-दर्शन" शीर्षक से शोध-कार्य सम्पन्न कर लिया जाये। निर्देशक महोदय की अनुमति पाकर उक्त शोध-प्रबन्ध की रूपरेखा प्रस्तुत कर दी गयी।

उक्त शोध-प्रबन्ध की रूपरेखा प्रस्तुत करने से पूर्व यह प्रश्न मन में उठा कि 'दयानन्द-दर्शन' के स्वरूप को भली प्रकार से समझ लिया जाय। इस दृष्टिकोण के साथ मैंने स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों का पारायण करने के साथ-साथ आचार्य मेधाव्रत

के ग्रन्थों को प्राप्त करने का प्रयास किया। यह मेरा सौभाग्य ही कहा जायेगा कि 'गुरुकुल नरेला, दिल्ली' और 'गुरुकुल झज्झर हरियाणा' एवं निर्देशक महोदय से आचार्य मेधाव्रत की अधिकतर रचनाएँ प्राप्त हो गयीं। 'आचार्य मेधाव्रत' के ग्रन्थों का अवलोकन करने पर पाया गया कि प्राय: उनके सभी ग्रन्थ 'स्वामी दयानन्द' की विचारधारा से अनुप्राणित हैं। अब यह विचार मन में आया कि 'दयानन्द-दर्शन' का अध्ययन किन उपशीर्षकों और अध्यायों में विभक्त करके किया जाये? प्राय: दर्शनों में तीन प्रकार का चिन्तन उपलब्ध होता है 'ज्ञान-मीमांसा', 'तत्त्व मीमांसा' और 'आचार-मीमांसा'। 'ज्ञान-मीमांसा' के अन्तर्गत 'ज्ञान का स्वरूप' 'ज्ञान की प्रक्रिया', 'ज्ञाता', 'ज्ञेय' और 'ज्ञान' के साधन के रूप में अष्ट प्रमाणों का अध्ययन, मिथ्याज्ञान और 'यथार्थज्ञान' का विषय आ जाता है। तत्त्व मीमांसा के अन्तर्गत 'स्वामी दयानन्द' ने जगत् का स्वरूप, जगत् का उपादन कारण, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का वर्णन किया है। उनके अनुसार जगत् न तो मिथ्या और क्षणभंगुर है और न ही नित्य है। जगत् प्रवाह से नित्य है और जगत् का कर्त्ता ईश्वर है। इसी प्रकार 'प्रकृति' तत्त्व को लेकर भी विवेचन किया गया है।

दर्शनों का तीसरा विवेच्य विषय 'जीवात्मा' है। जिसके स्वरूप संख्या, कर्म, स्वातन्त्र्य, कर्मफल, भोग, पुनर्जन्म, बन्ध-मोक्ष और इस ईश्वर व प्रकृति के सम्बन्ध के विषय में प्राय: दर्शन ग्रन्थों में विवेचन मिलता है। इसके पश्चात् दर्शनों का सबसे अधिक चिन्तन का विषय 'ईश्वर' तत्त्व है, जिसको लेकर उसकी सिद्धि में विविध प्रमाणों का वर्णन मिलता है। इसके साथ ही उसके गुण, कर्म, स्वभाव और उसके सृष्टि रचना में निमित्त कारण होने का वर्णन उपलब्ध होता है।

ये विषय यद्यपि सभी दर्शनों में वर्णित किये गये हैं, तथापि 'स्वामी दयानन्द' की विचारधारा अन्य दार्शनिकों की अपेक्षा पर्याप्त भिन्न है। उन्होंने जगत् की रचना 'त्रैतवाद' के आधार पर मानी है। अत: 'जीव' और 'जगत्' के प्रति उनका दृष्टिकोण व्यवहारिक और यथार्थ प्रतीत होता है। भौतिक उन्नति के साथ-साथ वे आत्मिक उन्नति और चरमसुख (मोक्ष) की प्राप्ति भी चाहते हैं। इसके साथ ही वे 'ज्ञान', 'विज्ञान', 'कर्म' और 'उपासना ' का समन्वय प्रस्तुत करके समस्त मानव जाति का कल्याण करना चाहते हैं। यह समग्र विवेचन 'दयानन्द-दर्शन' की अवधारणा को एक नया आयाम देता है। दयानन्द की इस विचारधारा का प्रभाव आचार्य मेधाव्रत की साहित्यिक रचनाओं में पूर्णता के साथ परिलक्षित होता है। शोध-प्रबन्ध के सात अध्यायों में इस चिन्तनधारा को विस्तार से सुस्पष्ट करने के प्रयास किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी शोध-कार्य का मुद्रित रूप है।

समस्त अध्ययन को शोधपरक अस्तित्व प्रदान करने में समर्थ पूज्य गुरुदेव 'डॉ० वेदपाल जी' आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग जनता वैदिक कॉलेज, बड़ौत (बागपत) के प्रति अत्यन्त श्रद्धा एवं विनम्रभाव से कृतज्ञता एवं आभार प्रकट करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ, जिनके बहुमूल्य सुझावों, संशोधनों और निर्देश के कारण प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ यह रूप ले सका और आलोच्य कवि 'आचार्य मेधाव्रत' की रचनाओं पर 'दयानन्द-दर्शन' के सर्वाधिक प्रकाश को पुष्ट किया जा सका।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के प्राच्य शिक्षा संकायाध्यक्ष, संस्कृत विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष अपने पूज्य गुरुदेव प्रो० महावीर जी के श्री चरणों में श्रद्धा-भाव से वन्दन करता हूँ, जिनकी प्रेरणा एवं शुभाशीष ने स्वामी दयानन्द के मन्तव्यों एवं उनकी दार्शनिक विचारधारा का प्रबल संस्कार हृदय में उत्पन्न किया है। वेद, संस्कृत, दर्शन, व्याकरण, उपनिषदादि ग्रन्थों के मर्मज्ञ मनीषि पूज्य गुरुवर प्रो० महावीर जी के मार्गदर्शन के बिना दर्शन जैसे गूढ़ विषय में प्रवेश कठिन हो जाता, यह भी पूर्ण सत्य है कि यह शोध-प्रबन्ध यदि शोध-ग्रन्थ का रूप ले सका तो इसके निमित्तकारण पूज्य गुरुदेव ही हैं।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के माननीय कुलपति प्रो० स्वतन्त्र कुमार जी, उपकुलपति प्रो० वेदप्रकाश जी शास्त्री, माननीय कुलसचिव महोदय तथा वित्ताधिकारी महोदय के सहयोग से यह ग्रन्थ प्रकाशित कर सुधी विद्वानों के करकमलों में समर्पित करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हो रहा है। मैं मान्य अधिकारियों के प्रति विनम्र कृतज्ञता प्रकट करना अपना धर्म समझता हूँ।

अन्त में पूज्य पिताश्री राजकुमार जी एवं श्रद्धेय माताश्री श्रीमती रामेश्वरी जी, अनुज अमरीश जी, रजनीश जी भी कृतज्ञता के पात्र हैं, जिनके आशीर्वाद एवं उत्साह ने पथ-प्रदर्शन का कार्य किया है।

जीवनसंगिनी अदिति, आयुष्मान् अथर्व एवं आयुष का योगदान भी अल्प नहीं है, जिनके धैर्य, उत्साह, सहयोग एवं स्नेह ने स्वामी-दयानन्द की वेदमूलकता एवं दार्शनिक मन्तव्यों को समझने में पथ-प्रदर्शन का कार्य किया है।

टंकण एवं मुद्रण का कार्य करने वाले एवं शोध-प्रबन्ध को यह आकार करने में कुशल श्री कन्हैया लाल जी, परिमल प्रकाशन, शक्ति नगर, दिल्ली भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिनके सहयोग से यह कार्य पूर्णता को प्राप्त हुआ है।

इस ग्रन्थ में जो कुछ वरेण्य अथवा ग्राह्य है, वह पूज्य माता, पिता एवं गुरुजनों के स्नेहिल आशीर्वाद का परिणाम है तथा जहाँ कहीं त्रुटियाँ हैं, उसमें मेरी अज्ञानता कारण है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि देव-दयानन्द के प्रति विनम्र श्रद्धांजलि एवं वाग्देवतावतार आचार्य मेधाव्रत के प्रति श्रद्धासिक्त भावांजलि के रूप में इस शोध-ग्रन्थ से दयानन्द-दर्शन की सुवास सहृदयों को अवश्य आनन्दित करेगी।

डॉ० योगेश शास्त्री

संकेत सूची

अनु०	अनुच्छेद
ऋ०	ऋग्वेद
ऋग्वेदादि०	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
ऐ०उ०	ऐतरेय उपनिषद्
कृ०	कृष्णानन्द
छा०उ०	छान्दोग्य उपनिषद्
द०द०	दयानन्द दर्शन
द०दि०	दयानन्ददिग्विजयम्
द०दि०उ०	दयानन्ददिग्विजयम् उत्तरार्द्ध
द०ल०	दयानन्द लहरी
दि०ल०	दिव्यानन्द लहरी
द्र०	द्रष्टव्य
पृ०	पृष्ठ
ब्र०म०	ब्रह्मचर्य-महत्त्वम्
वि०च०	विरजानन्दचरितम्
वै०सू०	वैशेषिकसूत्र
विशु०	विशुद्धानन्द
स्वा०	स्वामी
स०प्र०	सत्यार्थ-प्रकाश
समु०	समुल्लास
हीरा०	हीराबल्लभ

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

दयानन्द-दर्शन की अवधारणा

दर्शन का मानव जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। दर्शन के द्वारा मनुष्य उन अज्ञात अथवा अल्पज्ञात तथ्यों का मूल कारण खोजता रहा है, जो उसके जीवन को सुख-दु:ख आदि के रूप में प्रभावित करते हैं। दु:ख की निवृत्ति का उपाय अथवा सुख का अन्वेषण एक ऐसा ही विषय है, जिस पर प्रबुद्ध वर्ग सदा से अपने विचार व्यक्त करता रहा है। इस सुख को सांसारिक और पारमार्थिक दो रूपों में लिया जा सकता है। सांसारिक सुख के बहुत से उपायों का अन्वेषण किया गया है, किन्तु भारतीय दर्शनों की विशेषता यह है, कि वे पारमार्थिक सुख का मार्ग भी प्रदर्शित करते हैं। सामान्य रूप से दर्शनों को आस्तिक और नास्तिक दो रूपों में ग्रहण किया गया है। नास्तिक दर्शन प्रधानता के साथ भौतिक सुख का उपाय ही विशदता से वर्णन करते हैं। पारमार्थिक सुख तक इन नास्तिक दर्शनों की इतनी पहुँच नहीं है, कि वे एक सरल उपाय बता सकें। 'चार्वाक्' 'जैन', 'बौद्धादि' दर्शन इसी श्रेणी के हैं। 'बाइबिल' और 'कुरानादि' के दर्शनों में यद्यपि इनसे कुछ अधिक भिन्नता है, तथापि सत्य का अन्वेषण उनसे भी दूर है। योरोपीय दर्शनों में भौतिकवादी दार्शनिक विचारधारा का ही अधिक बाहुल्य है। भारतीय षड्दर्शनों के साथ इन दर्शनों के मूल आधार वेद, संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदादि, वैदिक ग्रन्थों तथा कुछ अन्य आर्ष काव्यों और श्रीमद्भगवद्गीता के दार्शनिक मन्तव्यों पर भी विचार किया जा सकता है। इन्हीं के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक रूप में विचार करते हुए 'दयानन्द-दर्शन' की अवधारण को स्पष्ट करने का प्रयास किया जायेगा।

इन षड्दर्शनों पर यदि दृष्टि डाली जाये तो देखा जा सकता है, कि सांख्य दर्शन ने 'प्रकृति' और 'पुरुष' को लेकर सेश्वरवादी और निरीश्वरवादी रूप में मानकर कुल २६ तत्त्वों की गिनती करके चरम सुख का मार्ग प्रशस्त किया है। 'पुरुष' को उन्होंने 'आत्मा' और 'परमात्मा' दो रूपों में मानकर उनके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। 'प्रकृति' को भी 'मूलकारण' और 'उपादान कारण' के रूप में मानकर सृष्टि-रचना के कारण और सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय के स्वरूप को स्पष्ट किया है। इस दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि त्रिविध दु:ख के विनाश का

मूलकारण इन तत्त्वों के वास्तविक ज्ञान को माना है। इस ज्ञान को प्रामाणिक स्वरूप देने के लिए उन्होंने प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान तीन प्रमाणों के द्वारा इसे कसौटी पर कसा है।

यदि 'सांख्यदर्शन' के दार्शनिक मन्तव्यों पर विचार किया जाये तो कहा जा सकता है, कि यह दर्शन पारमार्थिक सुख का सबसे पहले व्यावहारिक उपाय अन्वेषण करने में समर्थ हुआ है। भारतीय दर्शन में जिस त्रैतवाद— ईश्वर, जीव और प्रकृति का गूढ़ विवेचन मिलता है, उसका यह दर्शन प्रथम आधार है, किन्तु इस दर्शन को इस त्रैतवाद के चिन्तन के रूप में मौलिक पृष्ठभूमि, वेद संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों व उपनिषदों के रूप में मिली है। एक प्रकार से कहा जा सकता है, कि वैदिक दर्शन ने वेद संहिताओं के चिन्तन से लेकर 'सांख्य दर्शन' तक एक वास्तविक दर्शन के प्रथम सोपान का सुदृढ़ निर्माण किया है। सांख्य के अतिरिक्त 'योग' से लेकर 'वेदान्त' तक के दर्शनों को इस चिन्तन का उपबृंहण माना जा सकता है। 'सांख्यदर्शन' में 'ईश्वर', 'जीव' व 'प्रकृति' के वास्तविक स्वरूप को जानने और आत्मा द्वारा परमात्मा को पाकर मोक्ष-सुख का मूल उपाय ढूँढा गया तो 'सांख्य' के एक अंग के रूप में 'योग दर्शन' का उदय हुआ। आगे के दार्शनिक आचार्यों ने 'योग दर्शन' के उन सिद्धान्तों को ढूँढ डाला जिन्हें पारमार्थिक सुख की प्राप्ति के वास्तविक साधनों के रूप में जाना जा सकता है। योग के आठ 'अंग' और 'समाधि' की विविधरूपता का उत्कर्ष 'योग' का वास्तविक स्वरूप प्रदर्शित करता है। महर्षि 'पतंजलि' के 'योग दर्शन' और अन्य परवर्ती भाष्यकारों के भाष्यों में इस दर्शन का समग्र रूप प्रदर्शित है।

जगत् की रचना के रहस्य को 'कार्य-कारणवाद' के द्वारा 'सांख्य' और 'योगदर्शन' में भी समझाने का प्रयास किया गया है; किन्तु 'न्याय' और 'वैशेषिक' ने इस रहस्य को सुलझाने के लिए कुछ अधिक प्रामाणिक प्रयास किये। 'सांख्य' में जहाँ प्रकृति, मूल उपादान के रूप में 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' कही गयी थी, वहीं 'न्याय' और 'वैशेषिक' दर्शन में 'सत्' और 'असत्' के रूप में उसका रहस्य 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'उपमान' और 'शब्द प्रमाण' के द्वारा सुव्यक्त करने का प्रयास किया गया। 'न्याय-दर्शन' में 'प्रामाण्यवाद' का वास्तविक स्वरूप निखरकर उपस्थित होता है। चार अन्य प्रमाण 'अर्थापत्ति', 'सम्भव', 'अभाव' और 'ऐतिह्य' का अन्तर्भाव भी पूर्व के चार प्रमाणों में करने का प्रयास यहाँ किया गया है। 'वैशेषिक दर्शन' का सबसे बड़ा योगदान 'गुणों' का वर्णन और 'परमाणुवाद' के सिद्धान्त को जन्म देना है। यही

परमाणुवाद का वह सिद्धान्त है, जिससे सृष्टि की 'उत्पत्ति', 'स्थिति' और 'प्रलय' का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो सका।

अब तक भारतीय दर्शन की पृष्ठभूमि में इतना अधिक चिन्तन हो चुका था कि लौकिक और परलौकिक दोनों से सम्बद्ध अति गूढ़ रहस्यों— 'जन्म', 'बन्धन', 'संस्कार', 'कर्म', 'मृत्यु', 'परलोक', 'ऋतु' और 'सत्य' जैसे नैतिक विषयों पर भी 'मीमांसा-दर्शन' में विशद एवं विस्तृत विचार करना सम्भव हो सका। एक प्रकार से कहा जा सकता है, कि भारतीय आस्तिक दर्शनों का चरम उत्कर्ष 'मीमांसा-दर्शन' में जाकर पूर्ण होता है।

'वेदान्त दर्शन' में आकर, जिस 'त्रैतवाद' को 'सांख्य-दर्शन' में सरल रूप में व्यक्त करने का प्रयास किया गया था, वह यहाँ 'द्वैत', 'अद्वैत' 'विशिष्टाद्वैत' आदि विचारों में उलझ गया। यद्यपि वेदान्त के मूल ग्रन्थों में यह उलझाव नहीं है, वह अन्य पाँचों दर्शनों की विचारधारा से मेल खाता है, तथापि इस दर्शन के पश्चात् जो अनेक टीका भाष्य और व्याख्याएँ की गयीं उनमें इन भाष्यकारों टीकाकारों, और व्याख्याकारों ने अपने मन्तव्यों का प्रवेश बलपूर्वक करा दिया।[१] 'ब्रह्मसूत्रों' पर 'शंकराचार्य' का भाष्य इसी श्रेणी का प्रयास कहा जा सकता है। यहाँ आकर प्रच्छन्न रूप से 'बौद्ध-दर्शन' के मन्तव्यों का प्रभाव इन व्याख्याकारों पर पड़ा जिससे अनिर्वचनीयता की सी स्थिति उत्पन्न हो गयी। आधुनिक विचारधारा के लोग इन मन्तव्यों के अनेक मार्गों की ओर बढ़ने को भारतीय दर्शनों का विकास मान सकते हैं किन्तु सबसे अधिक दुविधा यह उपस्थित हो गयी कि सत्य का वास्तविक स्वरूप ओझल हो गया और दर्शनों की व्यावहारिकता न रह जाने से सामान्य जन जीवन से दर्शनों का नाता टूट गया। मानव जीवन के लिए दर्शनों की जो उपयोगिता रहनी चाहिए थी वह न रह पायी। कोरे भौतिकवादी चिन्तन से लेकर आध्यात्मिक चिन्तन के चरम उत्कर्ष को जिन भारतीय मनीषियों ने पाया था और जनता के जीवन से जिसे प्रत्यक्षतः जोड़कर पारमार्थिक सुख का व्यावहारिक मार्ग ढूँढा था। वहाँ एक भयंकर भटकाव उपस्थित हो गया।

स्वामी दयानन्द का सबसे बड़ा दार्शनिक योगदान मानव जाति के लिए यह माना जा सकता है, कि उन्होंने लुप्त हुई वास्तविक वैदिक अध्यात्मवाद की परम्परा को पुनर्जीवित किया है। 'वेदान्त दर्शन' के जिस भटकाव की चर्चा ऊपर की गयी है उस भटकाव से बचाकर स्वामी दयानन्द ने आज की मानव जाति को पुनः व्यावहारिक

---

१. दयानन्द-दर्शन : एक अध्ययन (डॉ० श्री निवास शास्त्री) पृ० २,

अध्यात्मवाद की मूल परस्परा से जोड़ दिया है। स्वामी दयानन्द ने अपने दार्शनिक विचारों को अपने दो ग्रन्थों 'सत्यार्थ-प्रकाश' और 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' में सुव्यक्त करने का प्रयास किया है। स्वामी दयानन्द का चिन्तन 'यथार्थ' पर आधारित है। उसमें तनिक भी भटकाव नहीं है। उनकी विचार-धारा इतनी स्पष्ट है, कि सामान्य पढ़ा लिखा व्यक्ति भी उनके मन्तव्यों को पढ़कर जीवन में लाभ उठा सकता है। अधिक पढ़े हुए योगी पुरुष के लिए उनके ग्रन्थ नित्य प्रज्वलित ज्योति के समान सदा प्रकाश देने वाले हैं। स्वामी दयानन्द की दार्शनिक विचारधारा का प्रत्यक्ष लाभ सामान्य जनता को उसके जीवन में मिलता है। इस दार्शनिक योगी ने मानव समाज के सुधार का यह दार्शनिक मार्ग प्रशस्त किया है, जिसकी आज के कोरे भौतिकवादी समाज में सुधार के लिए परम आवश्यकता है। न तो कोरे भौतिकवाद से चरम सुख की प्राप्ति हो सकती है और न ही अकेले अध्यात्मवाद से सांसारिक जीवन चल सकता है। इन दोनों का समन्वय आवश्यक है। कठिन पुरुषार्थ के साथ सत्य और धर्म के मार्ग पर चलकर भौतिक जीवन को सुधारा जाय और योगाभ्यास के साथ परमात्मा की प्राप्ति की जाये तभी मानव-जीवन का वास्तविक उद्देश्य पूर्ण होता है। स्वामी दयानन्द ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपना समग्र जीवन समर्पित करके योगाभ्यास द्वारा परमात्मा को पाकर मानव जाति के लिए एक व्यावहारिक मार्ग प्रशस्त किया है। इसी में 'दयानन्द-दर्शन' की सार्थकता है। शोधकर्ता उनके मन्तव्यों को लेकर यहाँ अनुसंधान करने का प्रयास कर रहा है।

यदि स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों पर दृष्टिपात किया जाय तो ज्ञात होता है, कि उन्होंने कठोर परिश्रम पूर्वक 'वेद संहिताओं' से लेकर 'उपनिषद्', 'दर्शन', 'रामायण', 'महाभारत' और अन्य प्राचीन ऋषियों द्वारा रचित ग्रन्थों के साथ-साथ अपने काल के बहुत से अन्य ग्रन्थों का पारायण किया। इतना ही नहीं 'बाइबिल', 'कुरान' तथा उनकी व्याख्याओं को भी भली प्रकार से समझने का प्रयास किया। कुछ पाश्चात्य भौतिकवादी दर्शनों तक भी उनकी गति थी। वर्तमान काल के वैज्ञानिक सिद्धान्तों को भी उन्होंने समझने का प्रयास किया और इस समग्र पारायण में उन्होंने यह भी विश्वास व्यक्त किया कि ''वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है और उनका पढ़ना, पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है।''[१] दर्शन की इस व्यावहारिक और यथार्थ विचारधारा का अनुभव एक सच्चा योगी पुरुष ही कर सकता है।

---

१. आर्यसमाज का तृतीय नियम

स्वामी दयानन्द ने अपने मन्तव्यों की पुष्टि में प्रमुखता से वेद मन्त्रों को उद्धृत किया है। उनका यह भी कहना था कि यदि वेद और अन्य ग्रन्थों के भी प्रमाण को सिद्ध करना पड़े तो वेद स्वतः प्रमाण होने से परममान्य हैं।[१] उनकी यह वेदमूलकता ही उनके दर्शन की सबसे बड़ी पहचान है। अपने मत को और अधिक पुष्ट करने के लिए जब-जब भी उन्हें आवश्यकता हुई तो उन्होंने प्राचीन ऋषि परम्परा के ग्रन्थों से प्रमाण लेकर उद्धृत करने का प्रयास किया है। सौभाग्य से 'वेद संहिताओं' से लेकर 'रामायण' और 'महाभारत' तक यह दार्शनिक परम्परा सुपुष्ट रूप में प्राप्त है। स्वामी दयानन्द के विचार कोरी कल्पना नहीं है। वे यथार्थ की कसौटी पर कसे हुए मन्तव्य हैं और ये मन्तव्य वैदिक ग्रन्थों में सामान्यतया पाये जाते हैं। स्वामी दयानन्द ने इस परम्परा को अपने व्यवहार एवं योगाभ्यास के बल से सक्रिय रूप में पोषित किया है।

'दयानन्द-दर्शन' के अनुसार विश्व में तीन तत्त्व हैं—'प्रकृति', 'जीवात्मा' और 'परमात्मा'—'भोग्य', 'भोक्ता' तथा 'नियन्ता'। 'प्रकृति' जड़ है, वह स्वयं कुछ नहीं करती। कोई अन्य शक्ति ही उसके द्वारा विश्व का निर्माण करती है।[२] 'जीवात्मा' अनेक और चेतन हैं किन्तु फल भोगने में ईश्वर के अधीन है।[३] ईश्वर एक है और वही उपास्य देव है। वह निराकार एवं सर्वव्यापक है। वह दयालु और न्यायकारी तथा नियमानुसार सृष्टि आदि का कर्ता है, वही कर्म के अनुसार जीवों के सुख दुःखादि की व्यवस्था करता है।[४] श्रेष्ठ कर्मों से सुख और बुरे कर्मों से दुःख मिलता है। इस व्यवस्था में क्षमा या पक्षपात का अवसर नहीं है। नैतिकता और सत्याचारण ही इसका प्रमुख अंग है। अतः 'ईश्वर' की यह शक्ति व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के अभ्युदय का साधन है, और पारमार्थिक सुख का भी।

स्वामी दयानन्द ने वैदिक संस्कृति को पुनर्जीवन प्रदान किया है। इसके प्रचार और प्रसार में उन्होंने अपना सर्वस्व समर्पित किया है। भौतिक उन्नति एवं आध्यात्मिक उत्थान हेतु उन्होंने जो समन्वयात्मक दार्शनिक मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं उन वैदिक मन्तव्यों की पुष्टि और अवैदिक मन्तव्यों के खण्डन में उनकी जो विचारधारा प्रस्फुटित हुई उसी को 'दयानन्द-दर्शन' के नाम से पुकारा जा सकता है। स्वामी दयानन्द ने

---

१. दयानन्द-दर्शन : एक अध्ययन (डॉ० श्रीनिवास शास्त्री) पृ० ३

२. वही, पृ० ६

३. वही, पृ० ७०-७१

४. वही, पृ० ९८-१०२

कोई निजी परिकल्पना प्रस्तुत न करके केवल वैदिक विचारधारा के यथार्थ को धरातल पर उतारने का प्रयास किया है। उन्होंने किसी सम्प्रदाय अथवा पन्थ का अनुसरण नहीं किया और न ही कोई अन्य पन्थ अथवा सम्प्रदाय चलाया। उनकी दृष्टि समग्र मानव जाति के लिए बड़ी व्यापक और उदार रही है। सत्य के अन्वेषण में उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी है। मानव जाति के सत्य का उद्घाटन करने के लिए उन्होंने 'सत्यार्थ-प्रकाश' लिखा। इस ग्रन्थ में दार्शनिक विचारधारा को जीवन से जोड़कर, 'प्रमाण' से लेकर 'प्रकृति', 'जीवात्मा', 'परमात्मा', 'पुनर्जन्म', 'मोक्ष', 'चरित्र' एवं 'नीति' के विविध पक्षों पर विशद प्रकाश डाला गया है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि उन्होंने समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए जो मत यथार्थ में उचित प्रतीत हुआ उसका मण्डन किया और वेद विरुद्ध विभिन्न मत मतान्तरों का निराकरण भी किया है। उन्होंने जनता के मध्य जाकर विभिन्न विद्वानों से खुलकर शास्त्रार्थ किया है। जिसका परिणाम यह हुआ कि जनता ने उनके सच्चे विचारों को हृदय से ग्रहण कर लिया। अज्ञान के निराकरण के लिए उन्होंने, 'वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण' और 'शिक्षा-पत्री-ध्वान्त-निवारण' जैसे ग्रन्थ लिखे। अपने दार्शनिक मन्तव्यों के स्वरूप लक्षणों का निरूपण भी उन्होंने कई ग्रन्थों में स्वतन्त्र रूप से किया है। 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' और 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' जैसे ग्रन्थों में उनके दर्शन के स्वरूप को देखा जा सकता है। उनका चिन्तन मौलिक यथार्थ एवं समन्वयवादी होता है।

किसी दर्शन की सफलता इस बात में होती है, कि वह जीवन और जगत् को सूक्ष्म विवेचनात्मक दृष्टि से देखने के साथ अध्यात्म के विषयों पर भी व्यापक एवं विशद विवेचन कर सके। स्वामी दयानन्द के चिन्तन में यह दृष्टिकोण स्पष्टतया झलकता है। यदि कही वे 'बौद्ध दर्शन' के आचार्य 'नागसेन' और यूनानी विचारक 'सुकरात' के समान संवाद-शैली के द्वारा किसी तथ्य का विश्लेषण करते दिखलायी देते हैं तो कहीं 'कुमारिल भट्ट' और 'शंकराचार्य' के समान दार्शनिकों के पैने तर्कों द्वारा प्रतिपक्षी के मत का निराकरण करते हैं। अपने मत की पुष्टि में वे विविध प्रमाण एवं युक्तियों को प्रस्तुत करते हैं। इसके लिए वे प्राचीन भारतीय आचार्यों के समान दार्शनिक पद्धतियों का ही अनुसरण करते हैं। वे अपने मन्तव्यों को संक्षिप्त शब्दों में बतलाते हैं और उस विषय में जो शंका हो सकती है उन्हें प्रश्नोत्तर रूप में प्रस्तुत करके युक्ति और प्रमाणों के आधार पर उनका समाधान करते हैं। अपने मत के मण्डन के लिए वे वेद, उपनिषदों, दर्शन के विविध आचार्यों, धर्मग्रन्थों के वचनों और नीतिग्रन्थों का आश्रय लेते हैं।

इस प्रकार उनका चिन्तन तार्किक यथार्थ एवं सत्य से परिपूर्ण होता है। उनकी यह सूत्र शैली बड़ी व्यावहारिक एवं उपयोगी है।

दर्शन की कल्पना बिना 'धर्म' और 'मानव समाज' के नहीं की जा सकती। समाज-सुधार और धार्मिक-सुधार को जीवन-दर्शन के क्षेत्र से बाहर नहीं किया जा सकता। दयानन्द ने दार्शनिक विषयों के साथ-साथ एक उत्कृष्ट समाज एवं धर्म का सत्य स्वरूप अपने ग्रन्थों में प्रतिबिम्बित किया है। यदि 'कर्म' को लेकर दार्शनिक रूप से विचार किया जाये तो पता चलता है, कि 'कर्त्तव्य' और 'अकर्त्तव्य' का विवेक ही दर्शन की उत्पत्ति का आधार है, जब मानव के व्यक्तिगत और सामाजिक कर्त्तव्यों का विवेचन किया जाता है, तो ये दार्शनिक विचार भी मन में उठते हैं, कि मानव क्या है? जगत् क्या है? इसका नियन्ता कौन है? जन्म और मृत्यु क्यों होती है? आदि दार्शनिक प्रश्न एक चिन्तक के समक्ष प्रस्तुत हो जाते हैं। इनका समाधान केवल भौतिक रूप से नहीं किया जा सकता। इसके लिए प्रमाणों, शास्त्रों और अध्यात्म विद्या का आश्रय लेना पड़ता है। स्वामी दयानन्द ने यही किया है। समाज-सुधार में भी उन्होंने सत्य को अपने जीवन का लक्ष्य बनाकर जो दार्शनिक मार्ग प्रशस्त किया है, वह उनके निजी दर्शन और मौलिक चिन्तन को प्रस्तुत करता है।

स्वामी दयानन्द केवल समाज-सुधारक ही नहीं है, अपितु वे ऐसे युगप्रवर्तक भी हैं जिनकी व्यापक एवं सूक्ष्म दृष्टि जीवन के अंग-प्रत्यंग पर पड़ी है। वे उन दार्शनिकों में नहीं है जिनके मन्तव्य यथार्थ जीवन का स्पर्श नहीं करते। उनका दर्शन तो यथार्थ जीवन का दर्शन है। इसमें जीवन की समस्याओं का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है, और उनका समाधान भी ढूँढा गया है। यहाँ पारमार्थिक सत्य और व्यावहारिक सत्य में भेद नहीं, कथनी और करनी का अन्तर नहीं। जो है वह प्राचीन से सम्बन्ध रखता है। महर्षि दयानन्द ने एक प्रसंग में कहा है– "यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धमस्ति तत्तदेव ग्राह्यम्"[१] जो आवश्यक और युक्ति सिद्ध हो, वही ग्रहण करना चाहिए अन्य नहीं, उनके दर्शन में यही तथ्य सर्वथा झलकता है।

दयानन्द के ग्रन्थों में विशेषकर भारत के मनीषियों के दर्शन सम्बन्धी मन्तव्य ही प्रस्तुत किये गए हैं। अतः यहाँ उनके सन्दर्भ में ही दयानन्द के दार्शनिक मन्तव्यों का विवेचन करना अभीष्ट है। पाश्चात्य दार्शनिकों के सन्दर्भ में भी कई बार उनके दार्शनिक मन्तव्यों का विवेचन किया जा चुका है। जो महानुभाव पाश्चात्य दर्शन के सम्बन्ध में

---

१. ऋग्वेद पृ० ३३०

ऋषि के मन्तव्यों का अनुशीलन करने के अभिलाषी हैं वे उन ग्रन्थों का अध्ययन कर सकते हैं। हाँ, वहाँ उन्हें ऋषि के मन्तव्य पाश्चात्य एवं भारतीय दर्शन के मन्तव्यों के बीच में मिलेंगे, जिन्हें ढूँढ़ने में कठिनाई हो सकती है। अनेकानेक विचारों के विस्तार में उनको स्पष्ट रूप से जानना साधारण जनों के लिए ही नहीं, विद्वज्जनों के लिए भी प्रयत्न-साध्य ही है।

स्वामी दयानन्द ने जिन विवेच्य विषयों पर अपने दार्शनिक विचार व्यक्त किये हैं, उनको प्रमुखता से पाँच भागों में विभक्त करके विवेचित किया जा सकता है। प्रथम 'ज्ञान-मीमांसा' है। 'ज्ञान-मीमांसा' में 'ज्ञान का स्वरूप', 'ज्ञाता' और 'ज्ञेय', 'ज्ञान की प्रक्रिया', 'ज्ञान के साधन', 'यथार्थ ज्ञान की परीक्षा के रूप में अष्टप्रमाण', 'मिथ्याज्ञान का निराकरण' और 'यथार्थ ज्ञान के मण्डन' को लिया जा सकता है। दूसरा विवेच्य विषय 'प्रकृति' है। 'प्रकृति' को लेकर विविध दार्शनिकों ने अनेकों विचार व्यक्त किये हैं। कुछ दार्शनिकों ने जगत् के स्वरूप को मिथ्या और क्षणभंगुर माना है। स्वामी जी का विचार है, कि जगत् न तो मिथ्या ही है, और न क्षणभंगुर ही। वह नित्य नहीं है। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में प्रकृति उपादान कारण है।

तृतीय विवेच्य विषय 'जीवात्मा' है। 'जीवात्मा' के स्वरूप का अनेक दार्शनिकों ने अपने दृष्टिकोण से वर्णन किया है। उनकी संख्या के विषय में भी मतभेद है। 'शंकराचार्य' और अन्य 'वेदान्तियों' ने तो जीवात्मा को ब्रह्म का ही अंश माना है, और एकता में अनेकता का प्रतिपादन किया है, किन्तु स्वामी दयानन्द के अनुसार 'जीवात्मा' इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख आदि स्वरूप, अनन्त, कर्म करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में परतन्त्र अर्थात् ईश्वर के अधीन है। इसके साथ ही उसके शरीर का पुनर्जन्म और मृत्यु भी होती है। उसका बन्धन और मोक्ष भी होता है। वह ईश्वर और प्रकृति से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।

दर्शन का चतुर्थ विषय 'ईश्वर' के स्वरूप का विवेचन करना है। स्वामी दयानन्द के अनुसार 'ईश्वर'- 'ब्रह्म'- 'परमात्मा' एक ही है। 'ईश्वर' की सिद्धि में उन्होने कई प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। 'ईश्वर' सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कर्ता है। निष्काम-भाव से क्रीड़ावत् सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करना उसका स्वभाव है तथा वह सृष्टि का निमित्त कारण है। 'वेदान्तियों' और 'बौद्ध' लोगों की उलझी हुई विचारधारा की अपेक्षा ईश्वर के विषय में स्वामी जी का विवेचन बहुत स्पष्ट है।

दयानन्द के दर्शन पर यदि समग्र रूप से दृष्टि डाली जाये तो यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि उनका चिन्तन जीवन में यथार्थ से जुड़ा है। जीवन और जगत् के प्रति उनका

दृष्टिकोण कल्याणात्मक है। वे सत्य के द्वारा सामाजिक जीवन में सुधार चाहते हैं और पारमार्थिक सुख का मार्ग प्रशस्त करते हैं। उनके अनुसार जीवन का लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। पुरुषार्थ चतुष्टय को वे आवश्यक समझते हैं। सांसारिक भोगों पर वे संयम को भी आवश्यक मानते हैं। वेदों के अनुरूप वें जगत् को सुख-दुःखमय मानते हैं। 'ज्ञान', 'विज्ञान', 'कर्म' और 'उपासना' के द्वारा वे पारमार्थिक सुख 'मोक्ष' की प्राप्ति सम्भव मानते हैं। अपनी सम्पूर्ण विचारधारा को उन्होंने सक्रिय रूप में अपने ऊपर ढालकर अपने आपको एक उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। ऐसे कर्मयोगी पुरुष सौभाग्य से ही कभी-कभी जन्म लेकर जनता के लिए प्रेरणा दायक सिद्ध हुआ करते हैं। उनका यह योगदान आज की मानव जाति के लिए सबसे बड़ी उपलब्धि है।

ऊपर के इस विवेचन में 'दयानन्द-दर्शन' की अवधारणा को संक्षिप्त किन्तु विशद रूप में प्रस्तुत करने का एक अल्प प्रयास किया गया है। इस पर विस्तृत एवं व्यापक रूप से विवेचन करने का अवसर अग्रिम अध्यायों में प्राप्त हो सकेगा। स्वामी दयानन्द एक ऐसे महापुरुष थे, जिनकी दार्शनिक विचारधारा का प्रभाव वर्तमान जनमानस पर व्यापक रूप से पड़ा है। विश्व के अनेक देशों में उनके बहुत से अनुयायी पाये जाते हैं। बहुत से 'मुस्लिम' और 'ईसाई' जैसे अन्य सम्प्रदाय के लोगों ने उनके दार्शनिक-विचारों को स्वीकार किया है।

स्वामी दयानन्द के प्रयत्नों से उनकी विचारधारा के अनुकूल 'मुम्बई' एव 'लाहौर' में 'आर्य-समाजों' की स्थापना से उनकी विचारधारा का व्यापक प्रचार और प्रसार हुआ। सहस्रों की संख्या में शिक्षण संस्थान खुले। निःसन्देह वे एक ऐसे उच्चकोटि के महामानव थे जिन्होंने दुःखी मानव जाति को सुख और सत्य की राह दिखलायी। 'गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, 'हरिद्वार' गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर (हरिद्वार) 'दयानन्द महाविद्यालय, लाहौर' 'दयानन्द महाविद्यालय, अजमेर' और 'गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन' जैसे संस्थानों ने उनके बहुत से योग्य शिष्य उत्पन्न किये, जिन्होंने चतुर्दिक् उनकी विचार-धारा का प्रचार किया। आलोच्य कवि मेधाव्रत जी भी उन्हीं शिष्य परम्परा में से एक रहे हैं। 'दयानन्द-दर्शन' का उनके जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। उन्होंने स्वामी दयानन्द की दार्शनिक विचारधारा के प्रचार और प्रसार के लिए अपना समग्र जीवन समर्पित कर दिया है। आज जब कि समाज में चारों ओर अनुशासनहीनता, अराजकता और उच्छृंखलता आ चुकी है और वैदिक संस्कृति के जिन अंकुरों का आरोपण महर्षि दयानन्द ने मानव जाति के लिए किया था, वे पल्लवित और पोषित नहीं हो पा रहे हैं, इस आलस्य और प्रमाद के कारण समाज के

टूटने का भय आज उपस्थित हो चुका है। समाज में संस्कार हीनता की स्थिति उत्पन्न हो चुकी है। आज के मनुष्यों में पाश्विक प्रवृत्तियों की बहुलता बढ़ती जा रही है। समाज को सन्मार्ग दिखाने वाले अच्छे कर्मयोगी जहाँ आज बहुत अल्प अवशिष्ट रह गये हैं, वहाँ यह आवशयकता आ पड़ी है, कि स्वामी दयानन्दकी विचारधारा का सम्यक् रूप से पल्लवन और पोषण किया जाये, तो समाज में अपेक्षित सुधार किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त समाज-सुधार का कोई अन्य उपाय दिखालायी नहीं पड़ रहा है। अतः आवश्यकता इस बात की है, कि स्वामी दयानन्द की विचारधारा का पुनः अवलम्बन करके उसके वास्तविक स्वरूप को जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जाये। इस कड़ी में उन विद्वानों के जीवन और कृतियों पर भी शोध एवं अध्ययन किया जाना अपेक्षित है, जो स्वामी दयानन्द की विचार-धारा से अनुप्राणित रहे हैं।

इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक अल्प प्रयास उक्त शोध प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है यह प्रयास सज्जनों के मन को अवश्य आनन्दित करेगा।

आचार्य मेधाव्रत एक परिचय

आचार्य मेधाव्रत जी के माता-पिता व्यापार के लिए 'गुजरात' राज्य छोड़कर महाराष्ट्र के 'नासिक' जिले के 'येवला' नामक नगर में जा बसे थे। मेधाव्रत जी के पिता का नाम 'श्री जगजीवन' तथा माता का नाम 'श्रीमती सरस्वती देवी' था। आपका परिवार सनातन धर्मी था। आपका जन्म ७ जनवरी १८९३ ई० में हुआ। आपके पिता मध्यम श्रेणी के सामान्य गृहस्थ थे। अतः आपकी प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय पाठशाला में हुई। इसी बीच महाराष्ट्र में आर्य-समाज के प्रचार और प्रसार का कार्य चरम प्रसिद्धि पर था। आपके पिता ने स्वामी दयानन्द रचित 'सत्यार्थ-प्रकाश' पढ़ा था, जिससे आपकी विचारधारा पर आर्य-समाज का प्रभाव पड़ा। आपने अपने घर उस समय के तेजस्वी आर्य विद्वानों स्वर्गीय स्वामी नित्यानन्द जी और स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी को 'येवला' बुलाया तथा वहाँ आपने आर्य-समाज की स्थापना की। प्रतिवर्ष अनेकों विद्वान् 'येवला' जाया करते थे। आर्य-समाज की शिक्षाओं से श्री जगजीवन जी के मस्तिक में इतना परिवर्तन हो गया था कि आपने अपनी सुपुत्री जानकी देवी का विवाह 'मथुरा' में जाकर 'पं० शंकरदेव जी पाठक काव्यतीर्थ' से कर दिया। ऐसा करके आपने जाति-बन्धन तोड़ने का एक आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किया।

बालक मेधाव्रत जी बाल्य काल से ही बड़े कुशाग्र बुद्धि थे। तेरह वर्ष की अवस्था में मेधाव्रत जी ने मराठी की फाईनल और अंग्रेजी की पाँचवीं कक्षा सफलतापूर्वक

उत्तीर्ण कर ली थी। आपके पिताजी ने आपको और छोटे भाई दोनों को उत्तर प्रदेश के 'फर्रुखाबाद' गुरुकुल में संस्कृत भाषा के अध्ययन के लिए प्रवेश दिला दिया। यहाँ आपका सानिध्य 'पं० मुरारी लाल जी,' 'पं० भगवान दीन' और 'पं० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ' से रहा। इस बीच 'मुरसान' रिसायत के 'राजा महेन्द्र प्रताप' (भारत की प्रथम निर्वासित सरकार जो काबुल में १९१५ में बनी थी के प्रथम राष्ट्रपति) ने 'वृन्दावन' में गुरुकुल की स्थापना की। मेधाव्रत जी 'फर्रुखाबाद' से 'वृन्दावन' गुरुकुल चले आये। गुरुकुल में रहकर आपने महाभाष्य पर्यन्त व्याकरण साहित्य के अनेकों लक्षण-ग्रन्थ, काव्य, नाटक, चम्पू, भाण, मुक्तक, छन्द, अलंकार, रस, उपनिषद्-रहस्य तथा निरुक्त, निघण्टु एवं मीमांसा सहित दर्शन आदि ग्रन्थों का गुरुमुख से तथा स्वयं अध्ययन किया। इसीलिए गुरुकुल 'वृन्दावन' के पुस्तकालय में सम्भवतया ही कोई संस्कृत-साहित्य का ग्रन्थ रह गया हो, जो आपकी दृष्टि से बच गया हो।

मेधाव्रत जी को साहित्य, संगीत और कला से बड़ा लगाव था। वे बचपन से ही कविता रचने लगे थे। परिषदों में समस्यापूर्ति में आप सबसे वाजी मार ले जाते थे। आर्य-समाज के विद्वान् संन्यासी 'स्वामी अच्युतानन्द' जी ने ऐसी ही एक परिषद् में आपकी कविता पर मन्त्रमुग्ध होकर आपको 'स्वर्ण पदक' प्रदान किया था। संगीत की एक पुस्तक 'दिव्य-संगीतामृत' की रचना भी आपने की थी। 'वृन्दावन' में अध्ययन करते हुए आपको दिग्गज विद्वानों से अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इसी गुरुकुल में उन दिनों दर्शनों के दिग्गज महारथी 'पं० कृष्णानन्द', 'स्वामी हरप्रसाद वैदिक मुनि', व्याकरण के महाधुरन्धर विद्वान् 'पं० देवदत्त', 'महात्मा नारायण प्रसाद', 'पं० भगवान् दीन' और 'पं० तुलसी राम' जैसे विद्वान् विराजमान थे। इन बहुश्रुत विद्वानों की संगति से उस समय 'पं० धर्मेन्द्र नाथ' 'द्विजेन्द्रनाथ' 'बृहस्पति', मेधाव्रत और 'रुद्रदेव' जैसे सुयोग्य विद्वान् 'वृन्दावन' से निकलते थे।

'छन्द शास्त्र' और 'संस्कृत-शब्द-समूह' पर आपकी असाधारण पकड़ थी। उन दिनों 'प्रयाग' से 'शारदा' नामक संस्कृत की एक मासिक पत्रिका साहित्याचार्य 'पं० चन्द्रशेखर शास्त्री' के सम्पादकत्व में निकलती थी। संस्कृत के बड़े धुरन्धर विद्वानों के लेख, कविताएँ, तथा सामयिक टिप्पणियां इस पत्रिका में प्रकाशित हुआ करती थी। इसी में मेधाव्रत जी की कविता भी प्रकाशित होती रहती थी। 'गुरुकुल' में रहते हुए आपने 'प्रकृतिसौन्दर्यम्' और 'ब्रह्मचर्यशतकम्' ये दो रचनाएं लिखीं, जो गुरुकुल की विद्यापरिषद् ने प्रकाशित की थी। इसी बीच आप रुग्ण हो गये और आपको अपने घर

'येवला' जाना पड़ा। कुछ दिनों में यहाँ स्वस्थ हो जाने के पश्चात् आपका विवाह 'चन्द्रप्रभा देवी' से हुआ। आपकी सहधर्मिणी ने सदैव आपको पूर्ण सहयोग दिया। 'पं० मेधाव्रत' जी अपना 'कुमुदिनीचन्द्र' उपन्यास धनाभाव के कारण प्रकाशित नहीं करा पाये थे। वह बीच में अधूरा रह गया था। आपकी पत्नी 'श्रीमती चन्द्रप्रभा देवी' ने अपने स्वर्णाभूषणों को पति के हाथों में देकर इसे प्रकाशित कराया। दुर्भाग्य से आपका दाम्पत्य जीवन अधिक दिनों तक सुख से नहीं चल सका तथा आठ वर्ष पश्चात् आपकी धर्मपत्नी स्वर्गवासिनी हो गयी।

कुछ दिन पश्चात् आपको 'कोल्हापुर' के वैदिक विद्यालय में आर्य-समाज के वातावरण के अनुसार अध्यक्ष का पद अर्पित किया गया। इसी बीच युद्ध-ज्वर (इन्फ्ल्यूएंजा) के कारण लाखों लोगों की मृत्यु हुई तथा इस ज्वर के कारण आपको भी 'कोल्हापुर' छोड़कर 'येवला' आना पड़ा।

अब आपकी इच्छा स्वतन्त्र रीति से साहित्य-सेवा करने की थी। आपने पं० अम्बिकादत्त व्यास रचित 'शिवराजविजयम्' उपन्यास से भी बढ़कर 'कुमुदिनीचन्द्र' नामक उपन्यास लिखा। इससे विविध भावों के परस्पर संघर्ष, वनों, नदियों, पुलिनों, गुफाओं, संध्याओं और दुर्गों आदि का बहुत ही परिष्कृत भाषा में सजीव चित्रण किया है। इसके पश्चात् कविरत्न जी ने 'दयानन्दलहरी' नामक रचना लिखी। इस खण्डकाव्य में 'भक्तिरस' की निर्मल-धारा बहती है। 'दयानन्दलहरी' चेतन देवता महर्षि दयानन्द की यशोगाथा का श्रवण कराती है। दयानन्द ने मानव समाज के सुधार के लिए इतना बड़ा त्याग किया कि—पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा तथा समाधि के सुख तक को छोड़ दिया। आपने जब 'दयानन्दलहरी' की रचना की उस समय आपकी पत्नी और चार मास का कोमल शिशु दोनों ही परलोक सिधार चुके थे। ऐसी करुण स्थिति में आपका संसार बिगड़ चुकने पर भी आपने जो काव्य-सन्तति की सृष्टि की वह सदा अमर रहेगी।

आप कभी-कभी हिन्दी में रचना और लेख भी लिखते रहे हैं। 'ज्योति' पत्रिका में आपने 'रुक्मिणीहरण' नामक एक सुन्दर गुजराती नाटक का अनुवाद करके प्रकाशित कराया था। इसके पश्चात् हिमालय के सौन्दर्य का आँखों देखा वर्णन आपने 'गिरिराज-गौरव' नामक पुस्तक में किया है। १९२२ ई० में आप 'सूरत' में 'नेशनल कालेज' में प्रोफेसर नियुक्त किये गए। आपके सभी विद्यार्थी आपके अध्यापन से अत्यन्त संतुष्ट रहते थे। १९२६ ई० में स्त्री समाज में शिक्षा और प्रचार के उद्देश्य से आप 'इटौला'

कन्या गुरुकुल चले आये। 'नेशनल कालेज' छोड़ते समय आपको संस्था की ओर से एक मानपत्र दिया गया था। विद्यार्थी तथा अध्यापकों ने आपके सम्मानार्थ 'प्रीति समारोह' का आयोजन किया था। आपके 'मान-पत्र' और समारोह का वर्णन 'सूरत' के 'देशबन्धु' नामक समाचार पत्र में छपा था। आपने 'इटौला' आकर कन्या महाविद्यालय का 'आचार्य' पद संभाल लिया। १९२९ ई० में यह विद्यालय 'बड़ौदा' आ गया और इसका नाम 'आर्य कन्या महाविद्यालय बड़ौदा' हो गया। यहाँ बारह वर्षों तक आप व्याकरण, दर्शन और साहित्य का अध्यापन बालिकाओं को कराते रहे। 'इटौला' में रहते हुए आपने 'स्वामी धर्मानन्द जी' की प्रेरणा से पुनर्विवाह किया था। यह सम्बन्ध भी अधिक समय तक नहीं चला। इससे आपकी सम्पत्ति का भी ह्रास हुआ और आपको मानसिक कष्ट भी उठाना पड़ा। आप पुनः 'येवला' लौट आये तथा यहाँ आपने एक सुन्दर कुटिया बनवा ली थी। किन्तु 'आर्य कन्या महाविद्यालय बड़ौदा' के वार्षिक उत्सव में आग्रह के कारण आपको पुनः जाना पड़ा। कुछ दिन आप इस संस्था में बने रहे। इस संस्था की ओर से दीवान बहादुर 'हरिविलास शारदा' के सभापतित्व में उनके ही कर-कमलों द्वारा एक 'मान-पत्र' समर्पित किया गया। इसके पश्चात् भी आप साहित्य-साधना में रत रहे। १९३४ ई० 'बड़ौदा ऑरियन्टल कॉन्फ्रेंस' में 'प्राच्य-विद्या विशेषज्ञ' स्व० काशी प्रसाद जायसवाल, जो इस सभा के सभापति थे, के अभिनन्दन में आपने सभा के मध्य ही तत्क्षण भावपूर्ण दो सुन्दर श्लोक रच कर सुना डाले, जिनके लिए आपकी बड़ी प्रशंसा की गयी।

१९३४ ई० में 'येवला' के समीप 'नान्दूर' ग्राम में आपके द्वारा निर्मित 'नित्यानन्द निवास' में आप रहने लगे। यहाँ आप योगाभ्यास करते रहते थे। पोठोहार गुरुकुल के आचार्य श्री मुक्तिराम उपाध्याय ने आपके पास योग सीखते हुए कुछ समय बिताया। इसके पश्चात् आप अनेक नगरों में आर्य-समाज के प्रचार-प्रसार में लगे रहे। इसी बीच आपने 'दयानन्द दिग्विजयम्' नामक महाकाव्य लिखा। एक बार 'वृन्दावन' गुरुकुल महाविद्यालय के वार्षिकोत्सव पर आपने 'सरस्वती-सम्मेलन' और 'कवि-सम्मेलन' का अध्यक्ष पद भी अलंकृत किया। 'गुरुकुल झज्जर, हरियाणा' में भी आप छात्रों को अनेक ग्रन्थ पढ़ाते रहे हैं। इसके पश्चात् आप 'कन्या गुरुकुल महा विद्यालय, नरेला' में आचार्य पद पर आसीन हुए। आपने पचीस से भी अधिक ग्रन्थों की रचना की है। तथा अपने जीवन का अन्तिम काल 'कन्या गुरुकुल नरेला' में ही बिताया। दक्षिण में अपनी जन्म भूमि 'येवला' नगर में नवम्बर मास की २१ वीं तिथि को १९६४ ई० में आपने अपना भौतिक शरीर त्याग दिया।

पं० मेधाव्रत जी बचपन से ही आर्य-समाज की विचारधारा से अनुप्राणित होकर काव्य-रचना करने लगे थे। बड़ी तन्मयता के साथ वे यावज्जीवन आर्य-समाज के सिद्धान्तों के अनुकूल साहित्य सृजन में लगे रहे। उनकी ख्याति के लिए 'दयानन्द-दिग्विजयम्' जैसा एक महाकाव्य ही पर्याप्त है। उन्होंने जिस परिष्कृत रूप में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं, उनसे उनके पाण्डित्य, वाक्चातुर्य, गहन दार्शनिक चिन्तन तथा आध्यात्मिक अध्ययन को समझा जा सकता है।

भारत में आर्य-समाज के अनेक शिक्षा-संस्थाओं, विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों ने असंख्य वैदिक विद्वानों को उत्पन्न किया है। विद्वानों की इसी परम्परा में 'कविरत्न श्री मेधाव्रत जी' को भी गिना जा सकता है। 'फर्रुखाबाद' और 'वृन्दावन' के गुरुकुलों में प्रारम्भिक अध्ययन से लेकर 'येवला', 'इटौला', 'झज्जर', 'बड़ौदा', 'चित्तौड़गढ़' और 'नरेला' के विद्यालयों में 'दयानन्द-दर्शन' की छाप उनके जीवन पर और अधिक गहरी पड़ती चली गयी। श्री मेधाव्रत जी को दयानन्द का सच्चा अनुयायी कहा जा सकता है। गृहस्थ के कष्टों और धनाभाव की उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की। उन्होंने दयानन्द के विचारों के प्रचार-प्रसार में तन, मन और धन अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। अपने जीवन की सांध्य-बेला में उन्होंने 'दयानन्द-दिग्विजयम्' नामक एक ऐसा अनुपम महाकाव्य रूपी रत्न संसार के समक्ष प्रस्तुत किया जिसे 'दयानन्द-दर्शन' का उज्ज्वल दर्पण कहा जा सकता है। 'दयानन्द-दर्शन' के इस पथ से वे अनेक पारिवारिक, सामाजिक तथा आर्थिक कष्ट निरन्तर सहकर भी पृथक् नहीं हुए। संसार में ऐसे सच्चे अनुयायी एवं सिद्ध तपस्वी अल्प ही होते हैं। 'दयानन्द दर्शन' की विस्तृत एवं विशद विचारधारा को उनकी समस्त काव्य रचनाओं में देखा जा सकता है। बचपन में 'दयानन्द-दर्शन' के बीज से विकसित अंकुर उनके 'ब्रह्मचर्यमहत्त्वम्' ग्रन्थ से पोषित होते-होते 'दयानन्द-दिग्विजयम्' महा-काव्य तक वटवृक्ष बन गये।

दयानन्द-दर्शन की विचारधारा में आकण्ठ निमग्न ऐसे भव्य व्यक्तित्व का यदि अभिनन्दन और स्वागत न किया जाये तो बात अधूरी रह जाती है। उनकी विचारधारा सहृदय युवक को उद्वेलित करती है, और अन्तःकरण में संवेदना जगाकर उत्कृष्ट सदाचार की ओर निरन्तर बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करती है। ऐसे सदाशय महापुरुष के काव्यों का अध्ययन 'दयानन्द-दर्शन' की विचारधारा के सापेक्ष तुलनात्मक रूप से करना उचित एवं आवश्यक प्रतीत होता है। अज्ञान के अंधेरे में आकण्ठ डूबे आज के नवयुवकों के लिए उनके विचार सन्मार्ग के प्रेरक हैं। 'दयानन्द-दर्शन' से प्रभावित

उनके विचारों का सम्यक् आलोडन उनके ग्रन्थों के विधिवत् अध्ययन से ही हो सकता है। अतः इस दृष्टि से उनके ग्रन्थों का विशद विवेचन किया जाना अपेक्षित है। आगे इसी सम्बन्ध में उनकी रचनाओं पर विचार किया जा रहा है।

आचार्य मेधाव्रत एवं उनकी रचनाएँ– आचार्य मेधाव्रत जी की उपलब्ध रचनाएँ इस प्रकार हैं—

शतकीय रचनाएँ– 'कविरत्न मेधाव्रत' जी ने शतकों की शृंखला में अनेक शतात्मक काव्यों का प्रणयन किया है। शतकों की कोटि में 'ब्रह्मचर्यशतकम्', 'गुरुकुलशतकम्' तथा 'ब्रह्मचर्यमहत्त्वम्' ग्रन्थों का दिग्दर्शन होता है। इन शतकों के अध्ययन से ''यथा नाम तथा गुणाः'' की लोकोक्ति यथार्थरूप से चरितार्थ होती है। यद्यपि ब्रह्मचर्य एवं गुरुकुल शिक्षा से सम्बन्धित विचारधाराओं से ओतप्रोत अन्य लेखकों द्वारा भी कई पुस्तकें रचित हैं, तथापि मानवमात्र के लिए जीवन-निर्माण की आधारशिला पर उन ग्रन्थों में प्रचुर मात्रा में सामग्री उपलब्ध नहीं होती है। 'आचार्य मेधाव्रत जी' की शतकीय रचनाओं एवं महर्षि दयानन्द की विचार-धाराओं में एकरूपता दृष्टिगोचर होती है यथा 'ब्रह्मचर्यमहत्त्वम्' के कुछ श्लोक द्रष्टव्य हैं—

ब्रह्मणा संप्रणीतानां छन्दसां भावमाहरन्।
छन्दोभिर्विविधैर्वक्ष्ये लौकिकैरप्यलौकिकम्॥

कुमारीणां कुमाराणां काव्यं कल्याणकारकम्।
ब्रह्मचर्यमहत्त्वाख्यं ब्रह्मचारिनिदर्शनम्॥२॥ [१]

यही वर्णन 'अथर्ववेद' के ग्यारहवें काण्ड के पंचम सूक्त के मन्त्रों में है, जो कि 'ब्रह्मचर्य सूक्त' के नाम से है। इन अलौकिक भावों को ग्रहण करके आचार्य मेधाव्रत जी ने कुमार और कुमारियों के हितार्थ ''ब्रह्मचर्यमहत्त्वम्'', एवं 'गुरुकुलशतकम्' आदि काव्यों का प्रणयन किया है।

मेधाव्रत जी ने स्वयं गुरुकुलीय व्यवस्था एवं ब्रह्मचर्य अवस्था के अन्तर्गत रहने के कारण (क्योंकि उनका जीवन इन दोनों स्थितियों से अनभिज्ञ नहीं था) युवाओं को उचित मार्गदर्शन देने के लिए और उनको भयंकर हानिकारक बातों से बचने का निर्देश तथा उन्हें बुरे भावों के स्वभाव से ग्रसे जाने की आशंका के कारण 'कविरत्न' ने 'अथर्ववेद' में अभूतपूर्व वर्णित वेद मन्त्रों के सार को अपने इस काव्यात्मक शतकीय

---

१. ब्रह्मचर्यमहत्त्वम् (कविर त्न मेधाव्रत) श्लोक– २, पृ० ३

संग्रहों में विभूषित किया है, जो संग्रह विश्लेषणात्मक विस्तृत व्याख्या से ओत-प्रोत हैं।

इसका प्रणयन ६० वर्ष की परिपक्व अवस्था में समुज्ज्वल भावों से परिपूर्ण होकर आदित्य ब्रह्मचारी 'स्वामी व्रतानन्द' जी द्वारा स्थापित गुरुकुल चित्तौडगढ़ की पवित्र भूमि में ही प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त में योगाभ्यास जन्य, निर्मल बुद्धि से युक्तिसंगत होकर किया है। आपने 'ब्रह्मचर्य' की महिमा के साथ-साथ मानवगुणों के ज्ञान की पराकाष्ठा, तथा गुरुकुलीय जीवन की वास्तविकता को भी हृदयोल्लसित दृष्टान्तों से भी सुसज्जित किया है।

महर्षि दयानन्द एवं 'कविरत्न मेधाव्रत' जी के मन्तव्यों को देखने से स्पष्टतया प्रतीत होता है, कि कविरत्न की विचारधारा का उपजीव्य महर्षि दयानन्द की दार्शनिक विचारधारा है।

ब्रह्मचर्यशतकम्- यह रचना 'कविरत्न मेधाव्रत' जी की जीवनोपयोगी रचना है। गुरुकुलीय जीवन के साथ-साथ ब्रह्मचर्य की महत्ता और आवश्यकता भी अपरिहार्य है, जो ब्रह्मचारियों को संयमित तथा व्यवस्थित रूप में जीवन को जीने की प्रेरणा प्रदान करता है। उक्त काव्य में 'ब्रह्मचर्य' सम्बन्धी विषयों को आचार्य प्रवर ने सरलतापूर्वक एवं प्रमाणयुक्त ढंग से तथा महर्षि दयानन्द के मन्तव्यों के अनुकूल विरचित किया है।

प्रस्तुत शतक में 'कविरत्न मेधाव्रत'जी ने विभिन्न छन्दों और अलंकारों के साथ अत्यन्त सरल ढंग से पद्यों में विभूषित करके ब्रह्मचर्य की महिमा को उत्कृष्टतापूर्वक वर्णित किया है। ब्रह्मचर्य पूर्वक रहना जीवन की वास्तविक आवश्यकता है। इस विषय पर इस पद्य रचना में 'कविरत्न मेधाव्रत' जी और महर्षि दयानन्द जी के मन्तव्य एक हैं। ये अनेक आर्यजनों के हृदय का आभूषण हैं। 'कविरत्न मेधाव्रत' जी ने इस काव्य और 'ब्रह्मचर्यमहत्त्वम्' की रचना करके ब्रह्मचर्य सम्बन्धी महर्षि दयानन्द की विचारधारा को पुनर्जीवित किया है।

गुरुकुलशतकम्- 'गुरुकुलशतकम्' संस्कृत पद्यकाव्य का प्रणयन महाकवि 'मेधाव्रताचार्य' जी ने सन् १९५८ ई० में किया। उन्होंने अपना समस्त जीवन संस्कृत-साहित्य-भण्डार को उत्तम काव्यों की रचना करके समृद्ध तथा परिपूर्ण करने में व्यतीत किया है। वे अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक माँ सरस्वती का आराधन करते रहे। गुरुकुल संस्थाओं में ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मचारिणियों को पढ़ाने योग्य अनश्लील

संस्कृत-साहित्य की जो न्यूनता थी उसे आपने 'गुरुकुलशतकम्' आदि काव्य रचकर पूर्ण किया।

प्रस्तुत रचना 'गुरुकुलशतकम्' में आपने गुरुकुल के गुण कीर्तन के साथ-साथ ब्रह्मचारियों की दिनचर्या 'वसिष्ठ', 'कण्व' और 'अगस्त्य' प्रभृति ऋषियों के आश्रमों का नयनाभिराम व श्रुति मनोहर रूप में विशद वर्णन किया है, जो देखते ही बनता है। इसके अतिरिक्त महर्षि दयानन्द का प्रादुर्भाव, गुरुकुलों के प्रचार, उनके कार्य, वर्तमान दशा व पाठ-विधि आदि विषयों को भी स्पष्टता के साथ वर्णित किया है।

इस शतक को 'कविरत्न जी' ने ११६ पद्यों में रचा है, जिनमें क्रमशः ईश वन्दना, गुरुकुल निर्माण के प्रयोजन, आचार्य का लक्षण, आदर्श गुरुकुल निर्माण के योग्य स्थान, अध्यापकों के लक्षण और उनके कर्त्तव्य, ब्रह्मचारियों की दिनचर्या, प्राचीन काल में गुरुकुल, वसिष्ठाश्रम-वर्णन, कण्वाश्रम वर्णन, अगस्त्य चरित, अगस्त्याश्रम वर्णन, महर्षि दयानन्द का प्रादुर्भाव और गुरुकुलों का प्रचार तथा कार्य, गुरुकुलों की वर्तमान दशा, गुरुकुल हितचिन्तकों से महाकवि की प्रार्थना तथा काव्य-निर्माण के स्थान का वर्णन विशदता से किया है।

'कविरत्न' जी ने काव्य को अधिक ग्राह्य बनाने के लिए पद्य रचना में द्रुतविलम्बित, रथोद्धता, उपेन्द्रवज्रा, मालिनी, इन्द्रवज्रा, मालिनी, वसन्ततिलका, अनुष्टुप, वंशस्थ, उपजाति एवं मन्दाक्रान्ता आदि छन्दों को विद्वत्तापूर्वक प्रयुक्त किया है। गुरुकुलीय शैक्षिक और व्यवस्थित पद्धति का उक्त काव्य में विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है, जो महर्षि दयानन्द की आर्ष पद्धति को पुष्ट करता है।

नाटक-नाटकों की श्रृंखला में 'कविरत्न' जी की दो कृतियाँ प्राप्त होती हैं। इनमें से 'प्रकृतिसौन्दर्यम्' संस्कृत नाटक और 'रुक्मिणीहरण' हिन्दी नाटक है। उन्होंने अपने बुद्धि-कौशल का परिचय इन रचनाओं के प्रस्तुति करण एवं काव्य शैली के रूप में दिया है।

प्रकृतिसौन्दर्यम्-जिन दिनों कविरत्न मेधाव्रत जी गुरुकुल की 'अष्टम' श्रेणी में पढ़ रहे थे, उन्हीं दिनों उन्होंने इस प्रसिद्ध नाटक की रचना की थी, जो प्रकृति के सौन्दर्य का श्रव्य के साथ-साथ दृश्य रूप भी है। इस रचना में कवि ने अपनी बाल्य सुलभ सरलता से अभिप्रेरित होकर प्रकृति के विविध रूपों, गिरिकन्दराओं, नदी-निर्झरों, सागर-सरोवरों, वनोपवनों, आश्रमों, पशु-पक्षियों, विविध ऋतुओं और नवस्वरूपधारिणी मेघमालाओं, पुष्प-लताओं, सूर्य, चन्द्रमा,ताराग्रह एवं नक्षत्र मण्डलों का आँखों देखा अत्यन्त सुन्दर स्वाभाविक और हृदयग्राही चित्र खींचा है।

उनकी बहती हुई गंगा जल के समान धारावाहिक भाषा, शब्द-लालित्य, वर्णनचातुर्य को देखकर हृदय हर्षातिरेक से तरङ्गित हो उठता है।[१]

यद्यपि पहले काव्य श्रव्यरूप में लिखा गया था, किन्तु पीछे से चारुता लाने के विचार से पात्रों की कल्पना करके दृश्य काव्य का रूप दे दिया गया है। वस्तुतः यह श्रव्य काव्य ही है तथा इसे इसी दृष्टि से अवलोकन करना उपयुक्त होगा क्योंकि नाटक की सरलता, स्वाभाविकता एवं सरसतायुक्त वर्णन प्रत्येक हृदय का अलंकार सा बना प्रतीत होता है। प्रस्तुत नाटक कविरत्न द्वारा छः अंकों में विरचित है तथा इसकी संक्षिप्त कथावस्तु इस प्रकार है—

प्रथम अंक में 'कविरत्न' ने ईश्वर स्तुति, प्रकृति ब्रह्माण्ड की रचना में उपादान कारण सत्त्व, रजस् व तमस्, त्रिगुणात्मिका प्रकृति का स्वाभाविक 'सौन्दर्यीकरण', 'सूर्य का प्रकाश', 'ज्ञान की कान्ति', 'मन-मोहक प्रकृति', 'ईश्वर की सृष्टि-रचना', 'नियम बद्ध सृष्टि', 'दृश्यजगत् की महत्ता', 'प्रकृति की क्रीड़ा', 'हिमालय तथा प्रकृति का सौन्दर्य', 'अखिल ब्रह्माण्ड व पृथिवी की शोभा', 'सरोवरों एवं छः ऋतुओं का वर्णन', 'प्रकृति का शरीर धारण तथा अवगाहन और राजा-मुनि वार्ता' आदि विषय वर्णित हैं।

द्वितीय अंक में सूर्य तथा चन्द्रमा की शोभा, योगी-ब्रह्म-आनन्द, उदयमान सूर्य, बसन्त ऋतु का आगमन, स्वागत, पुष्पों तथा वृक्षों पर पक्षीगणों का कलरव, गंगा की शोभा, सूर्य का अस्ताचल को जाना,[२] उद्दीप्त चन्द्रमा की शोभा, गगन में तारकेश्वर की शोभा और रात्रिकालीन शयन मन्त्रों का युक्ति-युक्त समन्वय अवलोकित होता है।

तृतीय अंक का प्रारम्भ प्रातःकाल हो जाने पर होता है, जिसमें गंगा का पावन तट ग्रीष्म-काल का आगमन वन की शान्ति, सप्तरश्मि किरणें, गंगा के पवित्र जल से पल्लवित प्रकृति, आश्रम की शोभा, पुष्पवाटिका, मयूरों का प्रेम,यज्ञ की सुगन्धि, कुलपति जी की वन्दना, गुरु का वचन और चन्द्रिका की कान्ति आदि प्रकृति-सौन्दर्य के विषय प्रतिपादित है।

चतुर्थ अंक में वर्षा ऋतु का आगमन, आकाश और विद्युत् प्रकृति के रमणीय दृश्य, वायु की शोभा, नदियों की शोभा व उत्कृष्टता, वन भूमि की शोभा,जल कणों की शोभा-सारस पक्षियों का आनन्द, आकाश रूपी रंग भूमि में शोभित इन्द्र धनुष, वृक्षों

१. प्रकृति सौन्दर्यम् (अनुवादक कथन से) पृ० ७

२. प्रकृति सौन्दर्यम् ३.५२-७०

तथा फूलों की शोभा, चन्द्रकला, मेघ व गगन की शोभा का विस्तृत विवेचन है।

पंचम अंक के प्रारम्भ में प्रात:कालीन कान्ति की शोभा, पश्चिम-दिशा, ठण्डी वायु,शरद ऋतु का आगमन, बादलों द्वारा मण्डित आकाश, शरद्ऋतु की स्वच्छता, इन्द्रदेव और जलधर का वर्णन, उत्तर-दिशा का वर्णन और विमान की शोभा वर्णित है।

षष्ठ अंक में राज्याभिषेक की तैयारी, कुलाधिपति का राजधानी में आगमन राजधानी की शोभा, पृथ्वी व प्रकृति का सौन्दर्य, सृष्टि का उपादान कारण, काशी नगरी का सौन्दर्य और प्रकृति की शान्ति सुधा वर्णित है।

आचार्य मेधाव्रत जी वर्णित, प्रकृति सौन्दर्य ऋग्वेद के प्रकृति-सौन्दर्य से साम्य रखता है यथा—

ओ३म् सूर्याचन्द्रमसौ धाता, यथापूर्वकल्पयत्।
दिवञ्च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्व:।। [1]

महर्षि दयानन्द ने 'प्रकृति-सौन्दर्य' के प्रति अपनी स्वतन्त्र विचार-धारा को प्रस्तुत किया है, महर्षि की दार्शनिकता, वेद एवं शास्त्रों से युक्तियुक्त है। स्वामी जी प्रकृति को अनादि तत्त्व स्वीकारते हैं, और सृष्टि को नियमबद्ध क्रम में स्वीकार करते हैं। 'कविरत्न' की यह प्रसिद्ध रचना महर्षि की विचारधारा से पर्याप्त अभिमत है। जिस प्रकार परमात्मा ने सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, लोक-लोकान्तर, तथा वेदों के पवित्र ज्ञान को प्रदत्त किया, उसी प्रकार वर्तमान सृष्टि में प्रकृति के सौन्दर्य को विशुद्ध बुद्धिमत्तापूर्वक रचा है और इसी प्रकार आगे भी बनाता रहेगा।

आचार्य मेधाव्रत एवं महर्षि दयानन्द की प्रकृति के सम्बन्ध में एक समान विचारधारा है,यथा—

सूर्य्याचन्द्रमसौ दिवञ्च पृथिवीं स्वर्योऽन्तरिक्षं यथा
धाता पूर्वमकल्पयत् कविरयं वेदान् यथा निर्ममे।
सृष्ट्यादौ विदधौ तथेह सकलं योऽग्रेअपि निर्मास्यते
पूर्णानन्दचिदात्मने सुकवये तस्मै नमो ब्रह्मणे।। [2]

पूर्व उल्लिखित वेद मन्त्र और 'महर्षि-दयानन्द' का मन्तव्य एक है तथा 'कविरत्न

---

१. ऋग्वेद— १०.१९०.३

२. प्रकृति सौन्दर्यम्— प्रथमो अंक, श्लोक ५.

मेधाव्रत' जी ने इसी विचारधारा को निरूपित किया है। आचार्य मेधाव्रत जी के 'प्रकृति-सौन्दर्यम्' नाटक का अवलोकन एवं श्रव्य और दृश्य रूप देखने से स्पष्ट होता है, कि वे पूर्णत: वैदिक वाङ्मय की विस्तृत विचारधारा के पालक और पोषक हैं तथा महर्षि की और मेधाव्रत जी की दार्शनिकता में एकरूपता है। दोनों के मत में 'प्रकृति' जगत् का उपादान कारण, त्रिगुणात्मक और जड़ तथा अनादि है।[१] इसका अवलोकन करने से ईश्वर के विस्तृत विज्ञान का भी वास्तविक महत्व दृष्टिगत होता है।

काव्य-शैली, वर्ण्यविषय तथा रसग्राह्य होने के कारण काव्य का सौन्दर्य, प्राकृतिक-सौन्दर्य की प्रभावशालीनता में एक रूप सा हो गया प्रतीत होता है। काव्य की महत्ता अज्ञानान्धकार दूर करके, ज्ञानरूपी प्रकाश की किरणों के समान समुदित करती है।

अत: यह 'प्रकृति-सौन्दर्यम्' नाटक स्वामी दयानन्द के दार्शनिक विचारों की ही पुष्टि करता है।

रुक्मिणीहरण- कविरत्न मेधाव्रत जी की यह कृति हिन्दी भाषा में है। उनके ग्रन्थों का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है, कि उनकी यह रचना हिन्दी नाटकों की श्रृंखला में अद्भुत रचना है, जिसमें 'कविरत्न' जी ने अपनी काव्यशैली को हिन्दी में भी रोचक एवं विशद रूप से प्रस्तुत किया है। किन्तु अब यह नाटक अप्राप्य है, जिसका पता उनके ग्रन्थों से चलता है।

कुमुदिनीचन्द्र- आचार्य मेधाव्रत जी द्वारा संस्कृत भाषा में प्रणीत 'कुमुदिनीचन्द्र' नामक एक उपन्यास प्राप्त होता है। इस उपन्यास की विशेषता यह है, कि इसमें भाषा की सरलता, समासों तथा अलंकारों का प्रभावोत्पादक वर्णन एवं समन्वय कथा के मनोहारि-भावों को परिलक्षित करता है।

प्रस्तुत उपन्यास में 'कविरत्न' ने मनोहारी कथा, नीति की कुशलता, नीति का उपदेश, सुन्दर और हृदयग्राही उदाहरण विविध प्रकार के दु:खों से त्राण, कर्त्तव्य की उत्सुकता और काव्य की विशिष्ट कला का अवगाहन कराया है। यह संस्कृत भाषा का सकल गुण गुम्फित उपन्यास है। यह अत्यन्त आनन्द और उत्साह को प्रदान करने वाला है। इस उपन्यास में 'दुर्ग' राज्य के अधीश्वर वीरवर महाराज 'केसर सिंह' जी के पुत्र शूरवीर 'चन्द्रसिंह' प्रधान नायक है तथा मुख्य नायिका 'कुमुदिनी' है। उपनायक— 'श्री रणवीरसिंह' और उपनायिका 'रत्नप्रभा' है। अन्य पात्रों में 'क्रूरसिंह' व योगी जैसे पुरुष विमल प्रकृति वाले हैं।

---

१. प्रकृतिसौन्दर्यम्— पृ० १

इस पर बहुत से विद्वानों ने अपनी सम्मतियाँ प्रदान की हैं। 'श्री न्याय विजय जी न्यायतीर्थ' के अनुसार कविरत्न मेधाव्रत' द्वारा विरचित 'कुमुदिनीचन्द्र' को देखकर यह विश्वास होता है, कि 'कविरत्न' संस्कृत भाषा में निपुण तथा लेखन में प्रौढ़ कवि हैं। 'पं० अमृतलाल त्रिभुवन व्यास' के अनुसार 'पण्डित मेधाव्रत' जी द्वारा विरचित 'कुमुदिनीचन्द्र:' नामक उपन्यास को देखकर मेरा मन परम आनन्द से युक्त हो जाता है। इस काल में इस प्रकार के संस्कृत विज्ञ हैं, यह आदर के योग्य है। पं० 'दामोदर सातवलेकर' के शब्दों में— यह उपन्यास संस्कृत भाषा का है, मैंने इस पुस्तक को प्रथम बार १९२१ में देखा, वास्तव में लेखक ने भाषा का लालित्य, सुख-बोधत्व और सौन्दर्य का अधिकाधिक प्रयोग किया है। जिसे संस्कृत में अपनी प्रगति करनी है उसके लिए इसका अध्ययन आवश्यक है। इसकी भाषा सरल बोधप्रद तथा हृदयंगम है। इसकी भाषा व्यवहार की भाषा सी दीखती है। यह इस उपन्यास की विशेषता है; क्योंकि आचार्य मेधाव्रत एक प्रबुद्ध संस्कृतज्ञ हैं और इन्होंने इसकी आख्यायिकाओं को भाव, रस, स्थल तथा घटनादि के सुन्दर वर्णनों से परिपूर्ण तथा युक्तियुक्त किया है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि इसमें बाण का समस्तपद बाहुल्य तथा दण्डी का अश्लील शृंगार नहीं है; क्योंकि संस्कृत साहित्य में गद्य साहित्य एक तो है ही बहुत कम और जो है भी तो भाषा की दृष्टि से अत्यन्त क्लिष्ट है तथा विचारों की दृष्टि से हीन सा प्रतीत होता है। परन्तु यह उपन्यास संस्कृत गद्य साहित्य का उत्कृष्ट समन्वय है।

इसमें भाषा की सरलता, विषय की उपयोगिता एवं सरसता के साथ-साथ दृष्टि उत्तम होने से ईश्वर, जीवात्मा तथा प्रकृति के विषयों पर भी प्रचुर उदाहरण अलंकार रूप में उपलब्ध हैं।

'कविरत्न' जी ने इस उपन्यास के द्वारा 'शीलं परं भूषणम्' तथा 'परोपकाराय सतां विभूतय:' को पूर्ण रूप से चरितार्थ किया है। इस 'उपन्यास' को 'कविरत्न' ने एक कला से प्रारम्भ करके, षोडशी कला तक निरूपण किया है तथा 'प्रकृति-सौन्दर्य' की इस प्रसिद्ध कारिका को भी 'दयालव: प्राणिषु सौख्यहेतव: समस्त संसार हितं चिकीर्षव:' अपने इस उपन्यास में समुद्धृत किया है।

'कविरत्न' की यह कृति संस्कृत साहित्य की अद्वितीय कृति है, जो आध्यात्मिक और सांसारिक दृष्टिकोण को एक साथ परिलक्षित करती है। भाषा का सरलीकरण तथा सुरुचिपूर्ण पदविन्यास व रसात्मक भाव इस उपन्यास की प्रमुख विशेषता है।

चरित-काव्य– आचार्य मेधाव्रत जी ने नाटक, शतक और उपन्यास कायों के साथ साथ चरित काव्यों का भी सृजन किया है। चरित-काव्यों में उनकी रचनाएँ–'चारुचरितामृतम्' 'ब्रह्मर्षिविरजानन्दचरितम्', 'महात्मचरितम्' 'नारायणस्वामिचरितम्', 'दयानन्दलहरी' तथा 'दिव्यानन्दलहरी' सम्मिलित हैं। सर्वप्रथम आचार्य प्रवर ने 'चारुचरितामृतम्' नामक चरित्र काव्य को दो भागों में विरचित किया है, जिसमें उन्होंने 'गुरुवर विरजानन्द' 'महर्षि दयानन्द', 'पं० गुरुदत्त विद्यार्थी', 'लेखराम', 'महात्मा गाँधी', 'स्वामी श्रद्धानन्द' आदि-आदि मनीषियों के चरित्र को सरलता एवं विशदता से वर्णित किया है। उनकी दूसरी रचना चरितकाव्यों में 'ब्रह्मर्षि विरजानन्दचरितम्' नाम से उपलब्ध होती है।

"**ब्रह्मर्षिविरजानन्दचरितम्**"–'ब्रह्मर्षि विरजानन्दचरितम्' को कविरत्न ने दस सर्गों में रचा है। इस चरित काव्य की प्रमुख विशेषता यह है, कि इसमें व्याकरण के सूर्य, महर्षि दयानन्द के गुरु आदित्य ब्रह्मचारी 'ब्रह्मर्षि विरजानन्द सरस्वती' जी के जीवन पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है।

यद्यपि 'स्वामी विरजानन्द' जी महाराज के जीवन चरित इससे पूर्व भी लिखे गये हैं, तथापि संस्कृत भाषा में पद्य काव्यात्मक इतना ललित और प्रामाणिक जीवन चरित्र इस युग की प्रथम कृति है। कविरत्न की काव्य शैली, वर्णन शैली, उपमा तथा अलंकार आदि इतने उत्तम हैं, कि एक बार पढ़ना प्रारम्भ कर देने पर बिना समाप्त किये छोड़ने की इच्छा नहीं होती है। वास्तव में यह इनकी रचनाओं की मुख्य विशेषताएँ हैं, क्योंकि "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"– रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहते हैं और इनकी रचनाएँ इस काव्य रस से अनुप्राणित हैं।

इस काव्य की रचना आश्विन्– २००९ वैक्रमाब्द में 'श्रीमान् आचार्य भगवानदेव जी' (वर्तमान में स्वामी ओमानन्द जी महाराज) द्वारा संचालित 'गुरुकुल झज्जर' के शान्त, सुरम्य वातावरण में की गयी थी।

प्रस्तुत काव्य की रचना में स्वयं मेधाव्रत जी ने कहा है–

आर्षादर्शसुशिक्षणे गुरुकुले श्री झज्जरे पावने,
शान्तैकान्तनिवासगेहरुचिरे वर्णीन्द्रवृन्दाञ्चिते।
ब्रह्मर्षेविर्मलं चरित्रमतुलं काव्यात्मना गुम्फितं,
सानन्दमयका वर्णीन्द्र भगवद्देवेनसंचालिते।। [१]

---

१. ब्रह्मर्षिविरजानन्दचरितम्, भूमिका– पृ० ४,

अर्थात्– आर्ष पाठ विधि के आदर्श शिक्षण केन्द्र, पवित्र, शान्त, एकान्त सुन्दर-निवास-गृह, ब्रह्मचारियों के समूह से सुशोभित, ब्रह्मचारीन्द्र, भगवान् देव जी द्वारा संचालित श्रीगुरुकुल झज्जर में 'ब्रह्मर्षि विरजानन्द' जी महाराज का विमल और अतुल जीवन चरित मैंने आनन्दपूर्वक काव्य रूप में बनाया।

इस चरित काव्य में दश सर्ग और ४२४ श्लोक हैं, जैसा कि काव्य के अन्त में लिखा है–

"वेदलोचनवेदसम्मितपद्ययुतकाव्यं कृतम्"

उपरिलिखित निर्माण स्थान ज्ञापक श्लोक को मिलाकर सब ४२५ (चार सौ पच्चीस) पद्य इस काव्य में हैं, इसमें क्रमशः 'अनुष्टुप्', 'मालिनी', 'उपजाति', 'शार्दूलविक्रीडित', 'दुतविलम्बित', 'वसन्ततिलका', 'मन्दाक्रान्ता', 'वंशस्थ', 'शिखरिणी', 'शुद्धावराट्', 'प्रणव' ललित अवितथ, पुट, वृन्ता, वर्द्धमान, विद्युन्मालादि छन्दों का सन्निवेश है, काव्य के अन्त में 'ब्रह्मर्षि विरजानन्द' जी महाराज की अलौकिक लीलाओं का भी वर्णन सरलता तथा सुगमता के साथ किया है। यह चरित काव्य संस्कृत-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ पद्यकाव्य कहा जा सकता है।

नारायणस्वामिचरितम्– कविरत्न मेधाव्रत के चरित काव्यों में जहाँ "चारुचरितामृतम्" 'ब्रह्मर्षिविरजानन्दचरितम्' आदि हैं, वहीं उनकी विशद रचना 'नारायणस्वामिचरितम्' नामक एक लघु आकार का महाकाव्य भी उपलब्ध है। पूज्य नारायण स्वामी जी का संस्कृत भाषा में कोई 'चरित काव्य' नहीं था, किन्तु मेधाव्रताचार्य जी ने सन् १९४१ में 'हैदराबाद में सत्याग्रह पर्यन्त', 'नारायणस्वामिचरितम्' काव्य २५० पद्यों में रचकर 'पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय' के मन्त्रित्व में सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा को प्रकाशनार्थ दिया था। सन् १९४७ में स्वामी जी का देहावसान हो जाने पर 'पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय' जी की प्रेरणा से पुनः ५० श्लोक रचकर, कविरत्न जी ने इस चरित काव्य को ३०० श्लोकों में पूर्ण किया।

छन्द, अलंकारादि तथा आर्य भाषा में अनुवाद सहित यह महात्ममहिममणिमंजूषा प्रत्येक आर्यजन के हृदय की मणि है, जो इनकी भाषा शैली को देखते ही बनता है।

महात्मचरितम्– कविरत्न के ग्रन्थों को देखने से प्रतीत होता है, कि यह रचना महात्मा हंसराज जी के जीवन चरित्र पर आधारित है। इतना ही मूलतः परिचय इस काव्य का प्राप्त होता है; क्योंकि यह काव्य अप्राप्य-एवं लुप्त है।

दयानन्दलहरी– महर्षि दयानन्द के जीवन पर आधारित चरित काव्यों की प्रमुखता में

'दयानन्द-लहरी' भी सम्मिलित है। यह 'कविरत्न' जी की ५२ श्लोकात्मक चरित मंजरी है। जिसमें महर्षि दयानन्द के जीवन वृत्त को संक्षेप में किन्तु रस भाव की प्रधानता के साथ उद्धृत किया है। महर्षि दयानन्द के जीवन वृत्त का मेधाव्रत जी ने अपनी इस कृति में विशद वर्णन किया है।

उन्होंने 'भक्तिरस' से युक्त सुललितमय पद्यों को भी सृजित किया है तथा अपने काव्य कौशल के रूप में 'शिखरिणी' 'स्रग्धरा' 'पृथ्वी' 'शार्दूलविक्रीडितम्' व 'उपजाति' आदि छन्दों को भी पद्यों में अलंकृत किया है। इस रचना में काव्य का शब्द-सौष्ठव, अर्थगौरव और अलंकारों– उपमा, रूपक तथा स्वभावोक्ति के सुन्दर प्रयोग दर्शनीय हैं।[१]

इस रचना के द्वारा कविरत्न मेधाव्रत जी ने ऋषि परम्परा के गौरव में अभूतपूर्व कृत्य किया है। यह काव्य संस्कृत-साहित्य का आभूषण तथा गौरव है।

दिव्यानन्दलहरी– आर्य 'कविरत्न' ने सुविशाल पद्यकाव्यों तथा गद्य-पद्य काव्यों का विशुद्ध भावनाओं से प्रणयन किया है। आपके काव्यों में कवित्व सत्य का सामंजस्य है। ओज और प्रसाद आपके साहित्य के विशेष गुण हैं।

कविरत्न की प्रस्तुत कृति का नाम 'दिव्यानन्दलहरी' है। इसमें दिव्यानन्द प्राप्त कराने वाली ५२ लहरियाँ हैं। इसमें ईश्वर, महिमा, ईश्वर का विराट् स्वरूप, ईश्वर की मनुष्यों की प्रति कृपाएँ, अध्यात्मता, (देह, रूप रथ और अयोध्या नगरी) विषयों की निस्सारता, सत्संग की आवश्यकता और उसका फल, ईश्वर पूजा का माहात्म्य, ओ३म् माता का स्नेह, उसकी व्यापकता व व्यवस्था, प्रभुप्राप्ति का मार्ग, अष्टांगयोग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि) उसका फल तथा मुमुक्षु योगी की दिव्यानन्द प्राप्ति की अभिलाषा आदि की सुन्दर वर्णन है। यह 'दिव्यानन्दलहरी' कविरत्न की अमर कृतियों में से एक है।

कविरत्न की कुछ स्फुट लघु रचनाएँ–'दिव्यानन्दलहरी' के साथ ही कविरत्न ने इस काव्य के अन्त में लघु स्फुटात्मक ग्रन्थों का प्रणयन भी किया है। जिनमें क्रमशः 'सुखानन्दगिरिदर्शनम्', 'दिव्यकुंजयोगाश्रमवर्णनम्' तथा 'सत्यार्थप्रकाशमहिमा' है। सर्वप्रथम 'सुखानन्द गिरिदर्शनम्' में आचार्य मेधाव्रत जी ने 'गुरुकुल चित्तौड़गढ़' के बटुवरों के साथ की गयी यात्रा और उसके लक्ष्य 'सुखानन्द गिरि' का वर्णन किया है। 'सुखानन्द' मेवाड़ के सुरम्यतम स्थानों में से एक तथा 'गुरुकुल-वर्णियों' का चिरप्रिय

---

१. दयानन्दलहरी, भूमिका, पृ० ५-६

यात्रा स्थान है। इस गिरि-वर्णन से प्रकृति प्रिय महाकवि ने प्राकृतिक, आरण्यक तथा प्रकृति दृश्यों का बड़ा मनोरम वर्णन किया है। इस रचना की भाषा बड़ी प्रांजल और सुललित है।[१]

दिव्यकुञ्जयोगाश्रमवर्णनम्- इसमें कविरत्न ने अपने सम्प्रति आश्रम (नासिक प्रान्त येवला नगर कुसूर ग्रामस्थ) का विशद वर्णन किया है। वहाँ आप तथा आपके माननीय अनुज 'श्री वानप्रस्थ सत्यव्रत' जी योग का अभ्यास करते हुए मुनि जीवन यापन करते रहे हैं। इस वर्णन को पढ़कर तुरन्त ही 'महाभारत' तथा 'रामायणादि' में वर्णित ऋषि-मुन्याश्रमों का वर्णन चक्षुओं के समक्ष उपस्थित हो जाता है तथा इसके उत्तरार्द्ध में महाकवि के आत्मचरित का वास्तविक वर्णन चित्रित है।

सत्यार्थप्रकाशमहिमा-महर्षि दयानन्द के अमर ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' की महिमा को कविरत्न ने इस लघु रचना में वर्णित किया है। आपने अपना प्रसिद्ध महाकाव्य 'दयानन्द दिग्विजयम्' 'ऋषि दयानन्दलहरी' तथा प्रस्तुत 'सत्यार्थप्रकाशमहिमा' लिखकर वस्तुतः ऋषि दयानन्द में अपनी अनन्य भक्ति, अनुपम, श्रद्धा और उनके कार्य की अनिवार्य उपादेयता प्रदर्शित की है।

संसार के वर्तमान, इस अर्थ-काम वातावरण में मुमुक्षु महाकवि ने यह मोक्ष-मार्ग दर्शक काव्य जनता को देने का पुनीत कार्य किया है।

गिरिराज-गौरव- विविध वर्णिक छन्दों में 'कविरत्न' ने इस हिन्दी भाषा के मनोहर काव्य में गिरिराज हिमालय की शोभा का विशिष्ट विवेचन किया है, जो हिन्दी साहित्य में उनकी अमर कृति है।

साहित्य-सुधा-'आचार्य प्रवर' की यह रचना संस्कृत साहित्य की एक सरल और व्यवस्थित ऐसी पद्धति है, जिसमें ब्रह्मचारियों को संस्कृत अध्ययन में विशिष्ट लाभ मिलता है। यह रचना 'कविरत्न' ने दो भागों में वर्णित की है। इसका वर्ण्य विषय इसकी विशेषताओं को स्पष्ट करता है।

काव्यालंकारसूत्राणि-संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से यह रचना काव्य में शोभायमान होने वाले अलंकार एवं छन्दों के वैशिष्ट्य को स्पष्ट करती है और साथ ही कविरत्न मेधाव्रत जी की योग्यता को पुष्ट भी करती है।

पद्यतरंगिणी- ललित छन्दों में चार सौ संस्कृत श्लोकों का यह हिन्दी अनुवाद सहित महाकवि मेधाव्रत जी द्वारा विरचित सुन्दर काव्य संग्रह है, जो उनके काव्य सृष्टि

---

१. दयानन्दलहरी, भूमिका— पृ० ६

से अवलोकित होता है। परन्तु यह संग्रह-लुप्त होने से अप्राप्य है।

दिव्यसंगीतामृतम्– यह 'कविरत्न' की सुमधुर एवं भावाही गीतों सहित हिन्दी में संगीत शिक्षा की सुन्दर पुस्तक है, जो कविरत्न जी के 'दयानन्ददिग्विजयम्' पूर्वार्द्ध भाग के अन्तिम पृष्ठ से स्पष्ट होता है।

ईशोपनिषत्काव्यम्– इस काव्य में कविरत्न मेधाव्रत जी ने यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के १७ मंत्रों अर्थात् ईशोपनिषत् का काव्यात्मक शैली में विशद वर्णन किया है।

कुछ अन्य रचनाएँ– कविरत्न की ये रचनाएँ अप्राप्य हैं, जिनमें — 'सुखानन्दलहरी', 'देशाभ्युदयकाव्यम्', 'ज्ञानेन्द्रचरितम्', 'व्रतीन्द्रनित्यानन्दशतकम्', शुद्धिगंगावतारम्, छन्दसूत्रवृत्तिः है, किन्तु 'वैदिकराष्ट्रकाव्यम्' लुप्त है।

महाकाव्य–दयानन्ददिग्विजयम्– संस्कृत साहित्य की परम्परा में अनेक कवियों के गद्यात्मक तथा पद्यात्मक काव्य देखे जाते हैं, जिन्हें महाकाव्य कहा जा सकता है। 'महाकवि कालिदास' 'श्रीहर्ष' 'भारवि' दण्डी, तथा 'भासादि कवियों' का नाम आदर के साथ उद्घोषित हुआ है। लेकिन इस समस्त श्रृंखला को देखने से ज्ञात होता है, कि आचार्य मेधाव्रत संस्कृत गद्य और पद्य साहित्य के अद्वितीय सृजक हैं। उनकी काव्य शैली सरल एवं मोहक है। जहाँ 'कविरत्न मेधाव्रत' जी ने शतक, नाटक, उपन्यास और चरितकाव्यों को सृजित किया है, वहाँ उनका मुख्यतया प्रतिबिम्बित विषय महर्षि दयानन्द एवं उनकी दार्शनिक विचारधाराएँ ही हैं। उसी श्रृंखला में कविरत्न ने महर्षि दयानन्द जी के जीवन चरित्र से प्रसन्न होकर, ऋषित्व के प्रति अपनी कर्त्तव्य पालना, एवं जनमानस के कल्याण हेतु, २७ सर्गात्मक २७०० श्लोकों में तथा पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध पक्ष में संस्कृत साहित्य की अमर कृति (जो महर्षि दयानन्द जी के जीवन चरित को परिलक्षित करती है) की स्थापना की है, जिसका नाम 'दयानन्द दिग्विजयम्' महाकाव्य के रूप में उद्बोधित है। इसकी विषय वस्तु महर्षि दयानन्द का जीवनवृत तथा उनकी दार्शनिक वैदिक मान्यताएँ हैं, जो मानव मात्र के लिए हितकारी होने से दर्शनीय तथा पठनीय हैं।

'दयानन्ददिग्विजयम्' महाकाव्य का पूर्वार्द्ध पक्ष १२ सर्गात्मक है, और मेधाव्रत जी की विषयात्मक काव्यशैली अत्यन्त श्लाघनीय एवं प्रशंसनीय है। वैसे 'दयानन्ददिग्विजयम्' महाकाव्यम् पं० अखिलानन्द जी का भी प्राप्त होता है। कविरत्न अखिलानन्द की रचना में किसी भी पात्र का चित्रण स्पष्ट दृष्टिगत नहीं होता है। जिससे

वह पाठकों को सम्पूर्ण आनन्द दे सकें। किन्तु कविरत्न मेधाव्रत जी का "दयानन्ददिग्विजयम्-महाकाव्य" महर्षि दयानन्द के साथ साथ उनके गुरु "ब्रह्मर्षि विरजानन्द" जी का भी सबल पक्ष प्रस्तुत करता है।

महाकाव्य के पूर्वार्द्ध पक्ष में आचार्य प्रवर ने महर्षि का आर्यावर्त के घोर अन्धकारमय समय में प्रादुर्भाव, तथा उनका प्रभाव वर्णन और उनके मुख से सर्वविध उन्नतियों का सविस्तार वर्णन किया है।

उन्होंने भारत की नैसर्गिक सम्पत्ति एवं साम्राज्य वृद्धि, राजनीतिक, धार्मिक, एवं सामाजिक पतन का चित्रण तथा स्वामी जी की जन्मभूमि 'सौराष्ट्र' देश का भौगोलिक, ऐतिहासिक, एवं धार्मिक वर्णन स्वामी जी के जन्म तथा मध्यान्तर की अवस्था, सच्चे शिव का बोध और उसका अन्वेषण, शिक्षा, चाचा, बहिन का प्रेम तथा उनकी मृत्यु तथा माता-पिता के स्वभाव और पाखण्डी महात्माओं की लीलाओं का भी वर्णन किया है। महाकाव्य की रोचकता के लिए पाँच वर्ष की अवस्था से लेकर मध्याह्न काल, तथा 'हरिद्वार' 'कुम्भ' मेले का वर्णन महाकाव्य की विशेषता को परिलक्षित करता है; क्योंकि 'कविरत्न' जी ने योगिराज के चरित्र को चित्रित करने में किसी भी प्रकार की शीघ्रता का कोई परिचय नहीं दिया है। इस पूर्वार्द्ध पक्ष की सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि इसमें छन्दों, भावों की रसात्मकता, एवं व्याकरण की दृष्टि से इतनी सरलता है, कि इसका आनन्द स्वतः ही उद्भूत होने लगता है।

उक्त पूर्वार्द्ध ग्रन्थ के विषय में विद्वानों की जो सम्मतियाँ प्राप्त होती है, वे इस प्रकार हैं—

'आचार्य विश्वबन्धु शास्त्री' होशियारपुर के शब्दों में मेधाव्रत जी के द्वारा विरचित महाकाव्य विविध छन्दों, अलंकारों और गुणों के आगाररूप, मधुर, सुन्दर विषय के गहन और गम्भीर होते हुए भी उत्तम, समझने में सरल और सुगम, सुविभक्त, अनतिदीर्घ, बारह सर्गों में गुथा हुआ 'दयानन्द-काव्य' मेरे हृदय को आनन्दित करता है।

'श्रीनरदेव शास्त्री वेदतीर्थ'- के शब्दों में 'जैसे स्वच्छ दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब दीखता है, वैसे ही निर्मल काव्य में आपकी बुद्धि का विकास प्रतीत होता है। यह काव्य सदा प्रयत्न से सुनाने योग्य है; क्योंकि जैसे रत्नों से सागर भरा हुआ होता है, वैसे ही १२ सर्गात्मक यह महाकाव्य भावों से भरा है। इसमें अर्थ-सौन्दर्य के साथ-साथ महर्षि दयानन्द के जीवन का सार चित्रित है।'

'डॉ० मंगलदेवशास्त्री' के शब्दों में– कलिकाल के पाप को दूर करने वाले यतिवर, ब्रह्मचारियों में शिरोमणि, दीर्घकाल तक लुप्त प्राय: वैदिक वाङ्मय के भारतवर्ष में उद्धारक, विश्ववन्दनीय महर्षि दयानन्द के अति पवित्र जीवन वृत्त को चित्रित करता है, जो महापुरुष के वर्णन से प्रयुक्त १२ सर्गात्मक यह महाकाव्य ही है।

'श्री मुक्तिराम उपाध्याय' के अनुसार– 'कविरत्न मेधाव्रत' ने उत्तम चरित्र वाले महर्षि दयानन्द के जीवनप्रसाद को फैलाकर, आनन्द का विस्तार किया है; क्योंकि इस १२ सर्गात्मक महाकाव्य में आपकी प्रसादमयी वर्णमाला, उत्तमतापूर्वक युक्ति-युक्त है, तथा यह महाकाव्य जगत् के लिए मंगलकारक होगा।

महाकाव्य का उत्तरार्द्ध पक्ष–'दयानन्द-दिग्विजयम्' महाकाव्य का उत्तरार्द्ध पक्ष कविरत्न ने दिनांक— १-१०-४२ ई० को प्रारम्भ कर, केवल प्रातः काल की पुण्य-बेला में ही नित्य नियम से लिखकर बराबर २-१०-४३ ई० के दिन १५ सर्गों को समाप्त किया। पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में केवल २७ सर्ग हैं, और श्लोक संख्या २७०० है।

इस एक वर्ष के रचनाकाल में कविरत्न केवल एक ही समय भोजन लेते थे, और वह भी सात्विक दूध, फल इत्यादि अथवा सामान्य हल्का सा भोजन, साथ ही लेखन, शास्त्राध्ययन और योगानुष्ठान भी करते थे। इस प्रकार तपस्वी ने 'दयानन्द-दिग्विजयम्' महाकाव्य का उत्तरार्द्ध भाग पूर्ण कर संस्कृत जगत् में अपना नाम उज्ज्वल किया है। महाकाव्य का पूर्वार्द्धवत् उत्तरार्द्ध पक्ष भी ललिल पद्यों से पूर्ण है। इस उत्तरार्द्ध की कुछ मौलिक विशेषताओं पर विचार करना अपेक्षित जान पड़ता है।

'दयानन्द-दिग्विजयम्' महाकाव्य के उत्तरार्द्ध भाग की एक अनन्य विशेषता विविध दार्शनिक वादों का सरल प्रतिपादन करना है। उदाहरण के लिए एक श्लोक लिया जा सकता है—

गंगातीरे प्रभुरतमनाः कर्ण वासान्तिकस्थे,
ब्रह्मज्ञानीविहितवसतिः श्रीदयानन्ददेवः।
वेदादेशामृतजलधरो भक्तिधारां प्रवर्ण,
ल्लोकस्वान्ताचलमतनुताऽऽनन्द गंगा प्रवाहम्।। १

उपर्युक्त रचना के द्वारा कविरत्न का दार्शनिक मन्तव्य भली भाँति स्पष्ट हो जाता है।

---

१. दयानन्ददिग्विजयम् उ० पृ०-१९,

उनकी विचारधारा महर्षि की विचारधारा से प्रभावित है। इस महाकाव्य की दूसरी विशेषता यह है, कि इसमें स्वामी दयानन्द को एक महान् शास्त्रार्थी के रूप में चित्रित किया गया है; क्योंकि महाकाव्य का १४ वां सर्ग शास्त्रार्थ विषयक है। महर्षि धर्म प्रचारार्थ व्याख्यानादि देते थे, जिसमें यहाँ अनेक पण्डित वर्गों के शंका करने पर शास्त्रार्थ प्रारम्भ हो जाते थे तथा स्वामी जी पूछे गये प्रश्नों के उत्तर शास्त्रों के प्रबल प्रमाणों के आधार पर दिया करते थे। इससे उनकी ख्याति सर्वत्र फैल गयी थी।

उक्त महाकाव्य की तीसरी विशेषता ईश्वर के स्वरूप का विविध तर्कों तथा प्रमाणों द्वारा प्रतिपादन करना है। एक उद्धरण यहाँ द्रष्टव्य है—

> **क्लेशकर्मविपाकासाद्यपरामृष्ट ईश्वरः।**
> **किमर्थं भोक्तृता धृत्वा, चेष्टेत प्राकृतोपम॥** [1]

योगसूत्र के अनुसार ईश्वर, क्लेश, कर्म, कर्मफल तथा वासनादि से अस्पृष्ट है, तथा वह साधारण मनुष्य के समान भोक्तृत्व को धारण कर मानुष व्यवहार क्यों करेगा? वेद भी जिसको अकाय, शुद्ध, अपापविद्ध, कविर्मनीषी आदि कहते हैं। इनके अतिरिक्त जगत् की सत्ता, दुर्जनदर्पदलन, ईश्वर विश्वास, सत्यपरायणता, उत्कृष्ट देशभक्ति, निर्भयता, सदाशयता, मुम्बई, दिल्ली, नगरों का वर्णन, प्रचार की अनुपम लगन, महर्षि का निर्वाण एवं आर्यजनों से समाज-सुधार का निवेदन इस उत्तरार्द्ध की विशेषता एवं वर्ण्य विषय वस्तु है।

दार्शनिक परम्परा में आचार्य मेधाव्रत जी की उत्कृष्ट रचनाएँ शतक, नाटक, उपन्यास, चरितकाव्य तथा महाकाव्य 'दयानन्द दिग्विजयम्' सम्पूर्ण रूप से महर्षि दयानन्द के जीवनवृत्त एवं उनकी दार्शनिक विचारधारा को ही पुष्ट करता है। आचार्य प्रवर की रचनाओं को गम्भीरता पूर्वक देखने से दृष्टिगत होता है, कि उन्होंने अपनी रचनाओं में मुख्यतः महर्षि दयानन्द और उनके चरित्रवृत्त तथा उनकी दार्शनिक विचारधारा को ही अपनी गद्य तथा पद्य एवं गद्य-पद्य रचनाओं में उद्धृत किया है। संस्कृत साहित्य की उत्कृष्टता को उनकी रचनाएँ पूर्ण रूप से गौरवान्वित तथा सम्मानित करती हैं।

कविरत्न मेधाव्रत जी की रचनाओं का विवेचन करने पर यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है, कि उनके ग्रन्थों में तुलनात्मक रूप में 'दयानन्द-दर्शन' के प्रभाव को आंकने

---

१. द०दि० उ० १४/२६,

के लिए पर्याप्त शोध सामग्री विद्यमान है। 'ब्रह्मचर्य-महत्त्वम्' नामक पुस्तक में 'अथर्ववेद' के ग्यारहवें काण्ड के 'ब्रह्मचर्य-सूक्त' की महिमा का गान किया गया है। इसी सूक्त के अनेक मन्त्रों का स्वामी दयानन्द ने अपने 'सत्यार्थप्रकाश' के तृतीय समुल्लास में विशदता से वर्णन किया है। चारों आश्रमों में 'ब्रह्मचर्य-आश्रम' प्रथम एवं आधाररूप है। 'कुमुदिनीचन्द्रः' नामक उपन्यास में आदर्श गृहस्थ के कर्त्तव्यों का अनेकशः वर्णन किया गया है। अन्य ग्रन्थों 'दयानन्द-दिग्विजयम्' आदि में स्वामी दयानन्द के अनुरूप आदर्श गृहस्थी के कर्त्तव्यों का विवेचन किया गया है। 'गुरुकुलशतकम्', 'ब्रह्मचर्यशतकम्', 'दिव्यानन्दलहरी', 'दयानन्दलहरी' और 'दयानन्द दिग्विजयम्' महाकाव्य में स्वामी जी के समान ही श्रेष्ठ वानप्रस्थी और संन्यासी के चरित्र तथा कर्त्तव्यों को यथावकाश वर्णन किया गया है। 'सत्यार्थप्रकाश' के छठे समुल्लास में राजधर्म के जिन विषयों का उल्लेख मिलता है, उनके परिपालन का अवसर मेधाव्रत जी के 'कुमुदिनीचन्द्र' उपन्यास, 'चारुचरितामृतम्' 'प्रकृतिसौन्दर्यम्' एवं 'दयानन्ददिग्विजयम्' में किया गया है। 'सत्यार्थ-प्रकाश' के 'ईश्वर' 'जीवात्मा' के विषयों एवं सृष्टि उत्पत्ति विषयक चिन्तन के समान ही मेधाव्रत जी के 'दयानन्ददिग्विजयम् महाकाव्य' में समानान्तर रूप से उसी प्रकार विचार किया गया है। 'सत्यार्थप्रकाश' में वर्णित अन्य विषयों-जन्म, बन्ध, मृत्यु, मोक्ष, पुनर्जन्म, आचार-विचार और भक्ष्य एवं अभक्ष्य आदि पर तो मेधाव्रत जी के कई ग्रन्थों में अनेकशः विशद विचार प्रस्तुत किये गए हैं। 'सत्यार्थप्रकाश' के उत्तरार्द्ध में वर्णित अवैदिक मतों के खण्डन और वैदिक मतों के वर्णित मतों के मण्डन तथा 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' जैसे विषयों का वर्णन एवं तत्समान विचारों का पोषण 'मेधाव्रत' जी के ग्रन्थों में प्रायः यत्र-तत्र मिलता है। यथावसर सृष्टि उत्पत्ति के गूढ़ रहस्यों और अन्य वैदिक विषयों पर 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' और अन्य वैदिक ग्रन्थों के समान ही मेधाव्रत जी ने अपने ग्रन्थों में अनुकूलता के अनुसार विचार किया है। एक प्रकार से कहा जा सकता है, कि 'यावज्जीवन', 'मेधाव्रताचार्य' जी ने 'दयानन्द-दर्शन' की विचारधारा के पोषण में समग्र काव्य शक्ति लगा दी है। 'दयानन्ददिग्विजयम्' में तो सबसे अधिक विस्तृत एवं विशदता के साथ उनकी दार्शनिक विचारधारा का पल्लवन हुआ है। ऐसे काव्य ग्रन्थों का स्वामी दयानन्द की दार्शनिक विचारधारा के सापेक्ष तुलनात्मक अध्ययन जहाँ गहन शोध करने की प्रेरणा देता है, वहाँ भावी शोधकों के लिए एक व्यापक शोध क्षेत्र की सम्भावना के आयाम के द्वार भी खोलता है। वस्तुतः आज के वैज्ञानिक युग में 'दयानन्द-दर्शन' की

विचारधारा और वैदिक विचारधारा का अध्ययन समीचीन प्रतीत होता है। जिससे इसके प्रभाव का उचित मूल्यांकन करने में सहायता मिल सकती है। आज का युग विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के तुलनात्मक अध्ययन का युग है। परस्पर सापेक्ष रूप से चिन्तन किये जाने पर ही वास्तविक दार्शनिक तथ्यों का स्वरूप सुज्ञात हो सकता है। इसी प्रेरणा के साथ उक्त शोधकार्य विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किये जाने का प्रयास किया जा रहा है। भावी समालोचकों पर ही यह निर्णय छोड़ा जा सकता है, कि 'दयानन्द-दर्शन' की विचारधारा के प्रभाव का उचित मूल्यांकन किया जा सके।

द्वितीय अध्याय

ज्ञान-मीमांसा

आचार्य मेधाव्रत की साहित्यिक रचनाओं में प्रतिबिम्बित 'दयानन्द-दर्शन' के अन्तर्गत 'ज्ञान-मीमांसा' सम्बन्धी विवेचन करने से पूर्व भारतीय दर्शनों में 'ज्ञान-मीमांसा' पर विशदता से विचार करना अपेक्षित प्रतीत होता है। इससे 'दयानन्द-दर्शन' की पृथक् विशेषताओं का अंकन करने में जहाँ सहायता प्राप्त होगी, वहीं 'दयानन्द-दर्शन' का स्वरूप अधिक सुस्पष्ट हो सकेगा। इसके पश्चात् 'आचार्य-मेधाव्रत' की रचनाओं में प्रतिबिम्बित 'दयानन्द-दर्शन' का विवेचन करना अधिक सार्थक रहेगा।

'ज्ञान' को लेकर भारतीय और पाश्चात्यादिदर्शनों में विस्तारपूर्वक विचार किया जाता रहा है। सम्पूर्ण जगत् का बोध 'ज्ञान' के माध्यम से ही होता है। दर्शन की दृष्टि से भी जगत् को समझने के लिये उसे समझने के साधन 'ज्ञान' को पहले समझना होगा। सांसारिक विषयों अथवा तत्त्वों की मीमांसा से पूर्ण 'ज्ञान' की मीमांसा अधिक आवश्यक प्रतीत होती है। वस्तुतः 'ज्ञान-मीमांसा' ही 'तत्त्व-मीमांसा' का आधार और प्रवेशद्वार है। मनुष्य के जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग 'ज्ञान' ही है। व्यावहारिक दृष्टि से सम्पूर्ण चेतन क्रियाएँ 'ज्ञान' पर ही निर्भर करती हैं। अतः 'ज्ञान' के स्वरूप को समझना आवश्यक हो जाता है। सामान्यतया सभी व्यक्ति 'ज्ञान' से परिचित होते हैं। किन्तु 'ज्ञान' के स्वरूप और उसके लक्षणों पर विचार करने पर कई अन्तर्भेद उपस्थित हो जाते हैं। हमारे मन में प्रश्न उठने लगते हैं कि 'ज्ञान' क्या वह स्वयं एक स्वतन्त्र सत्ता है? क्या वह गुण है? अथवा क्या वह क्रियारूप है? क्या वह स्वयं प्रकाश है? अथवा वह परतः प्रकाश्य है। जिन विषयों को हम जानना चाहते हैं उनसे ज्ञान का क्या सम्बन्ध है? क्या वह विषयों से भिन्न है? अथवा अभिन्न है। यदि भिन्न है तो विषयों को कैसे प्रकाशित करता है? ज्ञान के कितने भेद हैं? तथा ज्ञान-प्राप्ति के क्या-क्या साधन हैं? इस प्रकार सम्बद्ध विषय की विवेचना करने से पूर्व ज्ञान के इन विविध पक्षों पर यथार्थ और तार्किक दृष्टि से विचार करना उचित प्रतीत होता है। सर्वप्रथम ज्ञान के स्वरूप पर विचार किया जा रहा है।

ज्ञान का स्वरूप-भारतीय दर्शनों में 'ज्ञान' को लेकर दो प्रकार से विचार व्यक्त किये गए हैं। पहले वे दर्शन हैं जो लौकिक ज्ञान को 'मिथ्या प्रतीति' मानते हैं। वे

उसकी पृष्ठभूमि में एक अत्यन्त अज्ञेय सत्ता की कल्पना करते हैं। इस प्रकार के दर्शनों में 'अद्वैत वेदान्त' और 'शून्यवादी बौद्ध' आते हैं। दूसरे वे दर्शन हैं, जो लौकिक ज्ञान को 'सत्य' तो मानते हैं; किन्तु इस सत्य को विविध रूपों में व्यक्त करते हैं। उनमें से 'चार्वाक्' का यह मत है, कि भूतों के विशिष्ट संयोग से उत्पन्न होने से ज्ञान एक भौतिक गुण है। एक अन्य विचार यह है, कि ज्ञान एक आध्यात्मिक गुण है, जो भूतों से भिन्न एक अभौतिक सत्ता में आश्रित होता है, यह अभौतिक सत्ता 'आत्मा' है। इसके भी कई स्वरूप हैं। तीसरा विचार यह है, कि ज्ञान एक आकस्मिक और अनित्य गुण है। यह 'न्याय-वैशेषिक' तथा 'प्रभाकर' का मत है। 'विशिष्टाद्वैत' तथा 'जैनमत' के अनुसार ज्ञान एक नित्य गुण है। 'भाट्टमीमांसकों' के अनुसार ज्ञान एक आध्यात्मिक क्रिया है। सांख्य और योग के अनुसार ज्ञान एक विषयाकार प्राकृतिक विकार है। 'विज्ञानवादी बौद्धमत' के अनुसार ज्ञान एक स्वतंत्र सत्ता है।[१]

भारतीय दर्शन विषयक विकल्प सहित इन दोनों मतों पर संक्षिप्त किन्तु विशद रूप में विचार करना उचित प्रतीत होता है। प्रथम 'ज्ञान एक मिथ्या प्रतीति है' इस पर विचार किया जा रहा है। 'अद्वैतवेदान्त' और 'शून्यवादी बौद्धों' का यह विचार है, कि ज्ञान एक मिथ्या प्रतीति है। 'अद्वैतवेदान्त' तीन प्रकार की सत्ता को स्वीकार करता है— पारमार्थिक सत्ता, जो केवल शुद्ध ब्रह्म है, द्वितीय व्यावहारिक सत्ता-जिसमें मिथ्या प्रतीतियाँ तथा स्वप्न की प्रतीतियाँ आती हैं। यदि इन तीनों सत्ताओं पर विचार किया जाए तो यह ज्ञात होता है, कि 'अद्वैतवेदान्त' की दृष्टि से भले ही लौकिक ज्ञान की 'मिथ्याप्रतीति' हो किन्तु शुद्ध ब्रह्म की प्रतीति कराने वाला पारमार्थिक ज्ञान तो 'सत्य' है। यह बात पृथक् है, कि ब्रह्मज्ञान लौकिक ज्ञान जैसी वस्तु नहीं है, वह स्वरूप में भिन्न है। लौकिक ज्ञान में 'ज्ञाता', 'ज्ञान' और 'ज्ञेय' का भेद अवश्य बना रहता है, किन्तु 'ब्रह्म ज्ञान' में उस प्रकार का कोई भेद नहीं है। उनके अनुसार 'ब्रह्मज्ञान' 'ब्रह्म' से भिन्न नहीं है। वह 'शुद्ध', 'सत्', 'चित्' और 'आनन्दस्वरूप' है, उस ब्रह्म को 'शुद्ध चैतन्य' कहा गया है, किन्तु वह निर्विषयक चेतना है। उसमें कोई विषय भाषित नहीं होता। 'शंकर' के अनुयायियों का यह भी कहना है, कि जहाँ 'द्वैत' होता है, वहाँ दो के बीच सम्बन्ध स्थापित करने में सदैव अनावश्यक दोष आता है।

'माध्यमिक बौद्धों' के अनुसार भी तार्किक दृष्टि से ज्ञान के विषय में अनवस्था दोष आता है। यदि यह कहा जाए कि प्रमाण की सिद्धि, दूसरे प्रमाण से होती है, दो की

१. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ, डॉ० महेश भारतीय, पृ० २५३-२५४.

तीसरे से मानने पर अनवस्था दोष होगा जिसके कारण आदि, मध्य और अन्त कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। फिर बिना प्रमाण के विषय को नहीं जाना जा सकता। बिना प्रमेय के प्रमाण और बिना प्रमाणों के प्रमेय की सिद्धि भी नहीं होती और फिर स्वत: और परत: प्रमाणों की समस्या भी उपस्थित हो जाती है। यदि 'अद्वैत वेदान्तियों' व 'माध्यमिक बौद्धों' के ज्ञान की प्रतीति के इन सिद्धान्तों पर विचार किया जाए तो यह बात भली-भाँति स्पष्ट है, कि पारमार्थिक सत्ता का ग्रहण इससे नहीं हो सकता। अत: उनका यह चिन्तन अधूरा है।

'ज्ञान एक भौतिक गुण है' यदि 'चार्वाक्' दर्शन के इस मत को लिया जाए तो चैतन्य आध्यात्मिक ज्ञान का प्रमाण उपस्थित करना कठिन हो जाएगा। अत: यह मत तो और अधिक अधूरा है। इस 'चार्वाक्' मत की तुलना पाश्चात्य जगत् के आधुनिक 'विज्ञानवादियों' और 'भौतिकवादी' दर्शनों से की जा सकती है। अत: 'चार्वाक्' मत के खण्डन के समान ही इन दार्शनिक मतों का भी खण्डन हो जाता है।

'ज्ञान एक आध्यात्मिक गुण है' यह विचार 'न्यायवैशेषिक', 'मीमांसा', 'विशिष्टाद्वैत' और 'जैन' दर्शनों का है। इन सब दर्शनों में भूतों से भिन्न एक नित्य तत्त्व 'आत्मा' को माना है और ज्ञान को आत्मा का धर्म[१] स्वीकार किया है, किन्तु इनके मतों में परस्पर पर्याप्त अन्तर होता है। 'न्याय-वैशेषिक', तथा 'प्रभाकर', 'मीमांसक' के मतानुसार आत्मा एक नित्य तथा विभु द्रव्य है।[२] जब आत्मा का मन से, मन का इन्द्रियों से और इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्पर्क होता है, जो आत्मा में गुण के रूप में ज्ञान होता है। यह ज्ञान आत्मा का नित्य गुण नहीं है अपितु आकस्मिक है; क्योंकि उत्पति से पूर्व यह नहीं था, और पश्चात् में भी नष्ट हो जाता है।[३] 'न्यायवैशेषिक' ने गुण को गुणी से भिन्न माना है, जो उचित प्रतीत नहीं होता। 'जैन' दार्शनिक गुण और गुणी में पूर्ण भेद नहीं मानते। वे द्रव्य के दो प्रकार के विशेषण मानते हैं जिन्हें वे गुण और 'पर्याय' कहते हैं। 'गुण' और 'पर्याय' के अन्तर के सम्बन्ध में 'जैन' दार्शनिकों में परस्पर मतभेद हैं। कुछ आचार्यों के अनुसार 'गुण' सहभावी होते हैं तथा 'पर्याय' गुण भावी।[४] 'गुण' अपरिवर्तित रहते हैं जबकि 'पर्याय' परिवर्तनशील होते हैं। इस

---

१. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ– डॉ० महेश भारतीय, पृ० २५९

२. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ– डॉ० महेश भारतीय, पृ० २६०

३. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारी व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। न्यायदर्शन, १.१.४

४. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ– डॉ० महेश भारतीय, पृ० २ ६०

प्रकार 'गुण' द्रव्य के आन्तरिक विशेषण हैं जबकि 'पर्याय' बाह्य विशेषण। इनमें कालभेद भी सापेक्षता के साथ उपस्थित हो जाता है, जिससे गुण का गुणी से न पूर्ण भेद है और न पूर्ण अभेद। 'ज्ञान' को जब वे जीव (आत्मा) का गुण मानते हैं तो उनका यह ज्ञान न तो जीव से पूर्णत: भिन्न है और न अभिन्न। 'गुण' और 'पर्याय' में अन्तर करने वाले विद्वान् ज्ञान को जीव के साथ नित्य सम्बन्ध वाला मानते हैं, आकस्मिक नहीं। इनके अनुसार जीव में कभी ज्ञान का अभाव नहीं होता, कर्म के आवरण के अनुसार न्यूनाधिक्य होता रहता है।

'विशिष्टाद्वैतवाद' मत बहुत कुछ 'जैन' मत के समान है। अन्तर केवल यह है, कि जैन दार्शनिक आत्मा का कोई निश्चित आकार नहीं मानते जबकि 'रामानुज' के अनुसार आत्मा अणु रूप है। 'रामानुज' ज्ञान को आत्मा का स्वरूप और विशेषण दोनों मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञान भी आत्मा से नित्य सम्बद्ध है।[१]

यदि इन दार्शनिकों के मतों पर विचार किया जाये तो ज्ञान को शरीर से भिन्न एक नित्य तत्त्व का गुण मानकर शरीर के सम्बन्ध की नई समस्या और खड़ी हो जाती है। यदि आत्मा को नित्य चैतन्य माना जाये तो लौकिक ज्ञान से उसका क्या सम्बन्ध होगा तो यह भी विचार करना पड़ेगा? यदि लौकिक ज्ञान आत्मा का विकार माना जाये तो आत्मा की नित्यता भंग होने की आशंका रहती है। सर्वव्यापक या अणु आत्मा मानने पर उसमें विकार की कल्पना करना कठिन है। यदि इस चिन्तन को और बढ़ाया जाये तो एक निष्कर्ष की ओर पहुँचा जा सकता है, कि ये सब विचार अन्तःकरण के हैं और आत्मा पर आरोपित हैं। इस प्रकार हमें 'सांख्यदर्शन' की ओर जाकर वैदिक दर्शन की शरण में ही समाधान ढूँढना होगा। अत: ज्ञान एक आध्यात्मिक गुण है, यह मानने में कठिनाई उपस्थित हो जाती है।

''ज्ञान एक आध्यात्मिक क्रिया है'' यह 'कुमारिल भट्ट' के अनुयायी मीमांसकों का विचार है।[२] इसके अनुसार ज्ञान आत्मा की क्रिया है। आत्मा क्रियावान् है, संकल्प विकल्पादि की क्रिया उसी में होती है। जागृत और सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान क्रिया व्यक्त और अव्यक्त रूप में होती है।

यदि इस मत पर विचार किया जाये तो इसमें आत्मा को कर्ता मानना पड़ता है, इसके साथ यह भी विचार करना पड़ेगा कि वह क्रिस स्थिति तक कर्ता है। अत: ज्ञान

१. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ, डॉ० महेश भारतीय, पृ० २६०, २६१

२. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ, डॉ० महेश भारतीय, पृ० २६१, २६२

की यह मीमांसा कुछ समीप तो है, किन्तु पूर्ण नहीं है।

"ज्ञान एक प्राकृतिक विकार है" 'सांख्ययोग'[१] एवं 'अद्वैतवेदान्त' के इस मत पर यदि विचार किया जाये तो ज्ञात होता है, कि ज्ञान अन्त:करण की प्रकृति (विकार) है। यहाँ एक समस्या यह उत्पन्न हो जाती है, कि यदि इसे 'विकार' ही माना गया तो वास्तविक ज्ञान क्या होगा? यह प्रश्न अनसुलझा रह जाता है। इसके साथ ही ज्ञान को 'मिथ्याप्रतीति' से भी दूर करना पड़ेगा।

"ज्ञान एक स्वतंत्र सत्ता है"— 'बौद्ध योगाचार', अथवा 'विज्ञानवाद' के इस मत में एक कठिनाई यह उपस्थित हो जाती है, कि यह ज्ञान आकार वाला है या निराकार है। इसका कार्यकारण सम्बन्ध क्या है? किस रूप में यह ज्ञान उद्बुद्ध होता है? विषय और ज्ञान का क्या सबन्ध है? ये प्रश्न इस मत में अभी अनुत्तरित हैं।

"ज्ञान स्वप्रकाश है या परप्रकाश"— इसे लेकर ज्ञान के स्वप्रकाशत्व के प्रबल सर्मथकों में मुख्यत: 'शंकर वेदान्तवादी', 'योगाचार विज्ञानवादी', 'प्रभाकरमतीय मीमांसक', तथा 'सांख्ययोगवादी' हैं। परप्रकाशीय मानने वालों में मुख्यत: दो मत हैं— एक 'न्याय-वैशेषिक' का, जो ज्ञान का ज्ञान एक अन्य ज्ञान द्वारा मानता है और दूसरा 'कुमारिल भट्ट' का जो ज्ञान का संबंध अनुमान द्वारा मानते हैं। 'शंकर के अनुसार ज्ञान की सीधी तथा अपरोक्ष अनुभूति होती है। एक ज्ञान को यदि दूसरे ज्ञान द्वारा ज्ञात होना माना जायेगा तो दूसरे ज्ञान के लिए तीसरे ज्ञान की आवश्यकता पड़ेगी, इससे अनवस्था दोष आ जायेगा, 'योगाचार विज्ञानवादी' भी ज्ञान के परप्रकाशत्व का खण्डन अनवस्था दोष के आधार पर करते हैं।

'मीमांसा दर्शन' में 'प्रभाकर' चेतना के स्वप्रकाशत्व पर असाधारण बल देते हैं। उन्होंने "त्रिपुटी सम्वित्" का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, जिसके अनुसार किसी भी ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इन तीनों की अनुभूति एक साथ बनी रहती है। 'सांख्य' और 'योगदर्शन' बुद्धि में होने वाले अध्यवसाय रूप ज्ञान को अचेतन मानता है, अत: यह स्वप्रकाश नहीं हो सकता। योगसूत्र[२] बतलाता है, कि चित्त स्वयं को इसलिए प्रकाशित नहीं कर सकता क्योंकि स्वयं वह ज्ञान का विषय है। किन्तु "तत्त्व वैशारदी"[३] के अनुसार स्वप्रकाशत्व चित्त पर घटित न होकर पुरुष पर घटित होता है।

---

१. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ, डॉ० महेश भारतीय, पृ० २६२, २६३

२. द्रष्टव्य (योगसूत्र ४.१९) एवं भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ— पृ० २६७

३. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ— डॉ० महेश भारतीय, पृ० २६७

पुरुष की स्वदीप्ति किसी अन्य वस्तु पर निर्भर नहीं करती, वह स्वप्रकाश है।

इस प्रकार देखा जा सकता है, कि इन मतों में स्वप्रकाशत्व की स्थिति बहुत स्पष्ट नहीं है। ज्ञान के स्वप्रकाशत्व का 'न्याय वैशेषिक' द्वारा प्रबल विरोध हुआ। इनके अनुसार ज्ञान चक्षु के प्रकाश की भाँति है, जिसे दूसरे विषयों को प्रकाशित करने के लिए स्वयं प्रकाशित होने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान की क्रिया में ज्ञान का नहीं, उसके विषय का बोध होता है। इस प्रकार ज्ञान परप्रकाशक है।

'कुमारिल भट्ट' के अनुसार ज्ञान अनुमेय है।[१] 'कुमारिल' ज्ञान प्रक्रिया में चार अंग मानते हैं— ज्ञाता, ज्ञेय, (विषय), ज्ञान और ज्ञातता। 'कुमारिल' के अनुसार ज्ञान-क्रिया विषय में ज्ञातता उत्पन्न कर देती है। इस ज्ञातता रूपकार्य को देखकर इसके कारण रूप ज्ञान का अनुमान किया जाता है। अत: यह ज्ञान अनुमान पर आधारित है।

'यदि कुमारिल' की 'ज्ञातता' की कल्पना को माना जाये तो इसमें भी एक ज्ञातता के पश्चात् दूसरी ज्ञातता आने से अनवस्था दोष आ जायेगा। अत: यह मत भी बहुत मान्य नहीं है। इस प्रकार देखा जा सकता है, कि ज्ञान के विषय में दार्शनिकों में बहुत मतभेद हैं। ये मत यथार्थ और व्यवहार से बहुत दूर हैं।

ज्ञान के भेद के विषय में भी भारतीय दर्शनों में विविधता प्राप्त होती है। 'तर्कसंग्रह' में ज्ञान का वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है। 'प्रथम—स्मृति तथा दूसरा —अनुभव।'[२] संस्कार मात्र से उत्पन्न ज्ञान को 'स्मृति' बतलाया गया है और उससे भिन्न ज्ञान को 'अनुभव'। स्मृतिज्ञान पूर्व अनुभवजनित संस्कार पर आश्रित होता है, वह स्मृति में नहीं आता। अनुभव के दो प्रकार हैं—यथार्थ और अयथार्थ। यथार्थ अनुभव का लक्षण दिया है— 'तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थ:'[३]—अर्थात् किसी वस्तु को जिस जाति से वह युक्त है, उसी जाति से युक्त के रूप में ग्रहण किया जाना यथार्थ अनुभव है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जो वस्तु जैसी है, उसको उसी रूप में अनुभव करना यथार्थ अनुभव है। घट घटत्व जाति से युक्त है, इसको घटत्व रूप में ग्रहण किया जाना यथार्थ अनुभव है। ''यथार्थ अनुभव को ही 'प्रमा' कहा गया है।''[४] 'तर्कसंग्रह' में न्याय में स्वीकृत चार प्रमाणों के आधार पर चार प्रकार की प्रमा

१. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ— डॉ० महेश भारतीय, पृ० २६८

२. तर्कसंग्रह (बोडास) पृ० २१

३. वही, पृ० २२

४. द्र०, प्रमा प्रकरण

मानी गयी है— प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, और शब्द। किन्तु यह संख्या अलग-अलग दर्शन में उसके द्वारा स्वीकृत प्रमाणों की संख्या के अनुसार बदलती रहेगी। यथार्थ ज्ञान का लक्षण दिया गया है— '' 'तदभाववति तत्प्रकारकोऽयथार्थः '[१]— अर्थात् किसी वस्तु को उस जाति का अनुभव करना जिस जाति से युक्त वह नहीं है। दूसरे शब्दों में किसी वस्तु को जो वह है वह न समझकर कुछ और समझ लेना, जैसे— सीपी को देखकर यह प्रतीति कि वह चाँदी है। 'अयथार्थ ज्ञान' तीन प्रकार का माना गया है[२]— (१) संशय, (२) विपर्यय (भ्रम) तथा (३) तर्क। संशय का लक्षण है— ''एकस्मिन्धर्मिणिविरुद्धनानाधर्मावगाहिज्ञानं संशयः''[३] अर्थात् एक ही धर्मी में जो विरुद्ध नाना प्रकार के धर्मों का बोध होता है, उसे 'संशय' कहते हैं। तात्पर्य यह है, कि किसी वस्तु को देखकर जब हम निश्चय न कर पायें कि यह क्या है? और उसमें कई प्रकार की वस्तुओं की संभावना करें तो यह 'संशय' होता है। इसका उदाहरण है— ''स्थाणुर्वा पुरुषो वा'' यह स्थाणु (शाखाविहीन वृक्ष) है या पुरुष है। हम अंधेरे में दूर से किसी मनुष्य जैसे पदार्थ को देखें और न निश्चय कर पायें कि यह स्थाणु है या पुरुष है तो यह ज्ञान 'संशय कहलायेगा।'

'विपर्यय' का लक्षण दिया गया है— ''मिथ्याज्ञानं विपर्ययः''— अर्थात् मिथ्या ज्ञान विपर्यय या भ्रम है। इस ज्ञान में विषय के प्रति संदेह की स्थिति नहीं होती, इससे निश्चयात्मक ही होता है, किन्तु यह निश्चयात्मक मिथ्या होता है अर्थात् हम वस्तु को कुछ और समझ लेते हैं। उदाहरणार्थ— यदि हम सीपी को देखकर उसे चाँदी समझ लें तो यह 'विपर्यय' होगा। 'तर्क' का लक्षण दिया गया है— ''व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः''[४] अर्थात् व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप तर्क है। मान लीजिए हम किसी के साथ बाहर गए और हमने पर्वत में उठता हुआ धुआं देखा। अब हम कह सकते हैं, कि पर्वत में अग्नि है, किन्तु हमारा साथी इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं होता, तो उसे विश्वस्त करने के लिए हम तर्क का प्रयोग करते हैं। हम उससे कहते हैं कि चलो मान लिया पर्वत में अग्नि नहीं है, किन्तु यदि अग्नि नहीं तो धुआं भी नहीं होगा। (यदि वह्निर्न स्यात्तर्हि धूमोऽपि न स्यात्)। किन्तु धुआं वह प्रत्यक्ष

१. तर्क संग्रह पृ० २३

२. तर्क संग्रह पृ० ५६

३. तर्क संग्रह पृ० ५६

४. तर्क संग्रह पृ० ५६

देख रहा है; अतः कहेगा कि धुँआ तो है। इस पर हम कहेंगे कि यदि धुआँ है, तो अग्नि भी अवश्य है। इस प्रकार हम उसे अग्नि के होने का विश्वास दिला सकते हैं। यहाँ यह वाक्य कि "यदि अग्नि नहीं है, तो धुआं भी नहीं होगा" 'तर्क' कहलाता है। यहाँ अग्नि का अभाव व्याप्य है और धुएँ का अभाव व्यापक है। हमने व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप किया है। यहाँ वास्तव में न व्याप्य अग्नि का होना सत्य है, न व्यापक धुएँ का न होना। अतः सम्पूर्ण 'तर्क' एक मिथ्या ज्ञान है, किन्तु मिथ्या ज्ञान होते हुए भी 'तर्क' यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में सहायक होता है।

'स्मृति' भी दो प्रकार की मानी गयी है— यथार्थ और अयथार्थ। प्रमा से उत्पन्न स्मृति यथार्थ है, अप्रमा से उत्पन्न अयथार्थ।[१] 'प्रत्यभिज्ञा' नामक एक और ज्ञान की चर्चा हमें प्रायः दर्शन ग्रन्थों में प्राप्त होती है, जिसमें 'प्रत्यक्ष' और 'स्मृति' दोनों का योग पाया जाता है। 'प्रत्यभिज्ञा' का लक्षण दिया गया है— 'तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा'[२]— यहाँ 'तत्ता' और 'इदन्ता' का अवगाहन करने वाली प्रतीति को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। यहाँ 'तत्ता' का अर्थ है तद् अर्थात् तद्देश और तत्काल (पूर्वदेश और पूर्वकाल) से सम्बद्ध रूप और 'इदन्ता' का अर्थ है— एतद्देश और एतत्काल से सम्बद्ध वस्तु का रूप। तात्पर्य यह है, कि जहाँ पूर्वदेश व पूर्वकाल तथा वर्तमान देश व वर्तमान काल में सम्बद्ध वस्तु की प्रतीति हो वहाँ प्रत्यभिज्ञा होगी। उदारहणार्थ— "सोऽयं देवदत्तः"— यही वही देवदत्त है। मान लीजिए देवदत्त को हमने पहले कहीं और देखा है, और अब हम उसे यहाँ देख रहे हैं। ऐसी स्थिति में हमें देवदत्त में पूर्वदेश तथा पूर्वकाल से सम्बद्ध होने की भी प्रतीति होती है और इस देश तथा काल से सम्बद्ध होने की भी। अतः इस प्रतीति को हम "प्रत्यभिज्ञा" कहते हैं। प्रत्यभिज्ञा को प्रायः प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ही मान लिया जाता है।

यथार्थ ज्ञान के पर्याय के रूप में दर्शनों में 'प्रमा' शब्द भी प्रयुक्त होता है। प्रमा में जो विशेषताएँ दर्शनकारों ने मानी हैं, उनके अनुसार यह ज्ञान अर्थ (विषय) के रूप में होना चाहिए, स्मृति के रूप में प्राप्त नहीं होना चाहिए। यह ज्ञान निश्चयात्मक होना चाहिए। इस ज्ञान का किसी अन्य ज्ञान द्वारा बोध नहीं होना चाहिए। यह ज्ञान का कारण दोष रहित होना चाहिए और यह ज्ञान अर्थक्रियाकारी होना चाहिए। यदि 'प्रमा' के स्वरूप पर विचार किया जाये तो जो विशेषताएँ ऊपर बतलायी गयी हैं वे तो इसमें होती ही हैं। यह ज्ञान वस्तुतः यथार्थ होता है और विश्वास योग्य भी।

---

१. तर्कसंग्रह पृ० ५७

२. तर्कभाषा पृ० १७

प्रमाण–'प्रमा' की प्राप्ति किसी ने किसी साधन द्वारा होती है। अत: प्रमा की प्राप्ति के साधन ही 'प्रमाण' कहलाते हैं। प्रमाणों के स्वरूप और उनके भेदों के विषय में भारतीय दर्शनों में पर्याप्त मतभेद हैं। प्रत्येक ज्ञान का साधन प्रमाण नहीं होता। उस साधन में किसी प्रकार का अतिशय होना चाहिए। प्रमा का अतिशय साधक ही 'प्रमाण' होता है। भारतीय दर्शनों में कुल मिलाकर आठ प्रमाण मान्य हैं। पौराणिकों के अनुसार भी आठ प्रमाण माने जाते हैं— जो इस प्रकार हैं— 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'शब्द' या 'आगम', 'उपमान', 'अर्थापत्ति', 'अभाव', 'ऐतिह्य' और 'सम्भव'। 'चार्वाक्' दर्शन केवल 'प्रत्यक्ष' प्रमाण को स्वीकार करता है।[१] 'वैशेषिक' तथा 'बौद्ध' दर्शन 'प्रत्यक्ष' तथा 'अनुमान' इन दो प्रमाणों को स्वीकार करते हैं।[२] 'जैन', 'सांख्य' तथा 'योग' तीन प्रमाणों को मानते हैं।[३] 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान' तथा 'शब्द'। 'न्याय' इन तीनों के साथ चौथे 'उपमान'[४] प्रमाण को भी स्वीकार करता है। 'मीमांसा' दर्शन का 'प्रभाकर सम्प्रदाय' – 'अर्थापत्ति' सहित पाँच प्रमाण स्वीकार करता है। 'मीमांसा' का 'भाट्ट' सम्प्रदाय तथा 'वेदान्त' 'अभाव', सहित आठों प्रमाण स्वीकार करते हैं।[५] इन प्रमाणों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना उचित प्रतीत होता है।

१. प्रत्यक्ष प्रमाण– प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय में यद्यपि पर्याप्त मतभेद हैं, तथापि सामान्यत: इन्द्रियों द्वारा विषयों के साथ सम्पर्क से प्राप्त ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' माना जाता है।[६] 'अद्वैत वेदान्त' में बिना इन्द्रियों के सम्पर्क के भी 'प्रत्यक्ष' ज्ञान स्वीकार किया जाता है।[७] 'जैन' दर्शन के अनुसार ज्ञान के दो भेद हैं—परोक्ष तथा अपरोक्ष, वे इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान को 'अपरोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत रखते हैं।'[८]

२. शब्द प्रमाण– विश्वसनीय व्यक्तियों के कथन से या शास्त्र से प्राप्त ज्ञान 'शब्द' प्रमाण हैं।[९]

---

१. भारतीय दर्शन की समस्याएँ। पृ० २८९
२. वही, पृ० २८९
३. वही, पृ० २८९
४. वही, पृ० २८९
५. वही, पृ० २८९
६. वही, पृ० २८९
७. वही, पृ० २८९
८. वही, पृ० २८९
९. वही, पृ० २८९

३. अनुमान प्रमाण– दो वस्तुओं में स्वाभाविक साहचर्य के ग्रहण से एक के प्रत्यक्ष ज्ञान से दूसरी परोक्ष वस्तु का ज्ञान 'अनुमान' कहलाता है।[१]

४. उपमान प्रमाण–सादृश्य ज्ञान द्वारा संज्ञा-संज्ञि के सम्बन्ध का बोध 'उपमान' प्रमाण होता है।[२] उदाहरण के लिए– जैसी गाय होती है, वैसे 'गवय' (नील गाय) होती है। 'गवय' का बोध यहाँ 'उपमान' प्रमाण है।

५. अर्थापत्ति प्रमाण– किसी अनुपपन्न विषय को देखकर या सुनकर उसको उपपन्न करने वाली बात की कल्पना करना 'अर्थापत्ति' है।[३]

६. अभाव प्रमाण– किसी वस्तु की अनुपलब्धि को 'अभाव' प्रमाण माना जाता है।[४]

७. ऐतिह्य प्रमाण– इतिहास की परंपरा से प्राप्त ज्ञान 'ऐतिह्य' कहलाता है।[५]

८. सम्भव प्रमाण– अवयवी में अवयवों का बोध करने वाला प्रमाण 'सम्भव' प्रमाण कहलाता है।[६]

यहाँ अत्यन्त संक्षिप्त रूप में प्रमाणों के लक्षण प्रस्तुत किये गए हैं। इनसे प्रमाणों के व्यावहारिक पक्ष को समझने में सहायता तो प्राप्त होती है, किन्तु आत्मा सन्तुष्ट नहीं हो पाती। अतः इन प्रमाणों के विषय में विविध दार्शनिकों में जो मतभेद हैं उन पर पारिभाषिक रूप से विशदता से विचार करना अपेक्षित प्रतीत होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत हमारी चेतना किसी न किसी प्रकार विषय के सम्पर्क में आयी हुई मानी जाती है। सामान्यावस्था में हमारी चेतना और विषय का सम्पर्क ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से होता है, किन्तु योगियों के प्रत्यक्ष में इन्द्रियों का माध्यम भी समाप्त हो जाता है और चेतना सीधे विषय के सम्पर्क में आ जाती है। सभी दर्शनों में प्रत्यक्ष सम्बन्ध शब्द का प्रयोग साक्षात् रूप से प्राप्त होने वाले ज्ञान और उसके साधन दोनों के लिए होता है। इससे प्रत्यक्ष प्रमा और प्रमाण दोनों सिद्ध हो जाते हैं। प्रत्यक्ष के दो भेद 'निर्विकल्पक'

---

१. भारतीय दर्शन की समस्याएँ। पृ० २८९

२. वही, पृ० २८९

३. वही, पृ० २८९

४. वही, पृ० २८९, ९०

५. वही, पृ० २९०

६. वही, पृ० २९०

और 'सविकल्पक' माने जाते हैं। नाम, जाति आदि योजना विषयक ज्ञान 'सविकल्पक' माना जाता है और नाम, जाति आदि से रहित, यह कुछ है- ऐसा ज्ञान 'निर्विकल्पक' कहा जाता है। गौतम के अनुसार इन्द्रियों और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न शब्द संसर्ग की योग्यता से रहित, भ्रम रहित और निश्चयात्मक ज्ञान 'प्रत्यक्ष' कहलाता है– ''इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम् अव्यपदेश्यम् अव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।''[१] इस लक्षण में गौतम ने ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है जबकि बाद के नैयायिक सामान्यतः 'प्रमा' और 'प्रमाण' में अन्तर करते हैं और प्रमाण को ज्ञान स्वरूप, ज्ञानरहित स्वरूप वाला दोनों प्रकार का मानते हैं। 'जयन्त' और 'वाचस्पति मिश्र' ने इसमें 'यतः' जोड़कर जिससे इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान हो वह अर्थ ग्रहण किया है।[२] अतः ज्ञान के साधन की व्याख्या उनके अनुकूल हो गयी। किन्तु यह व्याख्या खींचतान ही प्रतीत होती है। ऊपर की इस परिभाषा में 'अव्यपदेश्यम्', 'अव्यभिचारि', 'व्यवसायात्मक शब्द', भ्रम की स्थिति को उत्पन्न करते हैं। 'वात्स्यायन' की दृष्टि से प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार है– 'इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष है, जो शब्द संसर्ग से रहित हो, जो भ्रमात्मक तथा सन्देहात्मक न हो। 'उद्योतकर' ने इन्द्रिय 'मन' के सन्निकर्ष को लक्षण में ग्रहण नहीं किया है। 'जयनारायण' के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान में आत्मा समवायिकारण है। मन और आत्मा का संयोग असमवायि कारण है और इन्द्रिय तथा विषय का सन्निकर्ष निमित्त कारण है।[३] यद्यपि प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में आत्मा और मन का सन्निकर्ष तथा इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष दोनों ही कारण है तथापि 'गौतम' और 'वात्स्यायन' के अनुसार इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष की प्रधानता होती है। यहाँ विषय इन्द्रिय से सन्निकर्ष ज्ञान की उत्पत्ति में प्रमुख कारण है।

'गौतम' की प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'प्रमा' और 'प्रमाण' का कोई अन्तर नहीं है तथा 'निर्विकल्पक' और 'सविकल्पक' का कोई भेद नहीं है। 'प्रशस्तपादभाष्य' में प्रथम वार 'निर्विकल्पक' और 'सविकल्पक' प्रत्यक्ष इन दोनों का वर्णन आता है। 'प्रशस्तपाद' के अनुसार तीन द्रव्यों (पृथ्वी, जल, अग्नि) में जिनमें 'यत्त' परिमाण होता है, उनके अवयव, अद्भुतरूप, प्रकाश, चार प्रकार के सन्निकर्ष और धर्मादि

---

१. न्यायसूत्र १.१.४

२. न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका, पृ० ९४ तथा न्यायमञ्जरी, भाग १, पृ० ६१

३. वैशेषिक सूत्र वृत्तिः ८.३.१

सामग्री के होने पर, वस्तु के स्वरूप का आलोचन मात्र उत्पन्न होता है और पुनः मन के आत्मा के साथ सम्पर्क द्वारा सामान्य, विशेष, द्रव्य, गुण और कार्य इन विशेषणों की अपेक्षा से प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है, जिसका स्वरूप 'गाय' सत् है, द्रव्य है, पृथ्वी है, सींगों से युक्त है श्वेत है, जाती है, इस प्रकार का होता है।[१] यहाँ प्रथम आलोचन मात्र निर्विकल्पक ज्ञान के समकक्ष है और द्वितीय सविकल्पक ज्ञान के समकक्ष। 'प्रशस्तपाद' ने प्रथम स्वरूप आलोचना मात्र को प्रमाण कहा है तथा द्वितीय सविकल्पक ज्ञान को प्रमा कहा है।[२] 'वाचस्पति मिश्र' ने सविकल्पक और निर्विकल्पक दोनों को पृथक् दिखलाया है। उन्होंने प्रत्यक्ष को साधन के रूप में माना है। तर्क भाषा में प्रत्यक्ष ज्ञान तीन रूपों में माना गया है। निर्विकल्पक, सविकल्पक, हानोपादानोपेक्षा बुद्धि, 'भासर्वज्ञ' में सम्यक् और अपरोक्ष अनुभव के साधन को प्रत्यक्ष कहा है।[३] इनके अनुसार ज्ञान का प्रत्यक्ष है, जिसमें इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष कोई आवश्यक साधन नहीं है। 'विश्वनाथ' ने 'गंगेश' का अनुसरण करते हुए ऐसे ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है, जिसका कारण कोई और ज्ञान न हो, जिसका अभिप्रायः यह है, कि शब्द, अनुमान, उपमान तथा स्मृति में किसी प्रकार अन्य ज्ञान का सहारा लेना पड़ता है, किन्तु उनसे भिन्न अपरोक्ष, ज्ञान भिन्न है। यह ज्ञान इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष द्वारा भी उत्पन्न हो सकता है और बिना उसके भी, जैसे — ईश्वर या योगियों का ज्ञान होता है।

इस प्रकार अनेकों दार्शनिकों ने 'प्रत्यक्ष' प्रमाण के स्वरूप को नाना रूपों में प्रस्तुत किया है।

'प्रत्यक्ष' ज्ञान के लिए किसी न किसी प्रकार से विषय का सन्निकर्ष प्राप्त करना आवश्यक होता है। 'न्यायदर्शन' में इस सन्निकर्ष के प्रथमतः दो भेद माने हैं—लौकिक सन्निकर्ष तथा अलौकिक सन्निकर्ष।[४] लौकिक सन्निकर्ष जो कि द्रव्य, गुण और जाति में होता है, यह सन्निकर्ष छह प्रकार का होता है— (१) संयोग, (२) संयुक्त समवाय, (३) संयुक्त समवेत समवाय,(४) समवाय, (५) समवेत-समवाय, (६) विशेषणविशेष्यभाव (तर्कभाषा)। अलौकिक सन्निकर्ष तीन प्रकार का है— (१) सामान्य लक्षण, (२) ज्ञान लक्षण व (३) योगज इन सन्निकर्षों के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान का अनुभव होता है। 'मीमांसा' दर्शन में प्रत्यक्ष का स्वरूप 'न्याय वैशेषिक' से भिन्न

---

१. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० ४४८, ४४९
२. वही, पृ० ४७१
३. न्यायसार पृ० १७
४. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ (डॉ० महेश भारतीय) पृ० २९७

नहीं है। मुख्य अन्तर यह है, कि 'न्याय वैशेषिक' 'ईश्वर प्रत्यक्ष' और 'योगज प्रत्यक्ष' मानता है जबकि 'मीमांसा' में इन दोनों को स्वीकार नहीं किया गया है।[१] 'कुमारिल' ने 'योगज प्रत्यक्ष' को असम्भव माना है और उसे 'स्मृति रूप' माना है। 'भाट्ट' मीमांसकों के अनुसार इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष तो आवश्यक है, किन्तु इन्द्रियों का प्रात्यकारित्व है। 'मीमांसक' 'नैयायिकों' के समान ही निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों प्रकार का प्रत्यक्ष मानते हैं। वे इस विषय में 'बौद्धों', 'अद्वैत' वेदान्तियों तथा ''वैयाकरणों'' का खण्डन करते हैं। 'बौद्ध' सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं मानते। 'अद्वैत वेदान्तियों' के अनुसार सविकल्पक ज्ञान से सत्य ग्रहण नहीं होता और 'वैयाकरण' निर्विकल्पक ज्ञान की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। 'मीमांसक' इन सब का खण्डन कर निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों प्रकार के प्रत्यक्षों की स्थापना करते हैं।

'सांख्यसूत्र' के अनुसार प्रत्यक्ष ऐसा ज्ञान है, जो विषय से सम्बद्ध होकर उसके आकार को धारण कर लेता है। 'यत् सम्बन्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्'[२] योगियों के भूत और विषयों के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए सांख्य सूत्र में दो प्रकार से अन्तर किया है, कि उपयुक्त लक्षण केवल इन्द्रिय प्रत्यक्ष के लिए है। योगियों के ज्ञान में इन्द्रिय प्रत्यक्ष की आवश्यकता नहीं होती।[३] 'सांख्य सूत्र' के अनुसार ईश्वर की सिद्धि प्रमाणों से नहीं होती।[४] सांख्यकारिका के अनुसार 'प्रतिविषयोऽध्यवसायो दृष्टम्'– यह दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण है।[५] 'वाचस्पतिमिश्र' के अनुसार इसमें 'प्रतिविषय' का अर्थ है– विषयों के प्रति व्यापारयुक्त अर्थात् अर्थ से सन्निकृष्ट इन्द्रियों पर अध्वसाय का अर्थ है निश्चयात्मक ज्ञान। अतः अर्थ से सन्निकृष्ट इन्द्रियों पर आश्रित निश्चयात्मकज्ञान प्रत्यक्ष है। 'सांख्य' व 'योग' के अनुसार प्रत्यक्ष प्रक्रिया इस प्रकार मानी जाती है– ज्ञानेन्द्रियों और अर्थ के सन्निकर्ष से बुद्धि वृत्ति का तमोगुण दब जाता है और वह बाहर जाकर विषयाकार हो जाती है। इससे प्रथमतः निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है, जो विशेषण रहित होता है। मन उसे सविकल्पक अर्थात् विशेषण

१. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ– पृ० २९९

२. सांख्यसूत्र १.८९

३. वही, .१.९०

४. वही, १.९२

५. सांख्यकारिका पृ० ५

युक्त बना देता है। अहंकार उसे अभियुक्त बना देता है अर्थात् अहंकार द्वारा मनुष्य को उस विषय के साथ अपने सम्बन्ध का बोध होता है। फिर बुद्धि यह निर्णय लेती है, कि उस विषय के सम्बन्ध में क्या किया जाना चाहिए। यही प्रत्यक्ष प्रमाण है। पुरुष के बुद्धि में प्रतिबिम्ब को या बुद्धि के पुरुष में प्रतिबिम्ब द्वारा पुरुष को जो इस विषय का बोध होता है वह पौरुषेय बोध या प्रमा है।

'अद्वैतवेदान्त' की प्रत्यक्ष प्रक्रिया का स्पष्ट विवेचन धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत 'वेदान्त परिभाषा' में प्राप्त होता है। 'अद्वैतवेदान्त' के अनुसार परम तत्त्व केवल— एक ब्रह्म है। वह शुद्ध चैतन्य है और कूटस्थ नित्य है। अत: पारमार्थिक दृष्टि से इसमें किसी प्रकार के ज्ञान के उत्पन्न होने का प्रश्न नहीं उठता है। जितना भी ज्ञान होता है वह अज्ञानोपहित चैतन्य में अर्थात् व्यावहारिक सत्ता में। "अज्ञान से उपहित होकर चैतन्य तीन भागों में बँट जाता है— (१) विषय चैतन्य (२) प्रमाण चैतन्य (३) प्रमातृ चैतन्य। विषय से अविछिन्न चैतन्य 'विषय चैतन्य' है। अन्त:करण से अविछिन्न चैतन्य 'प्रमातृ चैतन्य' है और अन्त:करण की दृष्टि से अवच्छिन्न चैतन्य 'प्रमाणचैतन्य' है।"[१]

प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण धर्मराजाध्वरीन्द्र ने 'प्रत्यक्ष प्रमा का कारण दिया है।'[२] प्रत्यक्ष प्रमा चैतन्य ही है। चैतन्य यद्यपि आदि हैं तथापि इन्द्रिय सन्निकर्ष आदि द्वारा उसको प्रकट करने वाली अन्त:करण की वृत्ति उत्पन्न होती है। अत: इस वृत्ति से विशिष्ट चैतन्य उत्पन्न हुआ माना जाता है। यह वृत्ति क्योंकि ज्ञान की अवच्छेदक है अत: इस भी उपचारवश 'ज्ञान' कह दिया जाता है।[३]

प्रत्यक्ष की प्रक्रिया इस प्रकार है— जैसे तालाब का जल छिद्र से निकलकर नाली द्वारा खेतों में प्रवेश करके उसके समान ही चौकोर आदि आकार वाला हो जाता है उसी प्रकार तेजस् अन्त:करण चक्षु आदि के द्वारा निकलकर घट आदि विषयगत स्थान पर जाकर घट आदि विषय के आकार में परिणत हो जाता है। अन्त:करण का यही परिणाम 'वृत्ति' कहलाता है। अनुमिति में प्रत्यक्ष से यही अन्तर होता है, कि अनुमिति में अन्त:करण अग्नि आदि के स्थान पर नहीं जाता क्योंकि अग्नि आदि का चक्षु आदि के साथ सन्निकर्ष नहीं होता।[४] प्रत्यक्ष में जब अन्त:करण की वृत्ति बाहर जाकर

---

१. वेदान्त परिभाषा पृ० ३७

२. वही, पृ० २०

३. वही, पृ० २५ एवं (भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ) पृ० ३०८-३०९

४. वही, पृ० ३९

घटाकार हो जाती है तो घटाविछिन्न चैतन्य तथा घटाकार वृत्ति में अविच्छिन्न चैतन्य में अभेद हो जाने से घट का प्रत्यक्ष होता है।[१] दूसरे शब्दों में 'यह घट है' इस प्रकार का ज्ञान विषय चैतन्य तथा प्रमाण चैतन्य के अभेद होने पर होता है।

जिस प्रकार बाह्य विषय के 'प्रत्यक्ष' में विषय चैतन्य तथा वृत्ति चैतन्य में अभेद होने पर प्रत्यक्ष होता है उसीप्रकार आन्तरिक विषय सुख आदि के प्रत्यक्ष में भी सुख आदि से अविच्छिन्न चैतन्य तथा सुख आदि के आकार में परिणत अन्तःकरण की वृत्ति से अविछिन्न चैतन्य का अभेद हो जाता है। यहाँ विषयाविच्छिन्न चैतन्य तथा वृत्यविच्छिन्न चैतन्य दोनों एक स्थान पर स्थित उपाधियों से अविच्छिन्न हो जाते हैं और 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है।[२] दूसरे शब्दों में यहाँ सुखादि तथा तदाकार वृत्ति दोनों का आधार अन्तःकरण होता है।

बौद्धों में पारमार्थिक सत्ता के विषय में विभिन्न मत प्राप्त होते हैं 'दिङ्नाग' ने अपने 'प्रमाण समुच्य' नामक ग्रन्थ में प्रत्यक्ष का लक्षण कल्पना से रहित अर्थात् नाम, जाति आदि से रहित (ज्ञान) दिया था।[३] 'धर्म कीर्त्ति' ने इसे और परिष्कृत करके "कल्पना से रहित अभ्रान्त (ज्ञान) प्रत्यक्ष है" यह लक्षण दिया।"[४] इसमें ज्ञान के विशेषणों में 'इन्द्रियार्थ जन्य' नहीं रखा गया है; क्योंकि यदि ऐसा करते तो, 'धर्मोत्तर' के अनुसार यह लक्षण मनोविज्ञान पर घटित नहीं होता जिसको 'बौद्धों' ने इंद्रियजन्य न मानते हुए प्रत्यक्ष ही माना है। 'धर्मोत्तर' ने इसे "साक्षात्कारि ज्ञान" कहा है, किन्तु साक्षात्कारि ज्ञान का अर्थ इन्द्रियाश्रित ज्ञान नहीं लिया जाना चाहिए अपितु अपरोक्ष के माध्यम से सीधे अर्थ का ज्ञान लिया जाना चाहिए। कल्पना से रहित तथा भ्रान्ति से रहित जो साक्षात्कारि ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है। 'बौद्ध' केवल निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं क्योंकि सविकल्पक ज्ञान में कल्पना का अंश रहता है। आचार्य 'धर्मकीर्ति' ने चार प्रकार के प्रत्यक्ष माने हैं– (१) इन्द्रिय ज्ञान (२) मनोविज्ञान (३) स्वसंवदेन तथा (४) योगि प्रत्यक्ष। इन्द्रिय आश्रित ज्ञान इन्द्रिय ज्ञान है,यह शुद्ध संवेदन है। इसके तुरन्त पश्चात् मनोविज्ञान की उत्पत्ति होती है। मनोविज्ञान चक्षु व्यापार के समाप्त होनेपर उत्पन्न होता है। 'बौद्धों' ने प्रत्येक प्रकार के संवेदन को आत्म संवेदन भी माना है।

---

१. वेदान्त परिभाषा, पृ० ४२

२. प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्। ३९

३. कल्पनापोढ़म् अभ्रान्तं प्रत्यक्षम्-न्यायबिन्दु, पृ० ८

४. वही, पृ० ८

घटादि विषयों का ज्ञान चित्त कहलाता है। इसकी सुखादि विशेष अवस्था का ग्रहण करने वाला ज्ञान चैत्त कहलाता है। चित्त और चैत्त दोनों का ही आत्म संवेदन होता है। रूपादि का संवेदन होते ही सुखादि के रूप में उसकी अनुभूति होती है। यही आत्म संवेदन है। यह कल्पना रहित और निभ्रान्त है, अत: प्रत्यक्ष है।[१]

'धर्मकीत्ति' के अनुसार सत्य अर्थ की भावना के प्रकरण पर्यन्त से उत्पन्न योगिज्ञान है।[२] सत्य अर्थ वह है, जो प्रमाणों द्वारा ग्रहण किया गया हो, जैसे– चार अर्थ सत्यादु:ख, सु:ख समुदाय (दु:ख निरोध और दु:ख निरोधोपाय)। सत्य अर्थ की बार–बार चित्त में स्थापना करना भावना है। इस भावना के प्रकरण पर्यन्त द्वारा भाव्यमान अर्थ का समीपस्थ, अर्थ के समान स्फुटकर आकार को ग्रहण कराने वाला ज्ञान 'योगिप्रत्यक्ष' कहलाता है।[३] 'धर्मोत्तर' के अनुसार योगी भावनाप्रकर्ष की अवस्था में वस्तु को हस्तामलकवत् देखता है। यह ज्ञान के स्फुटाभ होने के कारण निर्विकल्पक और प्रमाण द्वारा निश्चित अर्थ का ग्राहक होने से अभ्रान्त है, अत: प्रत्यक्ष है।[४]

जैन मत में दो प्रकार की प्रमा को स्वीकार किया गया है 'अपरोक्ष' और 'परोक्ष'।[५] ज्ञान जब माध्यम रहित और स्पष्ट होता है तो 'अपरोक्ष' होता है। जब यह माध्यम सहित होता है तो 'परोक्ष' होता है। इनमें अपरोक्ष ज्ञान ही प्रत्पक्ष ज्ञान है; क्योंकि इसमें ज्ञान इन्द्रियों या मन द्वारा सीधे ग्रहण किया जाता है जबकि अनुमान, शब्द आदि प्रमाणों से प्राप्त ज्ञान दूसरे ज्ञान के माध्यम से ज्ञात होता है, अत परोक्ष होता है। कुछ आचार्य प्रत्यक्ष को परोक्ष ज्ञान मानते हैं क्योंकि इसमें इन्द्रिय का माध्यम आवश्यक है और साथ ही इसमें भ्रम की भी संभावना रहती है। 'माणिक्यनन्दी' ने प्रत्यक्ष का लक्षण दिया है– ''विशदं प्रत्यक्षम्'' अर्थात् स्पष्ट ज्ञान प्रत्यक्ष है।[६] विशद ज्ञान वह है, जो अपरोक्ष हो और जिसमें विषय के सभी धर्मों का ज्ञान हो।[७]

---

१. न्यायबिन्दु पृ० १४

२. न्यायबिन्दु पृ० १४

३. न्यायबिन्दुटीका, पृ० १५,१६

४. वही, पृ० १५

५. परीक्षामुखसूत्र माणिक्यनन्दीकृत ११ पृ० १-२

६. वही, ११ पृ० ३

७. वही, ११ पृ० ४

प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है— सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष तथा मुख्य प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष।[१] सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष पुनः दो प्रकार का होता है— इन्द्रिय सम्बन्धन जो इन्द्रियों से उत्पन्न हो तथा अनिन्द्रिय निबन्धन-जो इन्द्रियों से उत्पन्न न हो। 'जैन' मत में मन को अनिन्द्रिय कहा गया है। अतः अनिन्द्रिय सम्बन्धन प्रत्यक्ष मानस प्रत्यक्ष है। मुख्य प्रत्यक्ष तीन प्रकार का है (१) अवधि (२) मनः पर्याय तथा (३) केवल। 'अवधि ज्ञान' काल तथा देश की दृष्टि से दूर स्थिर विषय का ज्ञान है। 'मनः पर्याय' दूसरे के मनों में स्थित विचारों का ज्ञान है तथा 'केवल ज्ञान' देश काल की सीमा से रहित सर्वज्ञता है।[२]

'जैन' मत के अनुसार आत्मा की चेतना सक्रिय है। आत्मा ज्ञान के समय विषयों के साथ-साथ अपने को भी प्रकाशित करती है। प्रत्येक ज्ञान में विषय के साथ-साथ आत्मा का भी ज्ञान होता है। हमारा प्रत्येक ज्ञान 'मैं जानता हूँ' इस रूप में होता है।[३]

इस प्रकार यहाँ प्रमुखता के साथ सभी भारतीय दर्शन में प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञान और प्रत्यक्ष प्रमाण पर विशुद्धता से विचार किया गया। इतना सब कुछ विवेचन होने पर भी व्यावहारिक रूप से इस प्रमाण की कुछ ऐसी कठिनाईयाँ हैं जिन पर अभी विचार किया जाना अपेक्षित है। यह सत्य है, कि अन्य प्रमाणों की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्रमाण पर विद्वानों ने बहुत गम्भीरता से विचार किया, किन्तु अभी तक यह निश्चित नहीं हो पाया कि प्रत्यक्ष केवल ज्ञानरूप है अथवा ज्ञान और ज्ञान रहित दोनों रूपों वाला है। निर्विकल्पक और सविकल्पक भी अभी तक बहुत स्पष्ट नहीं है। प्रत्यक्ष ज्ञान क्या केवल इन्द्रिय जन्य ज्ञान ही है? अथवा बिना इन्द्रियों के भी हो सकता है। प्रत्यक्ष को इन्द्रिय जन्य मानने पर भी विषय के साथ क्या इन्द्रिय का सम्पर्क होता है अथवा नहीं? ये सभी प्रश्न अभी विवादित हैं।

यदि स्वामी दयानन्द की दृष्टि से इन पर विचार किया जाये जैसा कि उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' में अष्ट प्रमाणों और ज्ञान के विषय में विवेचन किया है, उससे प्रतीत होता है, कि स्वामी जी ने विविध विवादों की गहराई में जाकर सामान्य रूप से व्यावहारिक और यथार्थ प्रत्यक्ष को वेदों के मत से पुष्ट करते हुए उचित माना है। मानव जीवन के लिए प्रत्यक्ष की यही यथार्थता व्यवहारोपयोगी है।

---

१. परीक्षामुख सूत्र- ११ पृ० ५,११

२. परीक्षामुख सूत्र- ११, पृ० ५

३. द्र०, नारायण स्वामी द्राविड़—भारतीय मनोविज्ञान, पृ० ४५

आगे यथास्थान इस पर विशुद्धता से विचार किया जायेगा। अब विविध विद्वानों की दृष्टि से अनुमान प्रमाण का जो स्वरूप है उस पर विचार किया जा रहा है।

अनुमान– प्रत्यक्ष के पश्चात् अनुमान प्रमाण पर भारतीय दर्शनकारों ने विचार किया है। सामान्य रूप से 'न्यायदर्शन' ने 'अनुमान' की जिस प्रक्रिया को अपनाया है उसी को अन्य दर्शनकारों ने भी स्वीकार किया है। 'बौद्ध' दर्शन में उक्त अनुमान से अन्तर पाया जाता है। 'नव्यन्याय' ने भी अनुमान के चिन्तन को पर्याप्त गहराई तक पहुँचाने का प्रयास किया है। सामान्यतः 'लिंग परामर्श' को अनुमान कहा जाता है। साहचर्य का नियम व्याप्ति है। व्याप्त के बल से अर्थ तक पहुँचाने वाला साधन लिंग कहलाता है। पर्वत के पीछे धूमादि के अनुमान में उसका तृतीय ज्ञान 'परामर्श' कहलाता है, जो अनुमिति के प्रति करण होने से अनुमान प्रमाण कहलाता है।

'नैयायिकों' और 'बौद्धों' में जिन वस्तुओं पर विवाद पाया जाता है वे इस प्रकार हैं—

(१) पक्षता अर्थात् अनुमान-स्थल

(२) अनुमिति-करण अर्थात् अनुमान ज्ञान द्वारा प्राप्त ज्ञान के प्रमुख साधन

(३) हेतु-रूप-सद् हेतु की आवश्यक शर्तें

(४) व्याप्ति

(५) हेत्वाभास— अर्थात् असत् जो हेतु जैसे प्रतीत होते हैं वे वास्तविक हेतु नहीं होते।

'न्याय' के अनुसार 'अनुमान' की प्रक्रिया इस प्रकार है— हम बार-बार रसोई आदि स्थानों पर धूम को देखकर यह व्याप्ति स्थापित कर लेते हैं कि "जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है।" फिर कभी हम पर्वत आदि के पक्ष में धूम को देखते हैं। धूम को देखकर हमें व्याप्ति का स्मरण हो जाता है, कि जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है। व्याप्ति स्मरण के बाद हम पुनः धूम को "अग्नि से व्याप्त धूम" के रूप में ग्रहण करते हैं। धूम के इस ज्ञान के तुरन्त बाद हमें पर्वत में अग्नि के होने का बोध हो जाता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में अग्नि के ज्ञान से ठीक पहले होने वाला ज्ञान "अग्नि से व्याप्त धूम" है। इसे 'न्याय' में 'परामर्श' कहा गया है।[१] 'न्याय' में प्रायः इस 'परामर्श' को

---

१. परामर्श को लिङ्ग का तीसरा ज्ञान कहा गया है। व्याप्ति को ग्रहण करते समय जो हमें रसोई आदि से धूम का ज्ञान होता है। वह प्रथम ज्ञान है। पर्वत आदि के पक्ष में जो हम धूम को देखते हैं, यह उसका दूसरा ज्ञान है। व्याप्ति को स्मरण करने के बाद हम जो पुनः देखते हैं, यह उसका तीसरा ज्ञान है। द्र० तर्कभाषा— पृ० ११३, ११६

ही अनुमिति का कारण या 'अनुमान' कहा गया है। इस परामर्श का कारण द्विविध ज्ञान है– (१) पक्षधर्मता अर्थात् पर्वत आदि पक्ष में धूम आदि हेतु के होने का ज्ञान और (२) व्याप्ति ज्ञान उदाहरणार्थ– जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है यह ज्ञान उस विविध ज्ञान को भी प्राय: अनुमिति का करण या 'अनुमान' माना गया है। जब इस विविध ज्ञान को करण माना जाता है तो 'परामर्श' को व्यापार माना जाता है।

'बौद्ध' क्योंकि-प्रमाण और प्रमाण का फल एक ही मानते हैं—अत: उनकी दृष्टि से अनुमिति और अनुमान एक ही हैं। धूम से अग्नि के अनुमान में अग्नि का ज्ञान उनकी दृष्टि से अनुमान प्रमाण और अनुमिति दोनों हैं। यदि और स्पष्ट करें तो अनुमान द्वारा प्राप्त अग्नि के स्वरूप का ज्ञान अनुमान प्रमाण है और अग्नि विकल्प अनुमान फल या अनुमिति है, किन्तु दोनों क्योंकि एक ही ज्ञान के दो पत्र हैं अत: अनुमान और अनुमिति को एक ही माना जा सकता है।[१]

जाति के सम्बन्ध में 'बौद्ध', 'जैन' और 'मीमांसा' दर्शनों में अन्तर है, सन्देह रहित नियम बनाना सरल काम नहीं है। व्यावहारिक सत्य पर भी इस दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए।

अनुमान के प्रकारों के विषय में भी मतभेद हैं। 'न्याय', 'बौद्ध' 'वैशेषिक' और 'जैन' आचार्य स्वार्थानुमान और परार्थानुमान दो भेद मानते हैं। 'मीमांसा' के आचार्य 'उम्बेक' तथा 'सुचरित्र मिश्र' अनुमान के स्वार्थ और परार्थ के वर्गीकरण के ही विरुद्ध हैं। उनके अनुसार अनुमान कार्य स्वार्थ ही हो सकता है। इस अनुमान का कथन वाक्यों से अवश्य किया जा सकता है, किन्तु फिर यह अनुमान प्रमाण न रहकर शब्द प्रमाण हो जाता है।[२] 'गौतम' ने अनुमान के तीन भेद माने हैं– (१) पूर्ववत्, (२) शेषवत् तथा (३) सामान्यतोदृष्ट।[३] इनमें 'पूर्ववत्' अनुमान वह है जहाँ कारण को देखकर कार्य का अनुमान किया जाए जैसे—वर्षोन्मुख मेघ को देखकर भावी वृष्टि का अनुमान। 'शेषवत्' में अनुमान कार्य को देखकर कारण का अनुमान किया जाता है, जैसे– नदी में बाढ़ को देखकर पर्वत पर वृष्टि का अनुमान। 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान वह है जहाँ पूर्वोक्त दोनों से भिन्न सादृश्य ज्ञान द्वारा अप्रत्यक्ष का ज्ञान किया जाये, जैसे– मनुष्य को एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचने में पहले प्रत्यक्षतः गति

---

१. न्यायबिन्दु पृ० २१
२. श्लोकवार्तिक, अनु० ५३ पर तात्पर्यटीका तथा काशिका
३. न्यायसूत्र १.१.५

देखकर, फिर किसी मनुष्य को एक स्थान पर देखकर कालान्तर में उसमें गति का अनुमान करना।[१] 'वात्स्यायन' के अनुसार पूर्व अनुभव के समान अन्वय व्याप्ति के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति 'पूर्ववत्' अनुमान है, जैसे—धूम से अग्नि का अनुमान न बन सकने वाले विकल्प को देखकर जो शेष रह जाये उसे ही ग्रहण कर लेना 'शेषवत्' अनुमान है। सामान्य ज्ञान की व्याप्ति से लिंग से लिंगी का ज्ञान प्राप्त करना सामान्यतोदृष्ट अनुमान है, जैसे—इच्छादि से आत्मा का ज्ञान। 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में 'वाचस्पति मिश्र' ने प्रथमत: अनुमान के दो भेद किये हैं—वीत और अवीत। उनके अनुसार अन्वयव्याप्ति पर आश्रित अनुमान 'वीत' और व्यतिरेक व्याप्ति पर आश्रित अनुमान 'अवीत' है। 'वीत' के भी दो भाग किये हैं— 'पूर्ववत्' और 'सामान्यतोदृष्ट'। जिसका रूप पहले प्रत्यक्ष ग्रहण किया जा चुका है वह पूर्ववत् अनुमान है, जैसे—धूम के द्वारा पर्वत में अग्नि का अनुमान करना। जिसका विशेष रूप पहले कभी नहीं देखा, जो सामान्य को विषय करने वाला ज्ञान है, वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है जैसे—प्रत्यक्षादि क्रिया को देखकर चक्षु आदि इन्द्रियों का अनुमान। चक्षु आदि इन्द्रियों को स्वयं नहीं देखते अपितु चक्षु आदि करण के द्वारा अनुमान किया जाता है।[२]

अनुमान का एक वर्गीकरण 'व्याप्ति' के आधार पर भी किया गया है। 'अन्वय' और 'व्यतिरेक' की व्याप्ति होने से अनुमान प्रमाण तीन प्रकार का हो जाता है—'अन्वयव्यतिरेकी', 'केवलान्वयी' और 'केवलव्यतिरेकी'। जिस अनुमान में दोनों प्रकार की व्याप्तियां घटित होती हैं, वह 'अन्वयव्यतिरेकी' अनुमान कहा जाता है, जैसे — धूम से अग्नि का अनुमान। जहाँ केवल अन्वयव्याप्ति घटित होती है केवलान्वयी अनुमान, है। जहाँ केवल व्यतिरेक व्याप्ति घटित हो वह केवल 'व्यतिरेकी अनुमान होता है।'

यहाँ प्राय: अनुमान की न्याय प्रक्रिया को प्रमुखता से स्वीकार किया गया है। क्षणभंगुरता के कारण बौद्धों की जाति में भिन्नता आ जाती है, जिससे उसके पृथक् भेद बन जाते हैं। जैन-दर्शन की व्याप्ति की भी यही स्थिति है। 'मीमांसक' और अन्य टीकाकारों तथा सांख्य के अनुसार 'स्वार्थ' तथा 'वीत' और 'अवीत' के भेद सामान्य हैं।

---

१. न्यायसूत्र १.१.५ पर विश्वनाथवृत्तिः

२. सांख्यकारिका ५, पर सांख्यतत्त्वकौमुदी

शब्द– भारतीय दर्शनों में 'शब्द' प्रमाण पर भी विस्तृत विचार किया गया है। 'गौतम' ने शब्द प्रमाण को विश्वसनीय पुरुषों का कथन बतलाया है।[१] 'वात्स्यायन' के अनुसार आप्त पुरुष की दो विशेषताएँ हैं— उसने वस्तुओं के धर्मों को साक्षात् रूप से देखा हो और वह जैसा उसने देखा है वैसा ही कहने का इच्छुक है।[२] तात्पर्य यह है, कि उसे स्वयं वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान होना चाहिए और वह यथार्थ कहने का इच्छुक होना चाहिए। ऐसा पुरुष वात्स्यायन के अनुसार ''ऋषि हो सकता है, आर्ष भी हो सकता है और म्लेच्छ भी हो सकता है।''[३] 'गौतम' के अनुसार यह 'शब्द' प्रमाण दो प्रकार का है—दृष्ट और अदृष्ट।[४]

'वात्स्यायन' के अनुसार इस लोक के विषय दृष्ट हैं, जिनका साक्षात्कार सभी मनुष्य कर सकते हैं और दूसरे (स्वर्गादि) लोकों के विषय अदृष्ट हैं, जिनका साक्षात्कार केवल ऋषि कर सकते हैं। इस प्रकार ऋषियों के वाक्य भी शब्द प्रमाण हो सकते हैं और सामान्य लोगों के भी।[५] यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है, कि 'शब्द' प्रमाण आप्त व्यक्तियों का कथन है और कथन सदैव वाक्यात्मक होता है; अत: 'शब्द प्रमाण' के रूप में शब्दों को नहीं अपितु वाक्यों को प्रमाण जाना जाता है।[६] 'जयन्त' का मत है, कि यह आवश्यक नहीं है, कि आप्त वचन वाले पुरुष ने प्रत्यक्ष द्वारा ही ज्ञान ग्रहण किया हो, यदि उसने अनुमान आदि प्रमाण से भी ज्ञान को ग्रहण किया है तो भी वह आप्त बना रह सकता है।[७] 'वात्स्यायन' ने आप्त पुरुष में ईश्वर का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु 'न्याय' ईश्वर को भी आप्त पुरुष मानकर 'वेद' को ईश्वर की रचना मानकर सम्पूर्ण वेद को ही 'शब्द' प्रमाण के रूप में ग्रहण करता है।[८]

कई दर्शनकारों ने इस प्रश्न को उठाया है, कि क्या 'शब्द' प्रमाण स्वतन्त्र प्रमाण है। 'सांख्य कारिका' में 'ईश्वरकृष्ण' का कथन है, कि सामान्य विषयों का ग्रहण प्रत्यक्ष से तथा परोक्ष विषयों का ग्रहण अनुमान से होता है। जो विषय अनुमान से ग्रहण नहीं

---

१. आप्तोदेश: शब्द: १, न्यायसूत्र, १.१.७
२. उपर्युक्त पर वात्स्यायन भाष्य:
३. वही,
४. सद्विविधो दृष्टा दृष्टार्थत्वात्। न्यायसूत्र १.१.८
५. स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्। न्यायसूत्र १.१.८ पर वात्स्य ायन भाष्य
६. न शब्द भाग इति सूत्रार्थ:। न्यायसूत्र १.१.७ पर न्यायवार्तिक
७. न्यायमञ्जरी, भाग १ पृ० १३८१
८. तर्कभाषा (मुसलगांवकर) पृ० १९० तर्कसंग्रह पृ० ५३

किये जाते उन्हें 'आप्तागम' अर्थात् 'शब्द' प्रमाण से ग्रहण किया जाता है।[१] भारतीय दर्शनों में 'चार्वाक्' 'बौद्ध' और 'वैशेषिक' को छोड़कर सभी 'शब्द' प्रमाण को एक स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं किन्तु 'मीमांसकों' में प्रभाकर मतानुयायी केवल श्रुति को ही स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं। 'बौद्ध' और 'वैशेषिक' दर्शन शब्द को प्रमाण मानते हुए भी स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानते, इसे अनुमान में अन्तर्भूत कर लेते हैं। प्रभाकर मतानुयायी वेद को स्वतंत्र 'शब्द' प्रमाण मानते हुए भी लौकिक 'शब्द' प्रमाण को अनुमान के अन्तर्गत मानते हैं।

'बौद्ध' और 'वैशेषिक-दर्शन' 'शब्द' प्रमाण को स्वतंत्र प्रमाण न मानकर उसे 'अनुमान' का अंग मानते हैं। 'प्रभाकर' ने 'श्रुति' को 'शब्द' प्रमाण मानते हुए भी लौकिक शब्द को 'अनुमान' ही माना है। उनके अनुसार लौकिक वाक्य मानव के स्वाभाविक दोषों के कारण प्राय: दोषपूर्ण हो जाते हैं। अत: उन पर आश्रित नहीं रहा जा सकता। 'शब्द' प्रमाण के दो रूप हैं– शास्त्र और लौकिक वाक्य। 'बौद्धों' की दृष्टि में शास्त्र भी निरपेक्ष प्रमाण नहीं है; क्योंकि वे मानवीय रचना हैं अत: उनकी दृष्टि से शास्त्र भी आप्त मनुष्यों के वचनों में आ जाते हैं। 'न्याय' और 'भाट्ट मीमांसक' 'शब्द' को स्वतन्त्र प्रमाण मानकर अधिक तार्किक मत का परिचय देते हैं। वेदों को 'शब्द' प्रमाण मानने में आस्तिक भारतीयों के अतिरिक्त अन्य लोगों का विरोध है। वेदों की सत्यता और असत्यता को लेकर अनेकों वाद हैं। प्राय: भारतीय षड्दर्शन वेदों को अपौरुषेय रचना मानते हुए स्वत: प्रमाण मानते हैं।[२] पौरुषेयता और अपौरुषेयता को लेकर आज के विद्वान् तो और अधिक विवादों में घिर जाते हैं। उनके मत बहुत अधिक स्वीकार्य नहीं। इस प्रकार कुल मिलाकर वेद के वाक्यों, वेदमूलक शास्त्रों और आप्तजनों के वाक्यों को 'शब्द' प्रमाण मानने में कोई विशेष बाधा नहीं है।

उपमान–भारतीय दर्शनों में ऊपर वर्णित तीनों प्रमाणों के अतिरिक्त 'उपमान' को भी 'मीमांसा', 'न्याय' तथा 'अद्वैत वेदान्त' द्वारा प्रमाण माना गया है। 'मीमांसा' तथा 'न्याय' मत 'उपमान' के स्वरूप के विषय में भिन्न हैं किन्तु 'अद्वैतवेदान्त' का मत 'मीमांसा' के सादृश्य है, जो असन्निकृष्ट अर्थ के विषय में ज्ञान उत्पन्न करता है। जैसे

---

१. सामान्यतस्तु दृष्टातीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्
तस्मादपियासिद्धंपरोक्षमाप्ता गमात् सिद्धम्।। सांख्यकारिका, ६.

२. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ (डॉ० महेश भारतीय) पृ० ३५०, ३५७

'गवय' का दर्शन गो के स्मरण को उत्पन्न करता है।[१] 'शबर' की शब्दावली के अनुसार यहाँ 'गवय' का दर्शन 'उपमान' है और 'गो' का स्मरण 'उपमिति' (उपमान का फल) है, किन्तु 'स्मृति' को मीमांसा के अनुसार प्रमाण नहीं माना जाता, अतः इसकी व्याख्या कुछ भिन्न ढंग से अपेक्षित है। 'कुमारिल' के अनुसार यदि कोई ऐसा मनुष्य जिसने कभी 'गवय' न देखा हो किन्तु 'गो' को देखा हो, वन को जाये और पहली बार 'गवय' को देखे तो उसे बोध होता है, कि 'गवय', 'गो' के सदृश है। इससे पुनः इनमें प्रथम ज्ञान को 'उपमान' और द्वितीय ज्ञान को 'उपमिति' कहा जाता है।[२]

'न्यायसूत्र' के अनुसार प्रसिद्ध (ज्ञान) साधर्म्य से साध्य किया जाना उपमान है।[३] 'वात्स्यायन' के अनुसार यहाँ साध्य अर्थात् उपमिति है— संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध। यहाँ उपमिति का करण या उपमान क्या है? इस विषय में प्राचीन और परवर्ती 'नैयायिकों' में मतभेद हैं। मान लीजिए किसी नागरिक ने कभी 'गवय' को नहीं देखा है। उसने किसी वनवासी से सुना है, कि 'जैसी गो होती है, वैसी ही 'गवय' होती है'। यह सुनकर वह वन में गया और गो जैसे एक पशु को देखा। उस पशु को देखकर उसे वनवासी का वाक्य याद आया और उसने देखा कि वनवासी के वाक्य के अनुरूप यह पशु 'गो' के सदृश्य है। इससे ज्ञात हो गया कि यह पशु 'गवय' है। यहाँ 'संज्ञि' (संज्ञा से युक्त) है और 'गवय' 'संज्ञा' है। दोनों के सम्बन्ध का ''यह पशु 'गवय' शब्द वाच्य है'' इस रूप में ज्ञान होगा—संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध का ज्ञान अर्थात् उपमिति है। किन्तु यहाँ उपमान अर्थात् उपमिति का कारण क्या है? प्राचीन नैयायिकों के अनुसार वनवासी का कथन ''गो के सदृश गवय होता है।'' जो अतिदेश-वाक्य कहा जाता है यही उपमान है।[४] इसको शब्द प्रमाण से भिन्न मानने का कारण यह है, कि यह आप्त वचन होते हुए भी प्रमा (संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध) का पूर्णतः कारण नहीं है। श्रोता स्वयं वन में जाकर गवय को प्रत्यक्षतः देखकर प्रमा को प्राप्त कर पाता है।[५] परवर्ती नैयायिकों के अनुसार उपर्युक्त उदाहरण में अतिदेश वाक्य को स्मरण करके

---

१. उपमानेपि सादृश्यमसन्निकृष्टे अर्थे बुद्धिमुत्पादयति, यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य, शांकरभाष्य पृ० १०७

२. श्लोकवार्तिक, उपमान, पृ० १५

३. प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्, न्यायसूत्र १.१.६

४. न्यायमञ्जरी प्रथम भाग, पृ० १२८, १२९

५. वही, पृ० १२८, १२९

पुनः 'गो सदृश गवय' का प्रत्यक्ष उपमान है; क्योंकि इसके बाद तुरन्त यह 'प्रमा' उत्पन्न हो जाती है, कि "यह पशु गवय संज्ञक है"—अथवा इस पशु में और गवय शब्द में 'संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध है।'[१]

यह उपमान अन्य प्रमाणों से भिन्न है। अनुमान में लिंग जाति की स्मृति से युक्त होता है और उपमान में साधर्म्य अतिदेश वाक्य की स्मृति से युक्त होता है। 'तार्किकरक्षा' के रचयिता 'वरदराजा' ने एक पृथक् ही परिभाषा दी है। उनके अनुसार "जिस व्यक्ति को पद के अर्थ का ज्ञान नहीं है वह किसी विश्वसनीय पुरुष से उसके बारे में सुनकर जब प्रत्यक्ष द्वारा ऐसे पहचान लेता है तो वह उपमान कहलाता है।"[२] इस परिभाषा के अनुसार किसी आप्त पुरुष से अज्ञात वस्तु का वर्णन सुनकर उस वस्तु को पहचान लेना उपमान है।

'कुमारिल' के अनुसार प्राचीन नैयायिकों का 'उपमान' का स्वरूप 'शब्द' प्रमाण से भिन्न नहीं है। 'नैयायिकों' के अनुसार 'शब्द' प्रमाण का लक्षण आप्तोपदेश है। 'उपमान' को भी यदि अतिदेश वाक्य के स्वरूप वाला मानते हैं तो यह भी आप्तोपदेश ही है। परवर्ती 'नैयायिकों' ने अतिदेशवाक्य को सुनकर सादृश्य के प्रत्यक्ष को 'उपमान' बतलाया है, जो उचित प्रतीत नहीं होता।

"'कुमारिल' ने 'उपमान' के 'अनुमान' होने का खण्डन किया है।"[३] 'जयन्त' ने भाट्ट 'उपमान' को 'अनुमान' के रूप में दिखाने का प्रयत्न किया है।[४] ये दोनों मत उचित नहीं जान पड़ते।

'सांख्य-दर्शन' 'उपमान' को पृथक् प्रमाण नहीं मानता। 'वाचस्पति मिश्र' ने 'सांख्य कौमुदी' में उपमान सम्बन्धी विभिन्न मतों का अन्य प्रमाणों में अन्तर्भाव दिखलाया है। 'मीमांसा' के अनुसार चक्षु सन्निकर्ष 'गवय' में 'गो' सादृश्य का ज्ञान उपमान है और स्मरण की जाती हुई गो में 'गवय' सादृश्य उपमिति है। "वाचस्पति मिश्र" के अनुसार ये दोनों ज्ञान प्रत्यक्ष है; क्योंकि 'गो' और 'गवय' का सादृश्य प्रत्यक्ष ही है।[५]

---

१. न्यायमञ्जरी प्रथम भाग, पृ० १२९

२. तार्किकरक्षा, पृ० ८५

३. श्लोकवार्तिक, उपमान पृ० ४२/५१

४. न्यायमञ्जरी प्रथम भाग पृ० १३४

५. सांख्यतत्त्वकौमुदी, का० ५

उपमान के सम्बन्ध में बहुत अधिक दृढ़ता प्रतीत नहीं होती। इसका अन्तर्भाव अन्य प्रमाणों में दिखलाया जा सकता है, किन्तु इसको यदि एक पृथक् प्रमाण मान भी लिया जाए जो यह व्यवहार में बहुत ही कम प्रयुक्त होता है।

अर्थापत्ति–'मीमांसा-दर्शन' के दोनों समुदाय 'भाट्ट' और 'प्रभाकर' तथा 'वेदान्त' 'अर्थापत्ति' प्रमाण को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। भाट्ट मीमांसा के अनुसार इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है– "कोई ऐसी कल्पना जिसके बिना कोई देखा गया या सुना गया विषय ठीक न बन पाए अर्थापत्ति है, जैसे– जीवित देवदत्त का घर में अभाव देखकर यह कल्पना कर लेना कि वह बाहर स्थित है जब कि उसका बाहर होना प्रत्यक्ष नहीं है।"[१] 'कुमारिल' के अनुसार 'अर्थापत्ति' की अन्य प्रमाणों से विशेषता यह है, कि इसमें किसी निश्चित अर्थ में किसी प्रकार की अनुपपन्नता रहती है। 'पार्थसारथी' के अनुसार, जब हम देखते हैं कि निश्चित अर्थ की व्याख्या बिना किसी दूसरे अर्थ के नहीं हो सकती तो हम प्रथम अर्थ की व्याख्या के लिए दूसरे अर्थ की कल्पना कर लेते हैं यही कल्पना अर्थापत्ति है।[२] 'कुमारिल' ने 'अर्थापत्ति' के दो भेद किए हैं– दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुतार्थापत्ति उसने प्रायः दृष्टार्थापत्ति के पाँच भेद किये हैं। अर्थापति में अनुपपन्नता का ग्रहण किसी भी प्रमाण से हो सकता है। अतः पाँच प्रमाणों के आधार पर यह पाँच प्रकार की है। श्रुतार्थापत्ति में अनुपपत्ति का ग्रहण 'शब्द' प्रमाण से होता है। अतः छः प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति तथा अभाव या अनुपलब्धि) के आधार पर अर्थापत्ति छः प्रकार की हो जाती है।[३] वस्तुतः अर्थापत्ति के ये भेद शब्द जाल ही हैं, व्यावहारिक जीवन में इसका बहुत उपयोग नहीं है। 'धर्मराजाध्वरिन्द्र' के अनुसार किसी उपपाद्य ज्ञान (जिसका उपपादन किया जाये) से उपपादक ज्ञान की कल्पना करना अर्थापत्ति है।[४] उक्त विद्वान् दृष्टार्थ और श्रुतार्थापत्ति के दो भेद मानते हुए श्रुतार्थापत्ति के दो अन्य भेद बतलाते हैं, अभिधानानुपत्ति और अभिहितानानुपत्ति'। यह भी शब्द जाल ही है।

'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में 'वाचस्पति मिश्र' ने भी अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव दिखलाया है।

---

१. शाबरभाष्य, पृ० ११०

२. शास्त्रदीपिका, पृ० ७६

३. श्लोकवार्तिक अर्थापत्ति २

४. वेदान्तपरिभाषा, पृ० २६६

इस प्रकार यहाँ देखा जा सकता है, कि अर्थापत्ति के इस विवेचन में अर्थापत्ति का स्वरूप और उसके भेद व अन्तर्भाव होने की सम्भावना, इन तीन बिन्दुओं पर विचार किया गया है। अर्थापत्ति की विशिष्टता है अनुपपत्ति और विरोध, जिसका अनुमान में अभाव लेता है। यह अनुपपत्ति ही अर्थापत्ति का भेदक तत्त्व है। 'न्याय' और 'सांख्य' में इसका अन्तर्भाव 'अनुमान' में दिखाया है। अनुपपत्ति के द्वारा यह अन्तर्भाव सफलता से हो जाता है। अतः इस प्रमाण की पृथक्ता कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती।

अभाव–'अभाव' प्रमाण के सम्बन्ध में 'न्याय' 'प्रभाकर' मीमांसक तथा 'सांख्य' प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही 'अभाव' का ग्रहण मानते हैं। 'बौद्ध' तथा 'वैशेषिक' ज्ञान द्वारा 'अभाव' को ग्रहण करते हैं। किन्तु 'भाट्ट मीमांसक' तथा 'अद्वैत वेदान्ती' यह दिखलाते हैं कि 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमानादि' प्रमाणों द्वारा 'अभाव' का ग्रहण सम्भव नहीं है। इसे एक पृथक् प्रमाण मानना आवश्यक है। 'प्रभाकर' मत के अनुसार 'अभाव' का भाव वस्तुओं से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं, एक ही वस्तु अपनी दृष्टि से भाव है और अन्य वस्तुओं की दृष्टि से अभाव है, उदाहरणार्थ– घट रहित भूतल अपनी दृष्टि से भाव है और घट की दृष्टि से अभाव है। अतः अभाव जैसे पृथक् पदार्थ को मानने की आवश्यकता नहीं है।[१] इस दृष्टि से भूतल पर घट का अभाव अपने अधिष्ठान भूतल से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। किन्तु यहाँ द्रष्टव्य है, कि घटाभाव भूतल की कोई अवस्था विशेष नहीं है अपितु यह विशेषण से रहित केवल भूतल है। अतः प्रभाकर मत में घटाभाव का ग्रहण भूतल मात्र का ग्रहण है। यह स्पष्टतः प्रत्यक्ष ही है। सांख्य की दृष्टि में घटाभाव भूतल के इस परिणाम विशेष अर्थात् भूतल के कैवल्य से अभिन्न है।[२] इस मत में भी घटाभाव का ग्रहण अधिष्ठान भूतल के ग्रहण से अभिन्न होने के कारण प्रत्यक्ष ही है।[३] न्याय अभाव को अधिष्ठान से पृथक् एक स्वतंत्र पदार्थ मानता है। वह 'अभाव' को यद्यपि प्रत्यक्ष ग्राह्य मानता है तथापि उसका 'अभाव' विशेषण होता है। जब प्रत्यक्ष द्वारा भूतल का ग्रहण होता है तो विशेषण के साथ उसके घटाभाव को प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है। यह 'विशेषण-विशेष्य-भाव-सन्निकर्ष' द्वारा ग्रहण होता है। 'जैमिनीसूत्रभाष्य' के रचयिता 'शबर स्वामी' के अनुसार किसी असन्निकृष्ट (अप्रत्यक्ष) अर्थ का यह बोध कि वह नहीं है (इसका

---

१. प्रभाकरविजय– पृ० ५७

२. तत्त्वकौमुदीकारिका- ५

३. एवमऽभावोऽपि प्रत्यक्षमेव-सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका-५

अभाव है) अन्य प्रमाणों के अभाव पर निर्भर करता है। यह अन्य प्रमाणों का अभाव ही अभाव (अनुपलब्धि) प्रमाण है।[१] 'कुमारिल भट्ट' ने इसे स्पष्ट किया है– ''यदि कोई ऐसा पदार्थ है, जिसके होने का पाँच प्रमाणों में से किसी भी प्रमाण द्वारा जाना जा सकता है, किन्तु फिर भी उस पदार्थ का बोध नहीं होता तो उसका यह बोध न होना (अनुपलब्धि) उस वस्तु के अभाव के बोध के लिए प्रमाण है।''[२] 'पार्थसारथी मिश्र' ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है– ''प्रत्येक पदार्थ की दो स्थितियां होती हैं– भाव और अभाव। जब घटादि कोई पदार्थ किसी काल में किसी स्थान पर रिक्त होता है तो प्रत्यक्ष या अन्य किसी प्रमाण द्वारा उस पदार्थ की उपलब्धि होने पर उस पदार्थ का उस काल में उस स्थान पर भाव माना जाता है। परन्तु यदि इस प्रकार की उपलब्धि योग्य पदार्थ की उस देशकाल में किसी भी प्रमाण द्वारा उपलब्धि नहीं होती तो उस पदार्थ के अभाव का बोध हो जाता है।''[३]

'अद्वैतवेदान्त' के अनुसार 'अनुपलब्धि' का लक्षण है– ''ज्ञान के कारणों (प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों) से उत्पन्न न होने वाले अभाव के अनुभव का असाधारण कारण अनुपलब्धि रूप प्रमाण है।''[४]

'वैशेषिक' मत के अनुसार अभाव का स्वतन्त्र अस्तित्व है, किन्तु इसका बोध अनुपलब्धि जैसे स्वतन्त्र प्रमाण द्वारा न होकर अनुमान द्वारा होता है।[५]

'बौद्ध' मत में अभाव की कोई तात्त्विक सत्ता नहीं है। घटादि अर्थ का अभाव और उसकी अनुपलब्धि एक ही बात है। अनुपलब्धि का अर्थ है– किसी भावरूप वस्तु का प्रत्यक्ष न होना। अभाव की सिद्धि केवल दृश्य वस्तुओं की अनुपलब्धियों से ही होती है।[६]

ऐतिह्य एवं सम्भव–'ऐतिह्य' और 'सम्भव' प्रमाण जो कि पौराणिकों द्वारा आदृत है, उनका स्वरूप सरल होने के कारण तथा इनका बहुत अधिक विवेचन न किये जाने से, इन पर पृथक् से विशद विवेचन की विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है।

---

१. अभावोऽपि प्रमाणाभावो नास्तीत्यस्यार्थस्या सन्निकृष्टस्य सूत्र १.१.५ पर शाबर भाष्य

२. श्लोकवार्तिक- पृ० ४७३

३. शास्त्रदीपिका, पृ० ८

४. वेदान्तपरिभाषा, अनुपलब्धि परिच्छेद

५. प्रशस्तपादभाष्य पृ० ५४२

६. न्यायबिन्दु २.२५

इन आठों प्रमाणों के द्वारा ज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय किया जाना 'प्रामाण्यवाद' के नाम से जाना जाता है। यह 'प्रामाण्यवाद' भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में भिन्न रूपों में माना जाता है, जो इस प्रकार हैं—

१. न्याय—वैशेषिक-प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों परतः।

२. मीमांसा— प्रामाण्य स्वतः, अप्रामाण्य परतः,

३. वेदान्त— प्रामाण्य स्वतः, अप्रामाण्य परतः,

४. बौद्ध—(क) प्रामाण्यपरतः, अप्रामाण्य स्वतः, (ख) (कमलशील) प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों कहीं स्वतः कहीं परतः।

५. जैन— प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों कहीं स्वतः कहीं परतः।

६. सांख्य— प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः।

इस 'प्रामाण्यवाद' का मूल वेदों का प्रामाण्य सिद्ध करने में है। 'मीमांसक' वेदों को अपौरुषेय मानता है अतः आप्त पुरुष के वचन के रूप में उसका प्रामाण्य सिद्ध नहीं किया जा सकता था। 'मीमांसकों' के सम्मुख वेदों का प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए यह उचित प्रतीत होता है।

'प्रामाण्यवाद' का विवेचन 'उत्पत्ति', 'ज्ञप्ति' तथा 'कार्य' इन दृष्टियों से किया गया है, किन्तु इसमें दार्शनिक महत्व 'ज्ञप्ति' की दृष्टि से प्रामाण्य के विवेचन का रहा है। अधिकांश विवेचन इसी से संबंधित मिलता भी है।

इस प्रकार यहाँ तक बड़ी विशदता के साथ आठों प्रमाणों के विषय में विवेचन किया गया। इन प्रमाणों के द्वारा ज्ञान के वास्तविक स्वरूप को समझा जा सकता है। ज्ञान को समझने की प्रक्रिया वस्तु की सत्ता और उसमें कार्य कारण की स्थिति के द्वारा जो-जो आयाम प्रस्तुत होते हैं उनके कारण बहुत विस्तृत मत वैभिन्य और प्रमाणों की प्रकारक उपस्थित हो जाती है। प्रायः प्रारम्भिक चार प्रमाण 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'शब्द' और 'उपमान' के द्वारा क़िसी वस्तु की सत्ता लौकिक अथवा अलौकिक का ज्ञान सम्यक् रूप में प्राप्त किया जा सकता है। शेष चार प्रमाणों 'अर्थापत्ति', 'अभाव', 'सम्भव' और 'ऐतिह्य' का अन्तर्भाव पूर्व के चार प्रमाणों में सरलता से हो जाता है। इन अन्तिम चार प्रमाणों की आवश्यकता पूर्व के चार प्रमाणों की अपेक्षा से व्यावहारिक रूप से बहुत कम पड़ती है। अतः इन अन्तिम चारों प्रमाणों की प्रायः उपेक्षा यथार्थ जीवन में स्वाभाविक ही है। ज्ञान का स्वरूप उसकी प्रक्रिया और ज्ञान के साधन के रूप में अष्ट प्रमाणों के विवेचन के पश्चात् 'मिथ्याज्ञान' और 'यथार्थज्ञान'

के विषय में भी भारतीय दर्शनों के विचारों की संक्षिप्त किन्तु समीक्षा कर लेना उचित प्रतीत होता है। अत: आगे 'मिथ्याज्ञान' के स्वरूप पर विचार किया जा रहा है।

मिथ्याज्ञान–'मिथ्याज्ञान' के लिए 'मिथ्याप्रतीति' 'भ्रम', 'विपर्यय' और 'सन्देह' आदि शब्द प्रयुक्त होते रहे हैं। जो वस्तु जैसी नहीं है वैसी दिखाई पड़ना अथवा जैसी वस्तु है वैसी दिखलाई न पड़ना 'मिथ्या प्रतीति' कहलाती है। रस्सी में सर्प की प्रतीति, सीपी में चाँदी की प्रतीति, आँख में विकार होने पर दो चन्द्रमाओं की प्रतीति पीलिया रोग होने पर श्वेत शंख में पीत शंख की प्रतीति, किसी अग्नि पिण्ड को तेजी से घुमाने पर आलात् चक्र आग के चक्र) की प्रतीति, स्वप्न की प्रतीतियाँ, तथा रेगिस्तान में जल की प्रतीति (मृगतृष्णा आदि) ऐसी ही प्रतीतियाँ हैं। मनुष्य जब तक इनके यथार्थ स्वरूप को नहीं समझ लेता तब तक वह इन प्रतीतियों को निश्चयात्मक रूप से सत्य समझता रहता है। दार्शनिकों ने इन उदाहरणों को आधार बनाकर इन पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। उदाहरण के लिए 'अद्वैतवेदान्त' में यह माना गया है कि सम्पूर्ण दृश्यमान् जगत् एक भ्रम है। केवल एक चेतन सत्ता ब्रह्म ही सत्य है, जिसमें इस संसार की मिथ्या प्रतीति होने लगती है। इसी प्रकार 'अद्वैत वेदान्त' के अनुसार शरीर में आत्मा की प्रतीति एक मिथ्या प्रतीति है। 'योगाचार' बौद्धों के अनुसार वस्तुओं का बाह्य-रूप में प्रतीत होना एक मिथ्या प्रतीति है। इन मिथ्या प्रतीतियों का कई बार बहुत दार्शनिक महत्त्व होता है; क्योंकि सम्पूर्ण दर्शन इन मिथ्या प्रतीतियों के आधार पर खड़ा दिखलाई पड़ता है उदाहरण के रूप में 'अद्वैतवेदान्त' 'बौद्ध शून्यवाद' तथा 'विज्ञानवाद' दर्शनों का मूलाधार मिथ्या प्रतीति ही है। प्राय: सभी दर्शन अपने-अपने ढंग से इन मिथ्या प्रतीतियों की व्याख्याएँ कहते हैं जो 'ख्यातियों' के नाम से प्रसिद्ध हैं। कुछ प्रसिद्ध 'ख्यातियाँ' इस प्रकार हैं– 'अनिर्वचनीय ख्याति' (अद्वैतवेदान्त) 'विपरीतख्याति' (मीमांसक कुमारिल भट्ट), 'अख्याति' (मीमांसक प्रभाकर), 'अन्यथा ख्याति' (नैयायिक), 'असत् ख्याति' (माध्यमिक बौद्ध), आत्मख्याति (योगाचार बौद्ध) तथा 'सत् ख्याति' (विशिष्टाद्वैत) आदि।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य मतों के इस प्रकार के सन्दर्भ दर्शन ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं, जैसे — 'सांख्य' का 'सत्-असत् ख्यातिवाद', 'भास्कर मत' और 'चार्वाक' का 'अख्यातिवाद'। किन्तु ये मत या तो अन्य दर्शनों के ग्रन्थों के आधार पर दिये गए हैं अन्यथा अनुमान पर कल्पित हैं, अत: ये विशिष्ट महत्व के नहीं हैं।

ऊपर जिन 'मिथ्या प्रतीतियों' या 'भ्रमों' का वर्णन किया गया है, इन्हें दो भागों में ग्रहण किया जा सकता है। — १. बाह्यार्थ वादियों के मत २. अबाह्यार्थ वादियों के

मत। अबाह्यार्थवादी जिनमें 'अद्वैतवेदान्त', 'योगाचार' तथा 'माध्यमिक' मत आते हैं, यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि जिस वस्तु की मिथ्या प्रतीति हमें होती है वह वास्तविक नहीं है। बाह्य संसार में उसकी कोई पारमार्थिक स्थिति नहीं है। वह हमारी मानसिक कल्पना है। इसी का आश्रय लेकर वे सम्पूर्ण जगत् को एक मानसिक कल्पना सिद्ध करते हैं। दूसरी ओर बाह्यार्थवादी दर्शन जिसमें 'न्याय', 'वैशेषिक' 'मीमांसक' (प्रभाकर तथा भाट्ट) और 'रामानुज' आदि आते हैं, वे अपना पूरा प्रयत्न बात को सिद्ध करने में करते हैं कि जो प्रतीति हमें हो रही है वह कोई मानसिक कल्पना नहीं अपितु बाह्य संसार में स्थित बाह्य पदार्थ हैं। यदि इस प्रतीति को मानसिक रचना मान लिया जाता है तो जगत् की बाह्यार्थतता खतरे में पड़ जाती है। इसलिए बाह्यार्थवादी दर्शनों ने अपनी पूरी शक्ति इन प्रतीतियों को बाह्यार्थ सिद्ध करने में लगा दी है। प्रत्येक मत में अपनी कुछ कमियाँ हैं। पूर्णतः सन्तोषप्रद मत कोई नहीं कहा जा सकता।

यथार्थज्ञान– इस मिथ्या प्रतीति अथवा मिथ्या ज्ञान के अतिरिक्त इससे भिन्न जो भी ज्ञान सत्य है वह 'यथार्थ ज्ञान' कहलाता है। जो लौकिक तथा अलौकिक वस्तु जिस रूप में है उसे उसी रूप में जानना 'यथार्थज्ञान' कहलाता है, जैसे—पृथिवी गन्धवती है, यह ज्ञान 'यथार्थज्ञान' है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से उसके गन्धवती होने के वास्तविक लक्षणों को पहचान लिया जाता है और अष्ट प्रमाण भी इसी 'यथार्थ ज्ञान' को पहचानने के साधन होते हैं, जिस पर ऊपर भली-भाँति विचार किया जा चुका है। 'यथार्थ ज्ञान' का सम्बन्ध जीवन से प्रत्यक्षतः जुड़ा होता है। सुख-दुःखादि का अनुभव इसी यथार्थ के द्वारा होता है। यथार्थ को जानकर ही सच्चे सुख अर्थात् 'मोक्ष' की प्राप्ति सम्भव होती है अतः सभी दृष्टियों से 'यथार्थ ज्ञान' सर्वदा हितकारी होता है।

अब तक भारतीय दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में 'ज्ञान' और उसकी 'प्रक्रिया', 'ज्ञान के साधनों' और 'यथार्थज्ञान' पर विशदता से विचार किया गया। जिस 'दयानन्द-दर्शन' के परिप्रेक्ष्य में आलोच्य कवि के ग्रन्थों का आगे विवेचन किया जा रहा है। वह दर्शन पूर्णतया यथार्थ पर ही आधारित है और कुछ पृथक् भी। स्वामी दयानन्द न तो कोरी कल्पनाशीलता के अनुयायी हैं और न ही 'मिथ्याज्ञान' के पक्षधर हैं। उन्होंने भारत में प्रचलित सभी दार्शनिक मतों पर विचार करके जो मत सत्य प्रतीत हुआ उसे तुरन्त ग्रहण कर लिया; असत्य मत को भी उन्होंने साथ ही त्याग दिया है। अतः मानव-समाज के लिए अत्यन्त सुखकारी एवं लोक व्यवहार में सामान्यतया प्रयुक्त होने वाले उनके दार्शनिक मन्तव्यों पर यथार्थ रूप में विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

उन्होंने सदैव 'यथार्थ ज्ञान' के मण्डन और 'मिथ्याज्ञान' के खण्डन में अपनी समस्त शक्ति लगा दी है। ऐसे योगी पुरुष के दार्शनिक विचारों की समीक्षा करना अपेक्षित है। अतः अब आगे 'ज्ञान-मीमांसा' सम्बन्धी उनके मौलिक विचारों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

'ऋषि दयानन्द' की ज्ञान सम्बन्धी मीमांसा को भली प्रकार से समझने के लिए इन बिन्दुओं पर विचार किया जा सकता है, जो उनके ग्रन्थों के पारायण से ज्ञात होती है—

१. ज्ञान का स्वरूप

२. ज्ञान की प्रक्रिया-ज्ञाता, ज्ञेय, और ज्ञान के साधन।

३. ज्ञान और अज्ञान

४. यथार्थ ज्ञान (सत्य की परीक्षा)

५. प्रमाणों का विवेचन

६. प्रमाणों का प्रयोजन तथा प्रमेय

१. ज्ञान का स्वरूप

ज्ञान के स्वरूप के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द की दो पुस्तकों 'सत्यार्थ-प्रकाश' और 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में विचार किया गया है। ज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में स्पष्ट वर्णित किया है— "वेद के चार विषय हैं— विज्ञान, कर्म, उपासना, और ज्ञान"[१]। यहाँ स्वामी जी ने 'विज्ञान' और 'ज्ञान' को भी पृथक् करके 'विज्ञान' का विशद विवेचन करते हुए लिखा है— "विज्ञान उसे कहते हैं कि जो कर्म, उपासना और ज्ञान- इन तीनों से यथावत् उपयोग लेना और परमेश्वर से लेकर तृण पर्यन्त पदार्थों का साक्षात् बोध होना, उनसे यथावत् उपयोग का करना।"[२]

महर्षि दयानन्द की दृष्टि में उपर्युक्त चार विषयों में भी 'विज्ञान' की प्रधानता है, क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य है। यह 'विज्ञान' भी दो प्रकार का है— एक तो परमेश्वर का यथावत् ज्ञान और उसकी आज्ञा का बराबर पालन करना। दूसरा यह है, कि उसके रचे हुये पदार्थों के गुणों को यथावत् विचार के उनसे कार्य सिद्ध करना और

१. चत्वारोवेदविषयाः सन्ति विज्ञानकर्मोपासना ज्ञानकाण्डभेदात्। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयः, पृ० ३०९

२. वही, पृ० ३१०

इन दोनों में भी ईश्वर का जो प्रतिपादन है सो ही प्रधान है।[१] फलत: 'विज्ञान' के अन्तर्गत दो बातें आती हैं— पदार्थों का यथावत्-ज्ञान तथा साक्षात्कारात्मक ज्ञान और उनका ठीक ठीक उपयोग। इसके दो विषय हैं— एक तो परमेश्वर और दूसरे तिनके से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त पदार्थ। दयानन्द की दृष्टि में इन विषयों में ईश्वर ही प्रधान है, किन्तु अन्य पदार्थों का साक्षात् बोध और समुचित प्रयोग भी वेदों का प्रतिपाद्य विषय है ही। यही पदार्थ विद्या कहलाती है। स्वामी ने 'मुण्डक' उपनिषद् में बतलाई गई 'अपरा' और 'परा' विद्या की व्याख्या करते हुए भी 'विज्ञान' के इन दोनों विषयों को स्पष्ट करते हुए लिखा है। 'वेदों में दो विद्या हैं'— एक अपरा और दूसरी परा। इनमें से अपरा यह है, कि जिससे पृथिवी और तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक-ठीक कार्य सिद्ध करना होता है, और दूसरी परा कि जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है। यह परा विद्या अपरा विद्या से अत्यन्त उत्तम है; क्योंकि अपरा का ही उत्तम फल परा विद्या है।[२] यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है, कि ऋषि ने दोनों ही विद्याओं को वेद का विषय माना है। यह नहीं माना कि ''ऋग्वेदादि चारों वेदों में केवल अपरा विद्या ही है''[३]

स्वामी जी ने 'विज्ञान' शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। उनकी दृष्टि में वेदों में बीज रूप से विज्ञान विद्यमान है और पारमार्थिक अर्थ में भी। वेदों का तात्पर्य प्रमुख रूप से ईश्वर का प्रतिपादन करना है।

'सत्यार्थ-प्रकाश' में ज्ञान के स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत करते हुए कहा गया है— ''ज्ञान-विवेक पहिचानना।''[४] इसी प्रकार— ''यथार्थ-दर्शनं ज्ञानमिति''— जिसका जैसा गुण, कर्म, स्वभाव हो उस पदार्थ को वैसा ही जानकर मानना ही ज्ञान और विज्ञान कहलाता है। उलटा अज्ञान।[५] इसी सन्दर्भ में 'ज्ञान' की कुछ अधिक व्याख्या भी की गयी है। इन सन्दर्भों से प्रतीत होता है, कि स्वामी जी ने 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग 'यथार्थज्ञान' अथवा 'सम्यक् ज्ञान' के अर्थ में किया है। यहाँ 'ज्ञान' शब्द 'नैयायिक' आदि के अभिमत सामान्य अर्थ (जानना) में नहीं आया जैसा कि आगे दिखलाया जा

---

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेदविषय, पृ० ३१०

२. वही, पृ० ३११

३. वेदेषु द्वे विद्ये वर्तते अपरा परा च। वही, पृ० ३१०

४. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २४९

५. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २७३

रहा है। 'विद्या' और 'अविद्या' जो दो प्रकार का बोध है, उसमें से 'ज्ञान' शब्द द्वारा विद्या का ही ग्रहण किया गया है। फलत: पदार्थों को ठीक ठीक उनके वास्तविक रूप में जानना ही यहाँ 'ज्ञान' कहा गया है। यह 'ज्ञान' आत्मा का गुण है और ईश्वर का भी।

प्रश्न यह है, कि 'ज्ञान' और 'विज्ञान' में अन्तर क्या है। स्वामी जी ने 'विज्ञान' का साक्षात् बोध के सम्बन्ध माना है।[१] विज्ञान= पदार्थ का साक्षात् बोध + यथावत् उपयोग। किन्तु ज्ञान का अर्थ है, पदार्थ को ठीक प्रकार से जानना। जो पदार्थ जिस प्रकार का हो उसको उसी प्रकार जानने का नाम ज्ञान है। जैसे ''जब परमेश्वर अनन्त है, तो उसको अनन्त ही जानना ज्ञान है।''[२] यह कहा जाता है, कि परमेश्वर से लेकर तृण पर्यन्त पदार्थों को जानना ज्ञान कहलाता है। यह व्यवहार का प्रवर्तक है। इसी से कर्म में प्रवृत्ति होती है। ईश्वरोपासना का भी यही द्वार है। यथार्थ ज्ञान या ज्ञान से सत्कर्म तथा परमदेव परमात्मा की उपासना में प्रवृत्ति होती है।

२. ज्ञान की प्रक्रिया-ज्ञाता, ज्ञेय, और ज्ञान के साधन

ज्ञान क्या है? ज्ञान कैसे होता है? और ज्ञान की प्रक्रिया क्या है? इस विषय पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अन्तर्गत विस्तृत विवेचन किया जायेगा। सामान्य रूप से विविध दार्शनिक प्रस्थानों के अन्तर्गत 'न्याय', 'वैशेषिक', 'मीमांसा', 'वेदान्त' और 'बौद्धादि' दर्शनों के 'वस्तुवादी', 'प्रत्ययवादी', 'विज्ञानवादी' और 'मायावादी' आदि अविद्या जन्य परिकल्पननाएँ प्राप्त होती हैं जो परमार्थ सत् नहीं है।

दयानन्द की दृष्टि में ''ज्ञाता-ज्ञेय तथा प्रमाण सभी यथार्थ हैं। उन्होंने विज्ञान-वादियों''[३] तथा मायावादियों[४] के मन्तव्यों का खण्डन करते हुए[५] 'ज्ञाता' और 'ज्ञेय' की सत्ता सिद्ध की है और प्रमाणों का भी निरूपण किया है। 'चार्वाक्' के मत का निराकरण करते हुए स्वामी जी ने कहा है— ''कर्ता के बिना प्रत्यक्ष कैसे हो सकता

---

१. तस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद् बोधान्वयात्। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेदविषय, पृ० ३०९

२. सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृ० २४२

३. द्रष्टव्य, सत्यार्थ-प्रकाश, द्वादश समु ल्लास- पृ० ५५७

४. वही, पृ० २८२, २८३

५. विज्ञानवादी, शून्य वादी तथा मायावादी के मतों की समीक्षा करना पृथक् प्रबन्धों का विषय है।

है?''[१] इसी प्रकार 'शून्यवादी बौद्धमत' की समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं— ''जो सब शून्य हो तो शून्य का जानने वाला शून्य नहीं हो सकता और जो सब शून्य होवें तो शून्य को शून्य नहीं जान सकें। इसलिए शून्य का ज्ञाता और ज्ञेय दो पदार्थ सिद्ध होते हैं।''[२]

'ज्ञेय' और 'ज्ञाता' में भेद होता है। 'ज्ञेय' अवश्य ही 'ज्ञाता' से भिन्न होता है। यह बतलाते हुए स्वामी जी 'विज्ञान' से भिन्न 'ज्ञेय' की सत्ता न मानने वाले 'योगाचार' के प्रति कहते हैं— ''जो योगाचार बाह्य शून्यत्व मानता है तो पर्वत इसके भीतर होना चाहिए। जो कहे कि पर्वत भीतर है तो उसके हृदय में पर्वत के समान अवकाश कहाँ है? इसलिए बाहर पर्वत है और पर्वतज्ञान आत्मा में रहता है।''[३]

'ज्ञेय' को परमार्थसत् न मानने वाले यह भी कहते हैं कि विश्व के पदार्थ वस्तुतः न होने पर भी इसी प्रकार भासित होते हैं जिस प्रकार स्वप्न में अनेक पदार्थ दिखलायी देते हैं। उनको उत्तर देते हुए ऋषि दयानन्द कहते हैं— ''स्वप्न बिना देखें सुने कभी नहीं आता जो जागृत अर्थात् वर्तमान समय में सत्य पदार्थ हैं उनके साक्षात् सम्बन्ध में प्रत्यक्षादि ज्ञान होने पर संस्कार अर्थात् उनका वासनारूप ज्ञान आत्मा में स्थित होता है, स्वप्न में उन्हीं को प्रत्यक्ष देखता है।''[४]अभिप्राय यह है, कि स्वप्न का ज्ञान भी बाह्य पदार्थों की सत्ता पर आधारित है। अतः स्वप्न के दृष्टान्त से जगत् के पदार्थों का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि यह मानें कि बाह्य पदार्थों के अनुभव के बिना ही स्वप्न में नाना प्रकार के पदार्थ भावित होने लगते हैं तो इस पर स्वामी दयानन्द कहते हैं—

''जो संस्कार के बिना स्वप्न होवे तो जन्मान्ध को भी रूप का स्वप्न होवे।''[५] इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि बाह्य पदार्थों का इन्द्रियों से अनुभव होने पर उसका वासना रूप संस्कार आत्मा में विद्यमान रहता है और उसी संस्कार से स्वप्न में नाना प्रकार के पदार्थ भासित होते हैं। स्वप्न में देखे गये पदार्थ भी बाह्य अर्थ की अपेक्षा रखते हैं। फिर उनके दृष्टान्त से बाह्य अर्थ का खण्डन कैसे किया जा सकता है? इसलिए ज्ञेय की सत्ता अवश्य ही स्वीकार करना होगी। ज्ञान के होने से भी सिद्ध होता है, कि ज्ञेय

---

१. सत्यार्थ-प्रकाश, द्वादश समुल्लास- पृ० ५४९
२. वही, पृ० ५५७
३. सत्यार्थ-प्रकाश, द्वादश समुल्लास- पृ० ५५७
४. वही, पृ० २८२, २८३
५. वही, २८३

विद्यमान है; क्योंकि ज्ञान ज्ञेय के बिना नहीं होता।[१]

ज्ञान- अब आगे 'ज्ञान' और 'विज्ञान' पर विचार किया जा रहा है। ऋषि दयानन्द ने ज्ञान शब्द का प्रयोग 'यथार्थ ज्ञान' के अर्थ में किया है। इसका पर्याय 'वैशेषिक सूत्र' में 'विद्या' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'न्यायदर्शन' में ज्ञान 'स्मृति' और 'अनुभव' दो प्रकार का होता है।[२] अनुभव भी 'यथार्थ' और 'अयथार्थ' दो प्रकार का होता है। इनमें से यथार्थ अनुभव प्रमाण की कोटि में आता है। दयानन्द द्वारा प्रयुक्त 'ज्ञान' शब्द 'न्याय-वैशेषिक' के 'यथार्थानुभव' का समानार्थक है। दयानन्द ने 'स्मृति' और 'प्रत्यभिज्ञा' का उल्लेख करके प्रमाणों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं दिखलाया है। उन्होंने—'बौद्धों' के क्षणिकवाद का खण्डन करते हुए, 'प्रत्यभिज्ञा' का जो स्वरूप बतलाया है वह इस प्रकार है— "जो क्षणिक पदार्थ और उसका ज्ञान क्षणिक हो तो प्रत्यभिज्ञा अर्थात् मैंने वह बात की थी ऐसा स्मरण न होना चाहिए। परन्तु पूर्वदृष्टश्रुत का स्मरण होता है।"[३] इस वाक्य में ज्ञेय और ज्ञाता दोनों की अक्षणिकता को सिद्ध करने के लिए युक्ति दी है। एक तो यह प्रत्यभिज्ञा होती है, कि यह वही देवदत्त है, जो कल कुरुक्षेत्र में था, इसमें देवदत्त जो ज्ञेय है उसकी कल और अब दो कालों में विद्यमानता का बोध होता है और दूसरे स्मरण का स्वरूप है, मैंने जो कल देखा था उसे मैं अब याद कर रहा हूँ, यहाँ देखने और स्मरण करने के समय में एक ज्ञाता की विद्यमानता का बोध होता है। इस प्रकार की स्मृति को ही न्यायभाष्य में प्रतिसन्धान कहा गया है।"[४] वस्तुतः यह दोनों प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष और स्मृति का समन्वित रूप है। यह एक ज्ञान है या दो ज्ञानों का समुदाय, यह दार्शनिकों के विवाद का विषय रहा है।

ज्ञान के विपरीत है अज्ञान। यहाँ ज्ञान का अभाव मात्र अज्ञान नहीं है अपितु यथार्थ ज्ञान से भिन्न जो भी हम जानते हैं वह सब अज्ञान है। ज्ञान को विद्या कहते हैं और अज्ञान को अविद्या कहते हैं।

विद्या और अविद्या का स्वरूप बतलाते हुए ऋषि दयानन्द कहते हैं— "वेत्ति यथावत् तत्त्वपदार्थस्वरूपं यया सा विद्या। यया तत्त्वस्वरूपं न जानाति

---

१. सत्यार्थ-प्रकाश, द्वादश समुल्लास-वही, २६८

२. दयानन्द दर्शन एक अध्ययन (डॉ० निवासशास्त्री)

३. द्रष्टव्य, सत्यार्थ-प्रकाश, द्वादश समुल्लास- पृ० ५५८

४. न्यायसूत्र, वात्स्यायन भाष्य १.१.१०

भ्रमादन्यस्मिन्नयन्निश्चिनोति यया सा अविद्या– जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बोध होवे, वह विद्या और जिससे तत्त्वस्वरूप न जान पड़े, अन्य में अन्य बुद्धि होवे वह अविद्या कहाती है।''[१]

'विद्या' और 'अविद्या' की इस परिभाषा में 'वैशेषिक सूत्र'[२] की छाया सी दृष्टिगोचर होती है। एक अन्य स्थल पर वैशेषिक सूत्र उद्धृत करते हुए ऋषि ने बतलाया है– ''जो दुष्ट अथवा विपरीत ज्ञान है उसको अविद्या कहते हैं, जो अदुष्ट अर्थात् यथार्थ ज्ञान है, उसको विद्या कहते हैं।''[३]

अविद्या के स्वरूप और उदाहरण प्रस्तुत करते हुए स्वामी जी ने योगसूत्र को उद्धृत करते हुए कहा है– ''जो अनित्य संसार और देहादि में नित्य अर्थात् जो कार्य जगत् देखा सुना जाता है, सदा रहेगा, सदा से है और योगबल से यही देवों का शरीर सदा रहता है वैसी विपरीत बुद्धि होना अविद्या का प्रथम भाग है।''[४] अशुचि अर्थात् मलमय स्त्रयादि के (शरीर) और मिथ्याभाषण चोरी आदि अपवित्र में पवित्र बुद्धि दूसरा, अत्यन्त विषय सेवन रूप दुःख में सुख बुद्धि आदि तीसरा, अनात्मा में आत्मबुद्धि कर ना अविद्या का चौथा भाग है। यह चार प्रकार का विपरीत ज्ञान अविद्या कहाती है। इसके विपरीत अर्थात् अनित्य में अनित्य, और नित्य में नित्य, अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र, दुःख में दुःख,सुख में सुख, अनात्मा में अनात्मा और आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना विद्या है।[५]

इस प्रकार स्वामी जी ने 'विद्या' को 'यथार्थज्ञान' और 'अविद्या' को 'अज्ञान' कहा है। यहाँ 'अज्ञान' की अन्य पारिभाषिक शब्दावली, 'संशय', 'तर्क', 'विपर्यय' आदि पर यद्यपि विचार नहीं किया गया, तथापि इन सब मिथ्या ज्ञानों का अज्ञान के अन्तर्गत अन्तर्भाव समझना चाहिए। अविद्या के कारण पर विचार करते हुए स्वामी जी ने वैशेषिक सूत्र,[६] उद्धृत करके उसका अर्थ ही दिखला दिया है– ''इन्द्रियों और संस्कार

---

१. सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लास, पृ० ३०५, ३०६

२. इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या, वैशेषिक दर्शन ९.२.१०
तद्दुष्टज्ञानम्, वै०सू० ९.२.११ एवं अदुष्टंविद्या, ९.२.१२

३. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृ० ८२

४. अनित्याशुचि दुःखानात्मसुनित्यशुचिसुखात्मरनातिरविद्या योगसूत्र, २.५

५. सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लास, पृ० ३०५.

६. इन्द्रियदोषात्संस्कारदोषाच्चाविद्या। वै० सूत्र ९.१२.११

के दोष से अविद्या उत्पन्न होती है।''[१] स्वामी जी ने इसकी व्याख्या नहीं की। 'धर्मोत्तर' आदि बौद्धाचार्यों ने तथा 'जयन्तभट्ट', 'वाचस्पति मिश्र' और 'श्रीधर' आदि न्याय के आचार्यों ने इसकी विशद व्याख्या की है। संक्षेप में, नेत्रों में कामला रोग होने से जो शंख आदि श्वेत वस्तु भी पीली-पीली दिखलायी देती है यह भ्रान्ति इन्द्रिय दोष, इन्द्रिय में कामला रोग के कारण होती है। जो प्रकाश की कमी या बहुत दूरी आदि के कारण एक वस्तु को दूसरी समझ लिया जाता है, वहाँ प्रकाश भी चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण है। उसकी कमी से इन्द्रिय अपना कार्य ठीक प्रकार से नहीं कर पाती। अतः यह बाह्य करण इन्द्रिय को ही प्रभावित करते हैं और इसे इन्द्रिय दोष के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है। संस्कार-दोष का उदाहरण है— सीपी में रजत की भ्रान्ति होना। वहाँ रजत जैसी चमकती सींपी देखकर व्यक्ति मन या आत्मा में स्थित रजत के संस्कार के कारण उसे रजत समझ लेता है। यहाँ भी भ्रान्ति में बाह्य कारण है ही, जो इन्द्रिय को प्रभावित करता है, किन्तु संस्कार दोष भी उसका कारण है।

स्वामी जी ने सभी मानस भ्रान्तियों में अन्य में अन्य बुद्धि होने को अन्यथा ख्याति माना है। यह न्याय-वैशेषिक की 'अन्यथाख्याति' ही कही जा सकती है। यह भी एक प्रकार का 'अज्ञान' ही है। 'जैनियों' के दर्शनों में 'अन्यथाख्याति', 'अख्याति', 'असत्-ख्याति' और 'अनिर्वचनीय ख्याति' मानी जाती है। यही स्थिति 'वेदान्तियों' के 'अध्यारोप अपवाद' में है, ये सब स्वामी जी को स्वीकार नहीं हैं। 'बौद्धों' की 'असत् ख्याति', जिसके अनुसार अविद्यमान पदार्थ की प्रतीति मानी जाती है स्वामी जी ने ऐसे शून्यवाद और अभाव से भावोत्पत्ति के मन्तव्य का खण्डन किया है।[२]

'नवीन वेदान्तियों' के 'अध्यास-वस्तु-ब्रह्म' में अवस्तु जगत् के प्रपञ्च के आरोप को स्वामी जी ने स्वीकार नहीं किया है। 'अध्यास' का प्रसिद्ध उदाहरण है—रज्जु में सर्प का आरोप करना। 'वेदान्त' की व्यावहारिक दृष्टि से रज्जु वस्तु है और उसमें अवस्तु (प्रातिभासिक वस्तु) सर्प का अध्यारोप कर लिया जाता है। इस मत का निराकरण करते हुए स्वामी जी कहते हैं— ''तुम रज्जु को वस्तु और सर्प को अवस्तु मानकर इस भ्रम जाल में पड़े हो। क्या सर्प वस्तु नहीं है? जो कहो कि रज्जु में नहीं तो देशान्तर में और उसका संस्कार मात्र हृदय में है फिर वह सर्प अवस्तु नहीं रहा।'' भ्रान्ति के अन्य स्थलों में भी यही बात है। ''वैसे ही स्थाणु में पुरुष, सीप में चाँदी आदि की व्यवस्था

---

१. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृ० ८२

२. सत्यार्थप्रकाश, द्वादश समुल्लास, पृ० ५५७ और अष्टम समुल्लास पृ० २८०, २८१.

समझ लेना।''[१]

'वेदान्ती' यह भी कहते हैं कि जिस प्रकार स्वप्न में अनेक अविद्यमान पदार्थों की कल्पना कर ली जाती है— उसी प्रकार ब्रह्म में अवस्तुभूत प्रपंच की कल्पना कर ली जाती है।

इस पर महर्षि दयानन्द कहते हैं—''स्वप्न में भी जिनका भान होता है, वे देशान्तर में हैं, उनके संस्कार आत्मा में भी हैं। इसलिए यह स्वप्न भी वस्तु में अवस्तु के आरोपण के समान नहीं।''[२]

'वेदान्तियों' की दृष्टि में ब्रह्म में आरोप्यमाण यह प्रपंच अवस्तु है, इसे 'सद्' या 'असद्' रूप से नहीं कहा जा सकता, अतः यह अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय की ख्याति होने से यहाँ 'अनिवर्चनीय-ख्याति' हो रही है। किन्तु ऋषि दयानन्द की दृष्टि में दृश्यमान पदार्थ भी वस्तु हैं, सद् हैं और जैसा आगे दिखलाया जायेगा यह जगत् भी अवस्तु नहीं अपितु सद् है। अतः अनिर्वचनीय-ख्याति ऋषि को स्वीकार्य नहीं हो सकती। इस प्रकार अन्यथा ख्याति और विवेकाग्रह का समन्वय ही ऋषि दयानन्द को अभिमत प्रतीत होता है।

यथार्थ ज्ञान (सत्य की परीक्षा)- स्वामी दयानन्द ने सत्य के अन्वेषण और उसके प्रकाशन में अपना समग्र जीवन समर्पित कर दिया। 'यथार्थ ज्ञान' अथवा 'सत्य' के सम्बन्ध में उन्होंने 'सत्यार्थ-प्रकाश' में जो विचार व्यक्त किये हैं वे इस प्रकार हैं—

''मेरा इस ग्रन्थ को बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य-सत्य अर्थ का प्रकाश करना है, अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है।''[३] उनकी दृष्टि में सत्य की (यथार्थ ज्ञान) की परीक्षा के पाँच साधन हैं—

१. जो जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदों के अनुकूल हो वह-वह सत्य और उससे विरुद्ध असत्य है। २. जो-जो सृष्टिक्रम के अनुकूल वह-वह सत्य और जो-जो सृष्टि क्रम से विरुद्ध है वह वह असत्य है। ३. आप्त अर्थात् जो धार्मिक, विद्वान्, सत्यवादी, निष्कपटियों का संग उपदेश के अनुकूल है, वह-वह ग्राह्य और जो जो

---

१. सत्यार्थप्रकाश,एकादश समुल्लास पृ० ३६८

२. द्रष्टव्य- सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास पृ० ३८६

३. सत्यार्थप्रकाश, भूमिका पृ० २

विरुद्ध वह वह अग्राह्य है। ४. अपने आत्मा की पवित्रता,विद्या के अनुकूल अर्थात् जैसा अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे ही सर्वत्र समझ लेना कि मैं भी किसी को दुःख दूँगा, सुख दूँगा तो वह भी अप्रसन्न और प्रसन्न होगा। ५. आठों प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव।''[१]

सत्य की परीक्षा के विषय में बतलाये गये इन पाँच साधनों के विषय में यह ध्यान देने योग्य है—

ईश्वर के जिन गुण, कर्म, स्वभावादि का आगे विचार किया जायेगा उनकी अनुकूलता और प्रतिकूलता का विचार करना आवश्यक है। सृष्टि-क्रम का निरूपण भी आगे किया जायेगा। स्वामी जी ने इसका उदाहरण दिया है— ''जैसे— कोई कहे कि बिना माता-पिता के योग के लड़का उत्पन्न हुआ, ऐसा कथन करना सृष्टि-क्रम के विरुद्ध होने से सर्वथा असत्य है।''[२] इसी प्रकार सृष्टि-क्रम का विचार करके किसी कथन या ज्ञान की सत्यता की परीक्षा की जा सकती है। सत्य की परीक्षा के लिए तीसरी कसौटी है— जो आप्तों के उपदेश के अनुकूल है वह सत्य है। यहाँ शंका हो सकती है, कि अभी आगे प्रमाणों के अन्तर्गत आप्तोपदेश— का भी ग्रहण किया गया है फिर यहाँ पृथक् रूप से यह बात क्यों कही गयी है। इसका समाधान इस प्रकार हो सकता है, कि आप्तों का उपदेश शब्द प्रमाण है, वह तथ्य का बोधक है। किन्तु यहाँ बतलाया गया है, कि जहाँ किसी सामान्य जन के वचन से कोई बात ज्ञात हो रही है, यदि वह आप्तों के उपदेश के अनुकूल है तब तो वह सत्य है और यदि उनके उपदेश के प्रतिकूल है 'तो असत्य है। यहाँ जो सत्य की चौथी कसौटी के रूप में यह कहा गया है, कि जो आत्मा की पवित्रता और विद्या के अनुकूल है वह सत्य है। यह मनु के 'स्वस्य च प्रियमात्मनः[३] वचन की ही व्याख्या कही जा सकती है। ''हमारी आत्मा को जो प्रिय होता है वही सत्य होता है फिर भी इसकी व्याख्या ऋषि की अपनी है,'[४]

आत्मा का सहज स्वभाव सत्य की परख कर लेना है। दयानन्द यह मानते हैं कि सत्य को जानना ही आत्मा का स्वभाव है, किन्तु वह कारणवश असत्य को स्वीकार कर लेता है— ''मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है तथापि अपने प्रयोजन

---

१. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास पृ० ६९, ७०

२. सत्यार्थप्रकाश, भूमिका पृ० ७०

३. मनुस्मृति १.३१

४. द्रष्टव्य परि० ६, अनु० २१

की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़कर असत्य में झुक जाता है।''[१]

अष्ट प्रमाण– अविद्यादि दोषों के छुटकारे के लिए सत्य की परीक्षा हेतु अष्ट प्रमाण माने गये हैं। इन अष्ट प्रमाणों से सत्य असत्य की परीक्षा भली प्रकार से हो जाती है। स्वामी दयानन्द ने 'सत्यार्थ-प्रकाश' के तृतीय समुल्लास में आठों प्रमाणों के लक्षण क्रमशः इस प्रकार दिये हैं—

प्रत्यक्ष, प्रमाण–''इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि-व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।''[२]

जो श्रौत, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरण रहित सम्बन्ध होता है, इन्द्रियों के साथ मन का, और मन के साथ आत्मा के संयोग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं। परन्तु जो व्यपदेश्य अर्थात् संज्ञा-संज्ञि के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है (वह) वह ज्ञान न हो। जैसा किसी ने किसी से कहा है ''जा ले आ''। वह लाके उसके पास रखकर बोला कि ''यह जल है''। परन्तु वहाँ 'जल' इन दो अक्षरों की संज्ञा लाने वा मँगवाने वाला नहीं देख सकता है। किन्तु, जिस पदार्थ का नाम 'जल' है वही प्रत्यक्ष होता है और जो शब्द से ज्ञान उत्पन्न होता है वह 'शब्द' प्रमाण का विषय है। 'अव्यभिचारि' जैसे किसी ने रात्रि में खम्भे को देखकर पुरुष का निश्चय कर लिया। जब दिन में उसको देखा तो रात्रि का पुरुष ज्ञान नष्ट होकर स्तम्भ ज्ञान रहा। ऐसे विनाशी ज्ञान का नाम व्यभिचारी है, (सो प्रत्यक्ष नहीं कहलाता है) 'व्यवसायात्मकम्' किसी ने दूर से नदी की बालू को देखकर कहा कि— 'वहाँ वस्त्र सूख रहे हैं, जल है वा और कुछ है, वह 'देवदत्त' खड़ा है वा 'यज्ञदत्त'। जब तक एक निश्चय न हो तब तक प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। किन्तु जो अव्यपपदेश्य, अव्यभिचारी और निश्चयात्मक ज्ञान है उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं।''[३]

अनुमान प्रमाण– अनुमान के सम्बन्ध में न्यायसूत्र को उद्धृत करते हुए स्वामी जी ने लिखा है— ''अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टञ्च।''[४]

---

१. द्रष्यव्य- सत्यार्थप्रकाश, भूमिका पृ० २,३

२. न्यायदर्शन अध्याय १.१.४

३. द्रष्टव्यः सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास,पृ० ९३.

४. न्यायदर्शन १.१.५

जो प्रत्यक्षपूर्व अर्थात् जिसका कोई एक देश व सम्पूर्ण द्रव्य किसी स्थान का काल में प्रत्यक्ष हुआ हो, उसका दूरदेश से सहचारी, एकदेश के प्रत्यक्ष होने से अदृष्ट (सहचारी वा) अवयवी का ज्ञान होने को 'अनुमान' कहते हैं, जैसे पुत्र को देख के पिता, पर्वतादि में धूम को देखकर अग्नि, जगत् में सुख-दुःख देखकर पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

वह अनुमान तीन प्रकार का है— पूर्ववत् जैसे बादलों को देखकर वर्षा का, विवाह को देखकर सन्तानोत्पत्ति का पढ़ते हुए विद्यार्थी को देखकर विद्या होने का निश्चय होता है इत्यादि। जहाँ-जहाँ कारण को देखकर कार्य का ज्ञान हो, वह पूर्ववत् है।

दूसरा— 'शेषवत्' अर्थात् जहाँ कार्य को देखकर कारण का ज्ञान हो, जैसे नदी के प्रवाह को बढ़ता देखकर ऊपर हुई वर्षा का, पुत्र को देखकर पिता का, सृष्टि को देखकर अनादि कारण का तथा कर्ता ईश्वर का और सुख-दुःख पाप पुण्य के आचरण का ज्ञान होता है।

इसी को शेषवत् कहते हैं और तीसरा—

'सामान्यतोदृष्ट' जो कोई किसी का कार्यकारण न हो, परन्तु किसी प्रकार का साधर्म्य एक-दूसरे के साथ हो, जैसे कोई भी बिना चले दूसरे स्थान को नहीं जा सकता वैसे ही दूसरों का भी स्थानान्तर में जाना बिना गमन के कभी नहीं हो सकता। 'अनुमान' शब्द का अर्थ यही है, कि 'अनु अर्थात् प्रत्यक्षस्य पश्चान्मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्' जो प्रत्यक्ष के पश्चात् उत्पन्न हो। जैसे धूम के प्रत्यक्ष देखे बिना अदृष्ट अग्नि का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।''[१]

उपमान-प्रमाण– उपमान की परिभाषा भी उन्होंने 'न्याय-दर्शन' के आधार पर दी है— ''प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्य साधनमुपमानम्।''[२]

जो प्रसिद्ध प्रत्यक्ष साधर्म्य से साध्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य ज्ञान की सिद्धि करने का साधन हो, उसको 'उपमान' कहते हैं। ''उपमीयते येन तदुपमानम्'' जैसे — किसी ने किसी भृत्य से कहा कि 'तू विष्णु मित्र को बुला ला'। वह बोला कि— ''मैंने उसको कभी नहीं देखा।'' उसके स्वामी ने कहा कि —''जैसा यह देवदत्त है वैसा ही वह विष्णु मित्र है वा 'जैसी यह गाय है' वैसी ही गवय अर्थात् नील गाय होती है।

---

१. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृ० ९४

२. एवं न्यायदर्शन १.१.६

जब वह वहाँ गया और देवदत्त के सदृश् उसको देखकर निश्चय कर लिया कि यही विष्णु मित्र है। उसको ले आया। अथवा किसी जंगल में जिस पशु को गाय के तुल्य देखा, उसको निश्चय कर लिया कि इसी का नाम 'गवय' है। यही 'उपमान-प्रमाण' कहलाता है।''[१]

शब्द-प्रमाण शब्द-प्रमाण की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है– ''आप्तोपदेशः शब्दः''

जो आप्त अर्थात् पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकार, प्रिय, सत्यवादी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय पुरुष जैसा अपने आत्मा में जानता हो और जिसने सुख पाया हो, उसी के कथन की इच्छा से प्रेरित सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो. अर्थात् जितने पृथ्वी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होकर उपदेष्टा होता है। जो ऐसे पुरुष और पूर्ण आप्त परमेश्वर के उपदेश वेद हैं उन्हीं को 'शब्द प्रमाण' जानो।''[२]

ऐतिह्य-प्रमाण– इस प्रमाण के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है– ''न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवा भावप्रामाण्यात्।''

जो इति ह अर्थात् इस प्रकार का था, उसने इस प्रकार किया। अर्थात् किसी के जीवन-चरित का नाम 'ऐतिह्य' है।''[३]

अर्थापत्ति-प्रमाण– अर्थापत्ति प्रमाण के सम्बन्ध में उनका विचार है– ''अर्थादापद्यते सा अर्थापत्तिः।'' केन-चिदुच्यते–सत्सु घनेषु वृष्टिः सति कारणे कार्य्यं भवतीति'। किमत्र प्रसज्यते–'असत्सु घनेषु वृष्टिरसतिकारणे (च) कार्य्यं न भवति', जैसे–किसी ने किसी से कहा कि 'बादल के होने से वर्षा और कारण के होने से कार्य उत्पन्न होता है। इससे बिना कहे यह दूसरी बात सिद्ध होती है, कि– 'बिना बादल वर्षा और बिना कारण के कार्य कभी नहीं हो सकता।' यही 'अर्थापत्ति' है।''[४]

सम्भव प्रमाण– उक्त प्रमाण के विषय में उनका कहना है–''सम्भदति यस्मिन् स सम्भवः।'' कोई कहे कि– माता पिता के बिना सन्तानोत्पत्ति हुई। किसी ने मृतक जिलाये, पहाड़ उठाये, समुद्र में पत्थर तराये, चन्द्रमा के टुकड़े किये, परमेश्वर का अवतार हुआ, मनुष्य के सींग देखे और बन्ध्या के पुत्र और पुत्री का विवाह किया।''

---

१. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृ० ९५

२. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृ० ९५ एवं न्यायदर्शन १.१.७

३. वही, पृ० ९६ एवं न्यायदर्शन २.२.१

४. द्रष्टव्य-सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृ० ९६

इत्यादि सब बातें असम्भव हैं। क्योंकि ये सब बातें सृष्टिक्रम के विरुद्ध हैं। जो बात सृष्टिक्रम के अनुकूल हो, वहीं 'संभव' है।[१]

अभाव-प्रमाण– अभाव प्रमाण की परिभाषा उन्होंने इस प्रकार दी है– ''न भवति यस्मिन् सोऽभावः'', जैसे किसी ने किसी से कहा कि हाथी ले आ। उसने वहाँ हाथी का अभाव देखकर जहाँ हाथी था वहाँ से ले आया।[२] इसका अन्तर्भाव दिखलाते हुए वे लिखते हैं– ये आठ प्रमाण हैं। इनमें जो शब्द में ऐतिह्य और अनुमान में अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव की गणना करें, तो चार प्रमाण रह जाते हैं।

इन पाँच प्रकार की परीक्षाओं से मनुष्य सत्याऽसत्य का निश्चय कर सकता है, अन्यथा नहीं।[३]

इस प्रकार यहाँ भारतीय दर्शनों में प्रतिबिम्बित, ज्ञान-मीमांसा पर विचार करते हुए स्वामी दयानन्द के 'ज्ञान-मीमांसा सम्बन्धी विचारों का भी विवेचन प्रस्तुत किया गया। साथ ही इस सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द की जो पृथक् विचारधारा है। उसको भी यहाँ प्रस्तुत किया गया।' स्वामी दयानन्द के अनुसार ज्ञान के यथार्थ स्वरूप को भी यहाँ भली-भाँति व्यक्त किया गया है। अब आगे आलोच्य कवि आचार्य मेधाव्रत के काव्यों में उपलब्ध 'दयानन्द दर्शन' से प्रभावित 'ज्ञान मीमांसा' के अन्तर्गत आने वाले विचारों का विवेचन किया जा रहा है।

स्वामी दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश' के 'ग्यारहवें' समुल्लास में वैदिक ज्ञान के मार्ग को छोड़ने पर अज्ञान के कारण भारत की जो दुर्दशा हुई है उसका यथार्थ चित्रण किया है। इसके साथ ही भारतीय समाज में फैली कुरीतियों और मिथ्याज्ञान का खण्डन करते हुए सत्य और यथार्थ का मण्डन किया है। 'पं० मेधाव्रत' ने यहाँ से प्रेरणा लेकर भारत की दुर्दशा ओर मिथ्याज्ञान का चित्रण अपने 'दयानन्द-दिग्विजय' नामक महाकाव्य में इस प्रकार किया है–

यथा–

> **जगन्नभोऽन्तान्निगमप्रभाकरे, नितान्तमस्ताचललम्बिमण्डले।**
> **शनैः शनैरार्य वसुन्धराम्बरं, समावृणोन्मोहतमः कदम्बकम्।।** ४

---

१. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृ० ९६

२. वही, पृ० ९७

३. वही,

४. द०दि० १.७

अर्थात्—संसाररूपी आकाश से वेद रूपी सूर्य सर्वथा अस्ताचलगामी हो चुका था। मिथ्याज्ञान रूपी घोर अन्धकार धीरे-धीरे भारतीय वसुन्धरा के गगनांङ्ग में छा चुका था। आगे भी वे लिखते हैं—

भयंकराज्ञाननिशि प्रमोहतो निमीलितं भारतलोकपंकजम्।

व्यबोधयद्यः श्रुतिबोधदीधिति प्रभाभिरादित्य इव व्रतीश्वरः।। [१]

अर्थात्— उस समय इस आर्यावर्त में अज्ञानरूपी रजनी का साम्राज्य था। जैसे रात को कमलिनी मुँद जाती है, वैसे ही भारतीय जनता अज्ञान, प्रमाद, आलस्य, आदि दोषों के कारण सब उन्नतियों से हाथ धो बैठी थी। ऐसे भयंकर समय में सूर्य के समान तेजस्वी आदित्य ब्रह्मचारी दयानन्द ने वेदोपदेशरूपी किरणों के प्रकाश से अज्ञानी जनता को अज्ञान निद्रा से जगाया। ऐसे विचार आगे भी व्यक्त करते हुए लिखा है—

भवाटवीध्वान्तपथाभिगामिनं मनुष्य संघं विषयापगाप्लुतम्।

प्रबोधदीपप्रभया मुनीश्वरः प्रकाशकस्तम्भ इवोददीधरत्।। [२]

अर्थात्— उस समय की हालत बड़ी ही दयनीय थी। मानव-समुदाय संसार रूपी घोर जंगल में अज्ञान व्याप्त मत-पन्थों के रास्ते में ठोकरें खा रहा था। लोग विलासिता की अधोगामिनी नदी में गोते खा रहे थे। ऐस समय में महामुनि ने वेद-ज्ञानरूप दीपक के प्रकाश से डूबते हुओं को बचा लिया, जैसे समुद्र के यात्रियों को प्रकाश-स्तम्भ बचा लेता है।

अज्ञान के अंधेरे से छुड़ाकर सन्मार्ग पर लाने के प्रयास का वर्णन इन शब्दों में किया गया है—

अबोधगर्त्ते पतितानयं जनान् सुबोधसोपानपरम्परां दिशन्।

यदिर्दयार्द्रेण हृदा य आपदां पथोऽनयन्मुक्ति समृद्धिसत्यपथम्।। [३]

अर्थात्— इस महान् संन्यासी ने दयालु हृदय से मतमतान्तरों की खाइयों में बड़े लोगों को सदुपदेश की सीढ़ियों द्वारा बाहर निकाला और दुःख-मार्ग से हटाकर अभ्युदय और मोक्ष के महान् मार्ग पर ला खड़ा किया। वे आगे लिखते हैं—

महोग्रतापत्रयतापितं जगज्जगद्गुरुर्वेदमहार्णवोदरात्।

---

१. द०दि० १.८

२. द०दि० १.९

३. द०दि० १.१०

निपीय बोधामृतमम्बुवर्षणैरहर्षयद्योऽम्बुधरो मनोहरः।। १

अर्थात्— जैसे मनोहर मेघमण्डल महासागर में से जल ग्रहण कर गर्मी से तपे भूतल को अपनी सुन्दर वर्षा से आह्लादित करते हैं वैसे ही जगद्‌गुरु दयानन्द ने वेदों से उपदेशामृत लेकर त्रिविध उग्रतापों से तपे जगत् को अपनी मधुर वाणी-वर्षा से आनन्दित किया।

इस प्रकार देखा जा सकता है, कि आलस्य, प्रमाद, और मिथ्याज्ञान के कारण भारतीय समाज दुर्दशा को प्राप्त हुआ। स्वामी दयानन्द ने बड़े परिश्रम पूर्वक वैदिक भारत का चित्र जनता के समक्ष प्रस्तुत किया और समाज को यथार्थ ज्ञान के मार्ग पर लाने का प्रयास किया, यथा—

सुभोगमोक्षोभय सौख्यभोगिनां समग्रसंसारहितैषिणां सताम्।
पदे पदे ते गृहमेधिनामभुः सुवर्ण वर्णीन्द्र विराजिताश्रमाः।।
पवित्र मंत्रध्वनिमंजुलांङ्गणे गृहे गृहे भारतवर्षवासिनाम्।
ललास यज्ञानलधूममालया निरभ्रमप्यम्बरमम्बुदैर्युतम्।।
अशेषविद्याऽध्ययनाय भारते स्थले स्थले योगिगुरोः कुलं बभौ।
पृथक्पृथग् बालकबालिकागणैर्व्रतार्थिभिर्ब्रह्ममनोभिरन्वितम्।। २

स्वामी दयानन्द के विचारों से अनुप्राणित वैदिक शिक्षालयों का आदर्श प्रस्तुत करते हुए कवि लिखता है—

वनीश्वराणां फलकन्दभोजिनां वने वने संयमिनां तपोवनम्।
प्रशान्तवैरं मृगराज दन्तिभिर्निषेवितं पीतियुतैर्मिथोमृगैः।।
समग्रवेदागममर्मवेदिनां विनिर्मल ज्ञानसुधाप्रवर्षिणाम्।
गतैषणानामृषिवर्ययोगिनां पुरे पुरेऽभूदुपदेशवर्षणम्।।
विशुद्धवेदान्तरहस्य वित्तमाः सभासु शास्त्रार्थ विधानपण्डिताः।
निरंजनब्रह्मनिलीनमानसाः पुरा बभूवुः सुलभादियोषितः।। ३

ऐसे गुरुकुलों से निकले पुरुषों के आदर्श चरित्र का वर्णन द्रष्टव्य है, यथा—

---

१. द०दि० १.११

२. द०दि० १.१४,१६

३. द० दि० १.१७,१९

प्रभंजनप्राणसमाञ्जनासुतो, जगद्त्रयख्यातचरित्रविक्रमः।
रघूत्तमादर्शसुभक्तपुंङ्गवोरराज धीमान्, हनुमान व्रतीश्वरः।।
अखण्डचारित्र्य पवित्रितान्वयः पितुर्विदित्वा जनतो मनोव्यथाम्।
चकार संधां व्रतितां निषेवितुं स भीषणां भीष्मपितामहो महान्।। [१]

'हनुमान्' और 'भीष्म' जैसे अखण्ड ब्रह्मचारियों से जहाँ पर भारत भूमि सुशोभित थी वहाँ राजा अश्वपति के राज्य में प्रजा का आदर्श रूप भी दर्शनीय था, यथा—

न कुम्भिलो नो कृपणो न मद्यपो न यज्ञहीनो न बुधेतरो नरः।
न मेऽस्ति राज्ये व्यभिचारि नर्षयः कुतस्तदा स्त्री व्यभिचारिणी भवेत्।।
इति स्वराज्ये समुपेयुषो मुदा महर्षसंघानवदत् प्रतिज्ञया।
स केकयेशोऽश्वपतिः सदग्रणीः प्रजामनोमन्दिरवन्द्य देवता।। [२]

प्रजापालन का आदर्श मर्यादा पुरुषोत्तम राम और भरत में देखा जा सकता है, यथा—

पितुर्वचः पालयितुं वनं गते रघूत्तमे श्रीभरतो नृप श्रियम्।
प्रदातुकामो द्रुतमेत्य सोऽग्रजं न्यवीविदन्तग्रहणाय साञ्जलि।। [३]

वेद ज्ञान की ज्योति पाकर मानव कल्याण हेतु ऋषियों ने जो ग्रन्थ रचे, उनका कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है—

महेश्वरज्ञानदिवाकरप्रभाप्रभासितान्तः करुणामहर्षयः।
मनुष्यकल्याणधिया धियोज्ज्वलान् मनोरमान् ग्रन्थ मणीन् प्रणिन्यिरे।। [४]

स्वामी दयानन्द ने अनेक दृष्टान्त, उदाहरण, आख्यायिका और प्रमाण आदि द्वारा भारतवासियों के समक्ष आर्य संस्कृति का आदर्श चित्र खींचा, यथा—

अनेकदृष्टान्तसुवर्णसुन्दरं य एवमादर्शसुचित्रमालिखत्।
नृचित्तभित्तावतुलार्यसंस्कृतेरहो दयानन्दयतिर्जयत्यसौ।। [५]

---

१. द० दि० १.३२,३३
२. द०दि० १.३५,३६
३. द० दि० १.३७
४. द०दि० १.४०
५. द०दि० १.४२

उनके ओंकारनाद और सुतर्कों के आगे प्रतिवादी भाग खड़े होते थे, यथा—

प्रमाणनिस्त्रिंशसुतर्कसायकैः सभारणे-तान् प्रतिपक्षिपण्डितान्।
अधर्मवर्मावृतगात्रमण्डलान् विभेद यः शास्त्रिमहारथो भटान्।। [१]

उन्होंने वेदशास्त्रों के विशाल उद्यान विकसित किये और स्त्री शिक्षा पर बल दिया, यथा—

यदीयतेजोरविणा विकाशिता मनोज्ञवेदागमवृक्षवाटिका।
सतां हृदाशा महिलापिकस्वराः कवीन्द्रकाव्यप्रतिभासरोजिनी।।
स यन्महिम्ना महिलाजनः पुनः स्ववेदविद्याध्ययनाधिकारवान्।
सुमन्त्रशिक्षामुपवीतदीक्षया प्रपद्य भेजे निजगौरव श्रियम्।। [२]

मोहरूपी समुद्र में डूबी जनतारूपी नौका को उन्होंने पार लगाने का प्रयास किया यथा—

मोहाब्धिमग्नजनतातरणिं विपत्तेरुद्धर्तुमिच्छुरजहान्निजमुक्तिसौख्यम्।
यो ध्यानदृष्टपरमेश्वरलाभतुष्टस्तस्यास्तु पुण्यचरितं जगतो हितार्थम्।। [३]

इस प्रकार देखा जा सकता है, कि कवि ने वेद ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद, रामायण, महाभारत, दर्शन और अन्य विविध शास्त्रों के प्रमाण देकर पतन के गर्त में पड़े, भारतीय समाज को उबारने का प्रयास किया।

भारतीयों की दुर्दशा का चित्र भी कवि ने खींचा है– आर्यों ने एक ईश्वर की कल्याणकारी उपासना को छोड़कर वेद विरुद्ध स्वकल्पित मूर्तिपूजा प्रारम्भ कर दी थी। स्वार्थी, भोजनभट्ट ब्राह्मण निर्दोष प्राणियों का वध करके उनका अग्नि में होम कर देते थे। शिव और पार्वती के नाम पर मदान्ध वाममार्गी लोग मद्य पीकर स्त्रियों के साथ निन्दित आचरण करते थे। अपने दोषों की खान मूर्तिपूजा के झूठे प्रभाव से वशीभूत होकर किंकर्त्तव्यमूढ राजागण शत्रुओं से अपने पूज्य देवालयों की रक्षा न कर सके। इस प्रकार आर्य जाति महान् उपकारी, वन्दनीय, माता-पिता विद्वान् और ज्ञानी अतिथियों का सत्कार लाभ छोड़कर जड़ पूजा में लग गयी। धर्म के बहाने पापी धूर्तों

---

१. द०दि० १.४४

२. द० दि० १.४५, ४७

३. द०दि० १.५०

ने मिथ्या मत मतान्तरों की रचना की। धन हरण करने के लिए मन्दिरों में मूर्ति पूजा प्रारम्भ हुई। जैसे— भेड़िया हिरण को, बिल्ली चूहे को, बाज पक्षी को और बगुला मछली को अपने जाल में फँसा लेता है, वैसे ही इन दाम्भिक धर्मध्वजी पुजारियों ने रमणीय रत्नों को फँसाना प्रारम्भ किया। बहुपत्नी विवाह होने से अकाल में ही युवक काल कवलित होने लगे और विधवाओं की संख्या बढ़ने लगी ये विधवाएँ उच्छृंखल होकर एकान्त में तीर्थों में, मन्दिरों में और मठों में धूर्त मठाधीशों के साथ लीला करने लगी। मूढ श्रद्धालु अपनी कन्याओं को देवों की भेंट मन्दिरों में चढ़ाने लगे। यहीं से 'देवदासी प्रथा' प्रचलन में आयी। इसी प्रकार इन कुरूढियों और अज्ञान ने भारत देश की वह दुर्दशा की कि जिनसे भारतीय समाज आज भी उबर नहीं पाया है। पानी, वृक्ष, अग्नि, वायु, पत्थर सूर्यादि जड़ पदार्थों एवं भूत-प्रेत कब्र तथा बुद्धि हीन पशुओं की पूजा में मनुष्य समाज नष्ट हो गया।[१]

आगे कवि ने लिखा है, कि जैसे लकड़ियों के परस्पर संघर्ष से अग्नि सुलग जाती है और उस अग्नि से जंगल जल जाता है उसी प्रकार राजाओं के ईर्ष्या, द्वेष आदि के कारण एक दूसरे के प्रति विमल प्रेम नष्ट हो चुका था। अतः इन्होंने भ्रष्ट बुद्धि होकर मुसलमान बादशाहों की दासता स्वीकार कर ली जिनके भय से भारतीय स्त्रियों में 'पर्दा प्रथा' प्रारम्भ हुई। इन मांसाहारियों के संसर्ग दोष से आर्यों में बुद्धिनाशक मदिरा-पान, जुआ, वेश्यागमन, शिकार और मांसाहार के दोष खूब बढ़े। स्वामी दयानन्द के समय भारत के अधिकतर राज्य ब्रिटिश साम्राज्य में मिल गये थे। ऐसी दुर्दशा के समय टंकारा में जन्मे स्वामी दयानन्द ने यथार्थ ज्ञान त्याग और तपस्या के बल पर भारत की दशा को सुधारने का प्रयास किया।[२]

स्वामी दयानन्द को यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति शिवलिंग पर चढ़े चूहें के द्वारा भोज्य पदार्थों के खाने और झूठे शिव द्वारा चूहे से रक्षा न कर पाने को लेकर हुई। उनके मन में यह सन्देह हुआ कि जो शिव चूहे से भी अपनी मूर्ति और अन्न को नहीं बचा सकता वह अपने शरणागत भक्तों को कैसे बचावेगा क्या ये वही गिरीश, विश्वम्भर, सत्यस्वरूप साक्षात् शंकर भगवान् हैं अथवा यह इनकी चाँदी की बनी मूर्ति है; क्योंकि विख्यात पराक्रमशाली, पिनाकधारी रुद्र की यह मूर्ति अपने शिर पर बैठे खाद्य पदार्थ खाने वाले चूहों को भगाने में असमर्थ है, यथा—

---

१. द०दि० २.१०,२३

२. द०दि० २.२७,६०

यो मूषकेभ्योऽपि विरक्षितुं स्वां मूर्तिं न शक्तो निजभक्तलोकान्।
त्रातुं समर्थः शरणागतान् स्यात् कथंन्वसावुन्दुरुदूषितान्नः।।
शक्ता न मूर्तिर्निजमस्तकस्थाँ स्तानुन्दुरान् भक्षितमिष्टभोगान्।
पिनाकिनः ख्यातपराक्रमस्य रुद्रस्य विद्रावयितुं यदेषा।। १

पिता ने दयानन्द की शंका को दूर करने का प्रयास किया, किन्तु दयानन्द तो यथार्थ ज्ञान का दर्शन कर चुके थे। पिता की बातों पर उन्हें विश्वास नहीं हुआ। पिता के वचन सुनकर उन्होंने पिता से कहा कि जीवात्मा तो हमेशा ज्ञानाभिलाषी है और मूर्ति जड़ है अतः मूर्ति उसके ज्ञान में कुछ भी सहायता नहीं कर सकती। इसलिए इस मूर्ति की पूजा से मुक्ति एवं परमात्मा की प्राप्ति कैसे सम्भव है—

जीवात्मनां ज्ञानजुषां कृते या जडार्चना नैव फलं प्रसूते।
तत्सेवया कः परमार्थलाभः शिवोपलब्धिश्च कथं भवेन्नु।। २

बुद्धिमान् बालक 'मूलशंकर' प्रतिमा पूजन से विमुख हो चुका था। अतः व्रतोपवास को उसने बकरी के गले के स्तन के समान व्यर्थ समझा। 'मूलशंकर' ने विवेक बुद्धि से जिस सत्य को जान लिया था, अब ब्रह्मा जी भी उसे इस सत्य से डिगा नहीं सकते थे, बेचारे पिता की तो बात ही क्या—

बुधबालकमूलशंकरः प्रतिमापूजनतः पराङ्मुखः।
उपवासमजीगणन्मुधा तमजाकण्ठभवस्तनोपमम्।।
विमलेन विवेकचक्षुषा प्रसमीक्ष्यानृतकर्म धर्मभृत्।
यदमंस्त दृढं ततोऽन्यतो न विधिर्नेतुमलं कुतः पिता।। ३

'मूलशंकर' ने अपने बचपन में यह सत्य भी समझ लिया था कि मृत्यु अवश्यम्भावी है। मृत्यु से छूटने का कोई उपाय अवश्य करना चाहिए जिससे दुःखदायक जन्म मरण के चक्कर में न पड़ना पड़े। इन्द्रियों के भोग-विलास तभी तक अच्छे लगते हैं जब तक कि उनका नाश नहीं हो जाता क्योंकि उनका परिणाम विषतुल्य है। अतः अमरपद पाने के लिए अवश्य प्रयत्न करना चाहिए, यथा—

१. द०दि० ४,५८,६३
२. द०दि० ४,५८
३. द०दि० ५.५,६

मरणं यदि मेऽपि निश्चितं विपदो मोचनयोगमार्गणम्।
करणीयमवश्यमात्मनो न पुनर्जन्म लभेय दुःखदम्।।
सकलेन्द्रिय भोग सम्पदो विषया आपतनं हि सुन्दराः।
परिणामविषोपमा न्वहो, अमृतं मृग्यमतो मया ध्रुवम्।। [१]

अपनी प्यारी बहिन की मृत्यु पर 'मूलशंकर' जड़ मूर्ति के समान खड़ा हुआ जब मृत्युञ्जय बनने का उपाय खोज रहा था तब सारा परिवार हृदय विदारक विलाप कर रहा था। वस्तुतः 'मूलशंकर' विरक्त हो चुका था और अथाह चिन्तासागर की तरंगों में गोते खा रहा था क्योंकि बहिन के मरने का क्लेशदायक शोक उसने जीवन में प्रथम बार अनुभव किया था। उसने निश्चय किया कि मैं जब तक मरणकाल के दुःख की पीड़ा से बचाने वाली और अक्षय आनन्द को सिद्ध कराने वाली मंगल कारक मुक्ति को प्राप्त न कर लूँगा तब तक तपस्या करता रहूँगा। जब मैं सांसारिक त्रिविध तापों के निवारण करने में समर्थ हो जाऊँगा और परम आनन्द के धाम निरंजन कल्याणकारी परमेश्वर का साक्षात् दर्शन कर लूँगा तभी शान्ति प्राप्त करूँगा। यहीं कामदेव को जीतने वाले इस ब्रह्मचारी ने मन में दृढ़ संकल्प कर लिया और अपने भावों को गुप्त रखकर कल्याणमय निर्वाणपद का अभिलाषी हो गया, यथा—

मृतिकालरुजानियन्त्रणापरिरक्षाऽक्षय सौख्यसाधिका।
नहि यावदवाप्यते मया शुभमुक्तिस्समुपास्यते तपः।।
भवदुःखनिवारणक्षमं, परमानन्दपदं निरंजनम्।
शिवशंकरमीश्वरं यदा शममाप्स्यामि लभेय तं तदा।।
मनसेति विमृश्यमारहा निजसंकल्पदृढेन तत्स्थले।
स बभूव निगूढभावनः शिवनिर्वाणपदं प्रलाषुकः।। [२]

अपने चाचा की मृत्यु पर बालक 'मूलशंकर' को यह विवेक उत्पन्न हुआ कि सभी उत्पत्ति मान पदार्थ क्षणभंगुर हैं, यथा—

सहजामथ धीरतां क्षणात् सुविवेकी बटुमूलशंकरः।
प्रतिपद्य धिया पवित्रया निरणैषीज्जनिमद्विनाशिताम्।। [३]

---

१. द०दि० ५,४१,४२.
२. द०दि० ५.४५, ४७
३. द०दि० ५.६०

बहिन और चाचा की मृत्यु की घटनाओं से इनके हृदय में वैराग्य की भावना प्रबल हो उठी, वृद्ध मुनिगण बड़े ही यत्न से सम्पूर्ण इन्द्रियों के संयम रूप इन्धनों द्वारा विवेक की अरणियों की रगड़ से जिस वैराग्याग्नि को जलाते हैं, उसी वैराग्य अग्नि को इस पुण्यवान् चतुर, युवा, संयमी, ब्रह्मचारी ने बिना परिश्रम के ही स्वाभाविक-ज्ञान की लकड़ियों से प्रदीप्त कर दी।[१]

इस प्रकार देखा जा सकता है, कि स्वामी दयानन्द ने जगत् की यथार्थता को जान लिया था। उनका स्वभाव अपने पिता से सर्वथा भिन्न था। उन्होंने भली प्रकार समझ लिया था कि पिता तो कट्टर मूर्तिपूजक हैं और वह मूर्तिपूजा का कट्टर शत्रु। पिता, धन, मान और प्रतिष्ठा का अभिलाषी है। वह इन सब बातों का विरोधी है और संन्यास वृत्ति का इच्छुक है। पिता उपवास, जप, तप आदि बाह्य आडम्बरों में निपुण है और उसकी रुचि तो अन्तरंग संयम के साधनों में है। इन्हीं दोनों की विचार सरणि अन्धकार और प्रकाश की तरह परस्पर अति भिन्न है। इस प्रकार पुत्र और पिता में प्रेमपूर्वक मेल कैसे हो? यह युवक आत्मरत मोक्षाभिलाषी था,इसीलिए विवाह संस्कार को यह अपने लिए सांसारिक बन्धनों में फँसाने वाली बेड़ी समझता था। अतः यह दुःखदायी विवाह की अभिलाषा कैसे कर सकता था।[२]

इस प्रकार स्पष्ट प्रतीत होता है, कि 'मूलशंकर' ने मिथ्या रूढ़ियों से छुटाकारा पाना बचपन से ही प्रारम्भ कर दिया था। विवाह का प्रस्ताव आने पर उन्होंने अपने गृह को ही त्याग दिया। उन्होंने यह भी जान लिया था कि मरण दुःख के महासागर से केवल योगरूपी नौका द्वारा ही तरा जा सकता है और यह योग ही है, जिससे सत्य स्वरूप ब्रह्म का दर्शन हो सकता है, यथा—

ऋतमहेश्वरदर्शनकारिणी मरणदुःखमहार्णवतारिणी।
लसति योगमहातरणिः परं बुधगणादशृणोदिति सन्मणिः।। [३]

स्वामी दयानन्द ने जीवन के यथार्थ को भोगा था। माँ, बाप, गृह, सुख एवं सकल ऐश्वर्य को इन्होंने तृण के तुल्य त्याग दिया था। लोभी ब्राह्मणों के माँगने पर इन्होंने

१. द०दि० ५.६५, ६६
२. द०दि० ५.७१, ७४
३. द०दि० ६.४

आभूषण भी त्याग दिये।"[१] इसके पश्चात् 'स्वामी विरजानन्द' के पास अध्ययन तक इनका सारा जीवन योग साधना और ज्ञान की प्राप्ति में बीता। उन्होंने 'हिमालय' की घाटियों में और 'नर्मदा' की कन्दराओं में घूम-घूम कर योगी पुरुषों से योग विद्या सीखी। अनेक धूर्त और पाखण्डी जनों से भी इनका सम्पर्क हुआ। कुछ धर्म ध्वजी लोगों को उन्होंने मद्य, मांसादि का सेवन करते हुए देखा। अनेकों लोगों ने उन्हें लालच भी दिया, किन्तु वे मिट्टी के ढेले के समान सांसारिक ऐश्वर्य को त्याग चुके थे। स्वामी दयानन्द चित्त की वृत्तियाँ को रोककर सब विषयों से शुद्ध सत्त्व हो गये और मैत्री करुणा आदि की भाषाओं से चित्त की प्रसन्नता को प्राप्त कर निरन्तर द्रष्टा, बुद्धि से आत्मा एवं परमात्मा के स्वरूप में स्थित हो गये। वे इन्द्रियों के सम्पूर्ण दोषों को प्राणायामों से जलाकर धारणा वृत्ति से पापों का क्षय कर चुके थे। अतः स्वामी दयानन्द जी ने प्रत्यग् ज्योति आत्मा के दर्शन जन्य आनन्द में तृप्त होकर दिव्यानन्द की प्राप्ति कर ली थी। ऋतम्भरा, प्रज्ञा के साक्षात्कार करने वालों में श्रेष्ठ स्वामी जी ने ओ३म् स्वरूप परमात्मा के ध्यान में अन्तरात्मा को मग्न कर सर्वप्रकार की वृत्तियों के निरोध से निर्बीज समाधि साधकर सच्चिदानन्द परब्रह्म का दर्शन कर लिया। इनके पास आठों प्रकार की दिव्य भोग प्रदान करने वाली सुन्दर स्वरूप वाली स्त्रियों की तरह सिद्धियाँ अपने भावों को प्रकाशित करती हुई उपस्थित रहती थी, किन्तु ऋतज्ञयोगीन्द्र ने इन्हें धैर्य से हटा दिया। जो विविध रूप धारिणी प्रकृति देवी पर प्रभुत्व रखने वाला अपने अनेक यौगिक ऐश्वर्यों से सम्पन्न होने पर भी उसमें आसक्त न हो और विकार के कारणों के समुपस्थित होने पर भी जिसका चित्त विचलित न हो वही धीर पुरुष है। इस क्रान्तदर्शी विद्वान् ने योग के आठों अंगों का पालन करने से पूर्ण ब्रह्म में पूर्ण निष्ठा प्राप्त कर ली थी। अहंकार नष्ट कर दिया था। सब विभूतियों के ऐश्वर्यों को प्राप्त करने पर भी ये केवल ब्रह्मानन्द में लीन रहते थे, और अपने जीवन को सफल बना चुके थे।[२]

इस योग के दृढ़ आधार पर ही वे सत्यासत्य का निर्णय करने में समर्थ होते थे। योगाभ्यास के कारण स्वामी जी की बुद्धि पवित्र हो गयी थी, और उन्हें जन्मसिद्ध धारण शक्ति प्राप्त हो गयी थी। उज्ज्वल ज्ञान की अधिकता के कारण उनकी सत्य में श्रद्धा भी अपनी समग्रता में थी। ऐसे महापुरुष को तत्त्व ग्रहण करने में क्या विलम्ब

---

१. द०दि० ६.११

२. द०दि० ९.३६, ४१

लग सकता है ? स्वामी जी मन्द मन्द पवन से मनोहर मन्दाकिनी के किनारे योगाभ्यास करते हुए आनन्द मग्न रहते थे। उन दिनों उन्होंने चावल भी खाना छोड़ दिया था। केवल दुग्धाहार करते थे और जीवन युक्त परम हंस के समान रहा करते थे, यथा—

योगाभ्यासैर्निर्मला सा मनीषा येनावाप्ता जन्मसिद्धा च मेधा।
सत्यश्रद्धा प्रोज्ज्वलज्ञानवृद्धा तत्त्वग्राहे तस्य कस्स्याद् विलम्ब:।।
मन्दाकिन्यां मन्दमन्दानिलायां योगाभ्यासानन्दसंलीन चेता:।
दुग्धाहारो मुक्तभक्ताशनोऽयं मुक्तैर्भक्तैस्तौल्यलौल्यं बभार।। १

यद्यपि ब्रह्मवेत्ता योगी न निर्विकल्क समाधि द्वारा सत्य ज्ञान प्राप्त कर लिया था। तथापि वैदिक ज्ञान द्वारा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति समझाकर मूर्ख पण्डितों को शास्त्रार्थ में हराने के लिए वे एक उत्तम आचार्य के अन्वेषण में थे। योग प्रतिष्ठित इस योगी को योग की इतनी चाहना न रह गयी थी जितनी कि ज्ञान की। जिसकी प्राप्ति के लिए वे बाल्यपन में ही 'काशी' जाना चाहते थे। परन्तु खेद है, कि उस काशी में उनको इस समय आर्ष ज्ञान का देने वाला कोई गुरु न मिला।[२]

इसके पश्चात् मथुरा में स्वामी विरजान्द को पाकर सत्य ज्ञान की उनकी प्रबल इच्छा पूर्ण हुई। अपने गुरु की आज्ञा से उन्होंने भारत भर में भ्रमण करके मूर्ति पूजा आदि अज्ञान को दूर करने का प्रयास किया। 'वैष्णव' 'शैवादि' विविध मतमतान्तरों से देश में रूढ़ि और पाखण्ड फैल रहे थे। उन्होंने इन सबका खण्डन किया। 'वैष्णव मत' का खण्डन करते हुए उन्होंने कहा कि शंख, चक्र, गदा और पद्मों के आकार के बने हुए ताम्बें के पदार्थों को अग्नि में तपाकर शरीर को दाग देने से जीवात्मा परमात्मा की प्राप्ति कैसे कर सकता है। माला, तिलक और नाम के धारण करने से एवं केवल जप से यदि विष्णु की प्राप्ति हो तो सत्य, अहिंसा आदि व्रतों और अनुष्ठानों की क्या आवश्यकता है—

शंखचक्रगदापद्मै: संतप्तैरनले वपु:।
अंकयित्वा प्रभुप्राप्ति: कथं स्यादात्मनामहो।।
मालातिलकसंज्ञानां धारणै: केवलं जपै:।
लभ्येत यदि वैकुण्ठ: अत्यादिभिरलं व्रतै:।। ३

---

१. द०दि० ९.५४, ५६
२. द०दि० ९.६६,६७
३. द०दि० ११.११२–११३

इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने 'वैष्णव' सम्प्रदाय के ग्रन्थों में से अनेक उद्धरणों द्वारा उनकी लीलाओं की कड़ी आलोचना की और 'वैष्णव' विद्वानों को हराकर चुप कर दिया। 'राजस्थान' और 'काशी' में भी उन्होंने 'शैव' मत का खण्डन किया। 'पुष्कर' में 'स्वामी जी' ने बलपूर्वक मूर्तिपूजा और 'वैष्णव' मत का खण्डन किया। 'व्यंकट शास्त्री' नामक एक पण्डित को जो न्याय के बड़े विद्वान् थे, 'भागवत्' सम्प्रदाय के सिद्धान्तों पर कड़ी मात दी। उन्होंने (पण्डितों) दयानन्द के सत्यपक्ष को स्वीकार कर लिया।[१]

'पुष्कर' में एक बार स्वामी जी ने 'शिव' और 'विष्णु' की मूर्तिपूजा का निषेध किया और निराकार ईश्वर की उपासना का उपदेश दिया। एक बार एक वृद्धा स्त्री 'ब्रह्मा' की मूर्ति के दर्शन से लौटकर 'स्वामी जी' के दर्शन करने आई, स्वामी जी ने पूछा माता तुम कहाँ से आ रही हो? उसने कहा मैं 'ब्रह्मा' का दर्शन करके आ रही हूँ। क्या 'ब्रह्माजी' ने आपको कोई उपदेश दिया? वह बोली हाँ। 'स्वामी जी' झट उठकर उस वृद्धा के साथ मूर्ति के पास आकर उससे बोले कि माता मूर्ति को बोलने के लिए कहो। बुढ़िया हँसकर बोली 'स्वामी जी' महाराज आपके सामने तो बड़े-बड़े विद्वान् भी चुप हो जाते हैं इस मूर्ति की तो बात ही क्या?[२] इस प्रकार स्वामी जी ने यथार्थ रूप में अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करने का प्रयास किया। उन्होंने यथार्थ को जीवन में स्वयं जीया।

इसके पश्चात् स्वामी जी 'अजमेर' पहुँचे। 'अजमेर' में उन दिनों 'रामस्नेही' सम्प्रदाय का महन्त आया हुआ था। वेदवक्ता 'स्वामी' ने उसे शास्त्रार्थ के लिए बुलाया। वह अनेक बहाने बनाकर शास्त्रार्थ से डरता हुआ वहाँ से भाग खड़ा हुआ था। हाँ! सचमुच वह भारत भूमि ऐसे पाखण्डियों से घिरकर शोचनीय दशा को प्राप्त हो चुकी थी। स्वकपोलकल्पित मत मतान्तरों के महन्तरूपी उल्लुओं के हृदयों को कम्पित करने वाले विश्व में फैले पाप-अन्धकार को नाश करने वाले पुण्य आत्माओं के हृदय-कमलों को खिलाने वाले दयानन्द दिवाकर के उग्र वचन किरणों से यह आर्य वसुन्धरा आलोकित हो गई।[३] इस प्रकार यथार्थ जीवन ही उनका सर्वस्व था।

यहाँ देखा जा सकता है, कि स्वामी जी ने ज्ञान और कर्म का अद्भुत समन्वय किया

---

१. द०दि० ११.१२८-१३१

२. द०दि० ११.१४६-१४८

३. द०दि० १२.४१-४२

हुआ था। यथार्थ ज्ञान ग्रहण करने के साथ-साथ वे मिथ्या ज्ञान को भी दूर करते रहते थे।

इसके पश्चात् 'स्वामी जी' हरिद्वार पहुँचे और वहाँ पाखण्ड खण्डिनी ध्वजा फहरायी। व्रतधारी संन्यासी ने तर्क की कुल्हाड़ी के विपुल, पुराणों की लीलारूपी ललित लताओं को मानो जड़मूल से काट दिया। वेद-सिद्धान्तवेत्ता, धृत्तिमान् स्वामी ने साम्प्रदायिक धर्मों की राजधानी में जोर-शोर से मूर्तिपूजा का खण्डन किया। उन्होंने वेद के प्रमाणों तथा तर्कों से व्यापक और अजन्मा परमेश्वर के अवतारवाद का खण्डन किया, इसलिए धूर्त पुजारी क्रुद्ध हो गये। उन दिनों प्रत्येक मन्दिर में तथा प्रत्येक मनुष्य के मुख पर मूर्तिपूजा के खण्डन करने वाले इन मुनिवर की ही चर्चा थी। इन विद्वान् संन्यासी के दर्शनार्थ तथा इनकी अद्भुत वाणी को सुनने के लिए विद्वान् लोग छिपकर इनकी सभा में आया करते थे। 'स्वामी जी' के मुख से खण्डन की जाती हुई जडपूजा, ईश्वर की उत्पत्ति तथा मृतक श्राद्ध क्रिया को सुनकर बड़े-बड़े विद्वान् 'स्वामी जी' की ओर आश्चर्यमय दृष्टि से देखते ही रह जाते थे। मुनिराज ने तीर्थ स्थान, कण्ठी, विविध तिलक, तथा नाम माहात्म्य की खूब धज्जियाँ उड़ायीं। स्वामी जी के उपदेशों से विपक्षी सत् पुरुषों के ज्ञान नेत्र खुल गये और इन संयमी सार्वभौम के सब महान् भक्त बन गये। कितने ही पण्डे और पुजारी अपने अल्पबुद्धि यजमानों से 'स्वामीजी' नास्तिक हैं, ऐसा कहकर उनकी शंकाओं का समाधान किया करते थे। कतिपय पण्डितमन्य पौराणिक इस ब्रह्मचारी सम्राट के विरोध में इनकी निन्दा करने लगे और अपनी सभाओं में भाषण देने लगे। 'स्वामी जी' ने पाखण्ड और दम्भ के खण्डन का ऐसा 'बलवान् भूकम्प' पैदा कर दिया कि मानों मन्दिर मठ के देवी देवतारूपी गिरि माला बारम्बार काँप उठी। 'काशी' के ख्यातनाम 'स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती' स्वामी जी की सभा में आकर जन्ममूलक, वर्णपरक, "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्०" मन्त्र को प्रस्तुत करके निम्नलिखित अर्थ करने लगे— "ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जांघों से वैश्य और चरणों से शूद्र उत्पन्न हुए।" स्वामी जी ने कहा कि आपने जो इस मन्त्र का अर्थ किया, वह असंगत है, मुख से तो थूक पैदा होता है।[१]

सचमुच तो इस मन्त्र का अर्थ यह है, कि समाज में विद्या और गुणों से अलंकृत होने के कारण ब्राह्मण मुखतुल्य हैं। शौर्य, औदार्य आदि गुणों से विभूषित होने के

१. द०दि० १२.८५-१०४

कारण क्षत्रिय भुजा तुल्य हैं। कृषि और वाणिज्य द्वारा प्रजापालक होने के कारण वैश्य उदरवत् है तथा तीनों वर्णों की सेवा में तल्लीन होने से शूद्र चरणवत् सदा सेवा करते हैं। वेदों के मन्त्रार्थ को न समझने के कारण मूर्ख जन रूपक अलंकार को न समझ सके, जिससे मिथ्या अर्थ किया।[१]

समाज में वर्णों की व्यवस्था, गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार होनी चाहिए। वेद की ऐसी ही आज्ञा है, जिसे सबको स्वीकार करना चाहिए। 'स्वामी विशुद्धानन्द' जी इस प्रकार स्वामी जी के साथ शास्त्रार्थ में पराजित होकर ऐसे निस्तेज हो गये,यथा— सूर्य के सामने चन्द्र। 'महानन्द' नामक विद्वान् संन्यासी ने स्वामी जी के पास वेदों का दर्शन किया और उनके सदुपदेशों से वेदानुयायी बने। 'निर्मला संत सिंह ने स्वामी जी से 'चित्सुखी' नामक ग्रन्थ की एक पंक्ति का अर्थ पूछा, स्वामी जी ने अर्थ बताया और कहा कि यह कोई प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है। अनेक शास्त्रों के विद्वान् स्वामी जी की विद्या की परीक्षा लेने आये किन्तु बातचीत के पश्चात् 'स्वामी जी' ने सबकी वाणी रूपी पेटी में मौनता का ताला लगा दिया। योगीश्वर दयानन्द ने 'भागवत् खण्डन' की एक पुस्तिका लिखी थी जिसे जनता में 'भ्रम निवारणार्थ' 'कुम्भ' के प्रसंग पर बाँटी थी। दयालुहृदय, त्यागी, 'दयानन्द जी ने' श्रद्धालुओं के लिये भेंट के द्राक्ष, फूल, मिठाई, आदि गरीबों को प्रदान कर दिये। 'स्वामी विशुद्धानन्द' जी से 'गोसाइयों' का विवाद चल रहा था। 'गोसाइयों' ने उससे सहायता देने के लिए 'योगीश्वर' से प्रार्थना की, स्वामी जी ने समत्व की भावना से सहायता देना अस्वीकार किया।[२]

'दिव्य दयानन्द जी' ने 'कुम्भ' में दूसरों को ठगने में चतुर, गृहस्थों से भी गये बीते यतिधर्म से विमुख, स्वच्छन्दी, संन्यासियों को देखा। ये संन्यासी धर्माभिलाषी, सरलहृदय, वैश्यों को धर्म के बहाने धार्मिक प्रवचनों से मोहकर उनसे धन ऐंठकर स्वेच्छाचार फैला रहे थे। स्वेच्छाचारी, विषयमग्न, मुण्डी, मण्डल यदि पहले भक्तों की स्त्रियों को अपनी चेली बनाकर पश्चात् उनके पति भाव को धारण करे तो हा! संसार नष्ट हुआ।[३]

इस प्रकार देखा जा सकता है, कि 'स्वामीजी' ने प्रत्यक्ष रूप से सक्रिय होकर यथार्थ ज्ञान का प्रकाश और अज्ञान के अन्धकार को बड़े प्रयास पूर्वक दूर करने का

---

१. द०दि० १२.१०५-१०७

२. द०दि० १२.१०८-११५

३. द०दि० १२.११६-११८

सक्रिय प्रयत्न किया। उनका ज्ञान सम्बन्धी चिन्तन न तो कल्पना पर आधारित है और न ही जिह्वा का भ्रमजाल। वे जीवन के यथार्थ धरातल परजिये और मिथ्या मत मतान्तरों को पूरी शक्ति के साथ दूर करने में लगे रहे। 'हरिद्वार' में ही साधुओं की मण्डलियों में सत्यज्ञानी, कर्मवीर, महात्मा, मनुष्य कल्याण में संलग्न ईश्वर भक्त कोई साधु नहीं देखा, इससे इनका मन बड़ा उदास हो गया।[१]

इस 'कुम्भ' मेले में मनुष्य दया से आर्द्र, 'मुनिवर दयानन्द' के सिवाय दूसरे की विपत्ति को देखकर, आँखों के आँसुओं के साथ किसी भी साधु के हृदय में तरंगवती दया की गंगा नहीं बह रह थी। ब्राह्मण लोग मूर्तिपूजा के कारण बुद्धि भ्रष्ट होकर, स्वधर्म से विमुख हो गये और जल के उद्धत वेग के समान स्वयं भी रसातल को जा रहे थे और समाज को भी रसातल पहुँचा रहे थे।[२] इन सारे दृश्यों को देखकर स्वामी जी अत्यन्त दुःखी हो रहे थे। उन्होंने मठाधीशों, साधु, महन्तों और संन्यासियों की अकर्मण्यता पर बहुत फटकारा, तथा 'भागवत' का खण्डन करते हुए वे ऋचाओं का गान करते हुए धर्म प्रचार में लगे रहे। उनकी यही उद्‌घोषणा थी कि अजर, अमर, अजन्मा परमेश्वर को अन्तःकरण में ध्यान करते हुए पुण्य आत्मा मनुष्यों को त्रिविधतापयुक्त जन्म-मरण से मुक्ति प्राप्त होती है।[३]

'दयानन्द दिग्विजयम्' महाकाव्य के 'उत्तरार्द्ध' में स्वामी जी द्वारा यथार्थ ज्ञान के लिए किये गए सक्रिय प्रयासों और इस सम्बन्ध में विविध मत मतान्तरों के विद्वानों के मिथ्या भ्रमों के खण्डन का वर्णन किया गया है। आत्मा, परमात्मा और प्रकृति को लेकर उनका चिन्तन बड़ा सुव्यक्त था। विद्वान् लोग ब्रह्म और अब्रह्म के विवेचन में मूढ़ होकर कौवे के समान आचरण करते थे और 'ऋषि दयानन्द' 'ब्रह्म', 'जीव' और प्रकृति के परीक्षण में हंस समान थे। हंस मोती खाता है और दूध पीता है, उस समय दयानन्द निराहार रहकर दूध पीते थे। हंस दूध और जल को पृथक् करता है और दयानन्द ब्रह्म, जीवात्मा, और प्रकृति को अलग करके देखते थे, यथा—

काकायन्ते पुरा मुग्धा ब्रह्माब्रह्मविवेचने।

हंसायते स्म योगीन्द्रो मुक्ताशः क्षीरपो बुधः।। ४

---

१. द०दि० १२.११९-१२५

२. द०दि० १२.१२६-१२७

३. द०दि० १२.१४९

४. द०दि०१३.२६

स्वामी दयानन्द का परमात्मा में अटल विश्वास था। इसी बल पर वे शास्त्रार्थ रूप संग्राम में उतर कर प्रतिपक्षियों पर विजय पाते थे। कवि लिखते हैं कि "ब्रह्मानन्द निलीन, जिस 'दयानन्द योगीन्द्र' को सर्वव्यापक, सर्वपालक, सर्वेश्वर, अमूर्त, अजन्मा, सर्वशक्तिमान्, सर्वप्रकाशक, परब्रह्म परमात्मा में दृढ़ अटल विश्वास एवं सत्य, श्रेष्ठ भक्ति का ही एकमात्र आधार है". ऐसा वह शास्त्रार्थ संग्राम के लिए समुद्यत हुआ। धैर्य धनी संन्यासी सर्वोत्कर्षतापूर्वक विजयी हो। 'मुनिवर दयानन्द' ने पाषाणमयी मूर्ति की पूजा, ईश्वर का अवतार, जल में तीर्थ माहात्म्य, ललाट में विविध प्रकार के तिलक,कण्ठ माला और मणियों का धारण करना, देह का दागना तथा शंख, चक्रादि का चिह्न बनाना, केवल राम, कृष्ण, हरि आदि जपना तथा भागवत की मिथ्या लीला आदि निरर्थक पाखण्डों का वेदों के प्रमाणों एवं उत्तम युक्तियों द्वारा उन्होंने खण्डन किया।[१]

आगे भी कवि उनके समाज-सुधार के कार्यों पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—

"कुछ पौराणिक लोगों ने 'पण्डित अम्बादत्त' को स्वामी जी के सामने शास्त्रार्थ के लिए उपस्थित किया। उस पण्डित ने मूर्तिपूजा को लक्ष्य करके स्वामी जी से कहा कि भगवन्! श्रुति और स्मृतियों में अनुमोदित और चिरन्तन काल से समर्थित यह माननीय देवपूजा आप क्यों नहीं मानते? मैं देव पूजा को मानता हूँ, किन्तु पत्थर की मूर्ति की पूजा नहीं मानता। ईश्वर की अमूर्तता में तो प्रत्येक शास्त्र का समर्थन है। वेदों को नहीं जानने हारे स्वार्थान्ध मनुष्यों ने अकाम, अजन्मा, मरणधर्मरहित, मुक्त आनन्दस्वरूप ईश्वर के शरीर की कल्पना की है। क्लेश, कर्मफल,वासना आदि से अलिप्त परमेश्वर, सामान्य जनतुल्य भोक्तापन धारण करके क्यों चेष्टा करें। इस अपापविद्ध शुद्ध, अकाम, परमात्मा में वेदोक्त— "सपर्यगाच्छुक्रमकाय०"इत्यादि प्रमाण देते हुए भी ईश्वर मूर्ति की कल्पना की गई। पण्डित ने कहा धर्म के सँस्थापन के लिए सज्जनों के रक्षण और दुर्जनों के नाश के लिए क्या ईश्वर शरीर धारण नहीं करता। गीता में स्वयं 'कृष्णचन्द्र परमात्मा' ने 'संभवामि युगे-युगे' इत्यादि वाक्य किस प्रयोजन से कहें? स्वामी जी ने उत्तर दिया कि निश्चय से वेद सूर्य समान स्वतः प्रमाण हैं। वेद विरुद्ध वचन नहीं माना जाता क्योंकि स्मृति उसे कहते हैं जो वेदानुगामिनी हो। सम्प्रदायी पण्डितों ने 'व्यास' और 'कृष्ण' के नाम से गीता बनायी है इसलिए उसमें स्पष्ट रूप से स्थान-स्थान पर वेद विरुद्ध वचन प्रतीत होते हैं। जब सर्वान्तर्यामी परमेश्वर देह धारण किये बिना ही

१. द०दि०१४.१-३

सज्जनों का रक्षण और दुर्जन दैत्यों का विनाश करने में समर्थ है तब फिर उसको शरीर धारण करने का प्रयोजन ही नहीं रहता।[१]''

आगे कहा गया है, कि कैलाश में शंकर, वैकुण्ठ में विष्णु, समुद्र में हरि और त्रिविष्टप् में ब्रह्मा रहते हैं। ये धूर्तों की व्यर्थ वंचना है। सुवर्ण,चाँदी और पत्थर की बनायी हुई ईश्वर की मूर्ति में अपने-अपने स्थान में निवास करने वाले इन देवों का अस्तित्व सम्भव नहीं। ऐसी जड़ मूर्तियों की पूजा से फिर क्या फल होगा? भक्तों का रक्षण तो दूर रहा, जब कि अपना रक्षण ही नहीं कर सकतीं। मन्दिर में जड़ मूर्तियों में उस विष्णु की प्राण-प्रतिष्ठा और उसका आवाहन भी पुजारी लोग नहीं कर सकते। निश्चय, जड़ पूजा से वे अत्यन्त जड़ बन गये हैं। वेद में इस प्रकार की देवपूजा नहीं कही है। देव संज्ञक माता-पिता, आचार्य, विद्वान्, अतिथि और सत्पुरुषों की पूजा (सत्कार) कहीं है। जिससे आत्मा की सदा उन्नति होती है। सन्त योगी लोग सर्वत्र विराजमान महान्, व्यापक, उपासनीयदेव, आनन्दस्वरूप, परब्रह्मपरमेश्वर को ज्ञानमय पवित्र नेत्र से हृदय में अनुभव करते हैं। कोई इसे नेत्र से देख नहीं सकता। वाणी और मन का भी यह ईश्वर विषय नहीं है। यह सर्वव्यापक प्रभु योगियों से योग द्वारा ही हृदय में आत्मा से जाना जाता है। इस प्रकार वाद में प्रवीण, बुद्धिमानों में अग्रेसर, दयानन्द ने प्रमाणों और प्रबल तर्कों से उस पण्डित प्रवर को अपने पक्ष का बना लिया। उस सत्यप्रिय पण्डित ने सत्यवानों में श्रेष्ठ ऋषि की सत्यवाणी को मुक्त कण्ठ से सभी में स्वीकार कर सभ्यजनों से कहा— ''हे सज्जनों! सचमुच, मूर्तिपूजा अवैदिक है।''[२]इस प्रकार स्वामी जी सत्य के धारण और असत्य के त्याग में निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। इसी प्रकार के दृष्टान्त कवि ने आगे भी दिये हैं, यथा—

''एक मूर्तिपूजक था, मूर्तियों के भार को घोड़े पर लादकर लाया था। उसके साथ एक नौकर था। वह स्वामी जी को वनखण्डी महादेव के मन्दिर में ले गया। उसने ललाट में त्रिपुण्ड, गले में रुद्राक्ष की मालाएँ और दोनों हाथों तथा अंगों पर चन्दन का लेप धारण किया था। उसकी जिह्वा पर इष्टदेव का नाम था। उसका नाम 'क्षेमकरण' था। वह ब्रह्मचारी नहीं जानता था कि यह दयानन्द पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ अज्ञान अन्धकार हारक, दिव्य तेजधारी अद्भुत आदित्य ब्रह्मचारी श्रेष्ठ है। वह घोर मूर्तिपूजक था और दयानन्द मूर्तिपूजा का घोर शत्रु था। वक्तृत्त्व कला चतुर ऋषि ने कठोर

---

१. द०दि० १४.२०-३२

२. द०दि० १४.२३-४१

तर्करूपी कुठारों से पाखण्ड वृक्ष से लिपटी हुई तीर्थ, अवतार आदि पुराण-लीला रूपी लताओं को काट डाला।''[१]

आगे कहा गया है, कि वहाँ 'कृष्णानन्द' संन्यासी संस्कृतज्ञ पण्डित रहता था। वह प्रसिद्ध वाममार्गी था। पाखण्डी ब्राह्मणों ने उसको शास्त्रार्थ के लिए विवश कर स्वामी जी के आगे खड़ा कर दिया। दयानन्द नाम में वह अद्भुत चमत्कार था कि इनका नाम सुनते ही विपक्षी पण्डित इनसे दूर भागते, जैसे बाज से पक्षी। वश्येन्द्रिय के सामने विवश होकर जब वह कृष्णानन्द आया, तब उसने सभापति की नियुक्ति के लिए हठ किया। स्वामी जी ने कहा ''हे संन्यासी जी! हमारे सभापति तो शास्त्र ही हैं। तब कहीं वह मान गया। उसने वेदान्तवाद का अवलम्बन कर इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा कह सुनायी—'जैसे रज्जु में सर्प का, सींप में चाँदी का अभाव है, वैसे यह सारा जगत् मिथ्या है, केवल एक ब्रह्म ही सत्य है। स्वामी जी ने कहा— ''मनुष्य के हृदय में विद्यमान सर्पज्ञान में इस रस्सी में रहा सर्प का भय नष्ट हो जाता है, वैसे ही ज्ञान होने पर जगत् का मिथ्यापन भी दूर हो जाये। हे विद्वन् ! सच्चे सर्प से उपमा दिया गया हुआ जगत् असत्य कैसे हो जावेगा? कहो, जगत् के असत्य होने पर भला रज्जु की सत्ता कहाँ से मानोगे? सर्प सत्य है। रज्जु भी विद्यमान है। तभी अन्धेरे में मनुष्य के हृदय में भ्रम पैदा होता है। बिना सर्प के भ्रम कहाँ से हो? दिवाल तो तभी चित्र बन सकेगा। निराधार में वह चित्र कहाँ से बनेगा? जब जगत् की सत्ता ही न हो, तब किसका आश्रय करके भ्रम हुआ? इसलिए संसार में ब्रह्म सत्य, जगत् सत्य और जीव भी सत्य है। यदि ज्ञान से देखा जाय तो आत्मवत् सर्व सत्य है।''[२] उन्होंने आगे कहा—'द्वासुपर्णा०' इस मन्त्र से स्पष्टतया प्रतिपादित किया है, कि जीव, ईश्वर और प्रकृति ये तीनों पदार्थ अनादि हैं। उनमें ब्रह्म सर्वज्ञ और सर्वसाक्षी है। जीव अल्पज्ञ और भोक्ता है तथा प्रकृति जड़ एवं भोग्य है। इस प्रकार प्रमाण और युक्तियों से तुम्हारा मत मिथ्या है।

कृष्णानन्द ने कहा— जिस प्रकार स्वप्न में देखा हुआ दृश्य जागृत होने पर मिथ्या प्रतीत होता है, उसी प्रकार दृश्यरूप होने से जगत् मिथ्या ही है।

'स्वामी जी' बोले— श्रीमान् जी! यदि आप दृश्यरूप होने से (जागरण में) देखी हुई वस्तुओं की स्वप्नवत् असत्यता मानते हैं तो स्वप्न की उत्पत्ति असंभव ही है।''

---

१. द०दि० १४.५२-५५, एवं ५९.

२. द०दि० १४.६०-६८.

जागृत अवस्था में मनुष्य अच्छी या बुरी जो-जो वस्तु देखता है, भोगता है और भय से छोड़ देता है, निश्चय से स्वप्न में भी उसके सामने वही वही वस्तु आती है।''

कृष्णानन्द ने कहा-स्वप्न में मनुष्य अपना कटा हुआ सिर देखकर प्रियजनों के साथ स्वयं रोता है और जागने पर कम्पित होता है, किन्तु न तो कटा हुआ सिर और न उन प्रियजनों को देखता है।''

स्वामी जी ने उत्तर दिया— कभी जागते हुए उस मनुष्य ने अपने से कटा हुआ सिर और रोते हुए उस के प्रियजन देखे थे, जिससे निद्रा में उसका दर्शन हुआ।

''स्वप्न में तमो गुण से तिरस्कृत, अतएव विवेक शून्य मन में कभी-कभी जो विपरीत दृश्य दिखायी देता है उसमें अपनी बुद्धि का प्रमाण ही एकमात्र कारण है।'' यदि ब्रह्म के बिना सब असत्य है तो दृष्टान्त रूप से स्वप्न भी मिथ्या है, तथा रज्जु सींप से लेकर मृगजल तक और दृष्टान्त और आपका मत भी प्रमाण योग्य है। पूजनीय जी ''आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।'' इस कारिका के अनुसार पहले आपका मत ही न था और आगे भी नहीं रहेगा, अतः वर्तमान समय में भी नहीं है। आप के ही मत से यह मत सत्य नहीं है, इसका मैं भी अनुमोदन करता हूँ। हे विद्वन्! यह आपका देह भी प्रथम न था, पश्चात् भी न रहेगा, तो किसलिए ये मधुर, अन्नपान से आप उसकी रक्षा करते हैं और क्यों इसके नाश से इतने डरते हैं। आप यदि ब्रह्म हैं, तो तदतिरिक्त यह शरीर मिथ्या है। अतः इस सचमुच अग्नि से जला देना चाहिये। ब्रह्म ही सत्य है और देह मिथ्या है, इस मत का शरीर जलाकर आप विश्वास दिलाइये।

विशुद्ध बुद्धिरूपी उत्तम चित्रकारिणी स्त्री, शब्द, स्पर्श आदि विषयों का आनन्द भोगने पर मानव के मनरूपी दिवाल में अनेक वासनाओं के रंग से सुन्दर, संस्काररूपी चित्र बनाती है। पुनः जब उस विषय की प्राप्ति होती है। तब संस्कार रूप तीव्र वासना के कारण वह प्रथम भोग की स्मृति, जीवात्माओं को विषयरस भोग के लिए प्रवृत्त करती है।[१]

''दार्शनिक लोग पूर्वानुभूत स्मृतिज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं, इसीलिए जागृत और स्वप्न दशा में वह मन को नितान्त खिलाया करती है; क्योंकि वह जीव स्वप्न में उन-उन विषयों को भोगता है। वह ब्रह्म तो निस्पृह है। जीवों को कर्मफल देता है और प्रकृति पंचतत्त्वों से सृष्टि बनाता है।''

---

१. द०दि०१४.६९-८२.

आगे स्वामी ने कहा— हे विद्वन् मणे! ब्रह्म में यह जगत् का भान किसको हुआ? कृष्णानन्द —जीव को। स्वा०— वह अज्ञान किसमें और क्यों? कृ०-ब्रह्मा में अज्ञान रहता है और वह अनादि है। स्वा०— ब्रह्म का क्या स्वरूप? कृ०—यह नित्य ज्ञानस्वरूप है। स्वा०— फिर ईश्वर में अज्ञान कहाँ से? कृ०-माया से। स्वा०— वह माया क्या चीज है? कृ०— वह भासमान होती हुई भी अरूप है। स्वा०- अरूप होती हुई कैसी भासती है? यह सब तुम्हारा उन्मत्त बकवाद है, इत्यादि प्रमाम तर्कों से तार्किक सम्राट् दयानन्द ने तीन दिन तक कृष्णानन्द के असत्य पक्ष को जनता के समक्ष खण्डित कर दिया। विवाद के समय किसी मनुष्य ने उस 'कृष्णानन्द यति' से पूछा कि— हे स्वामी जी! यह जल मैं शिवजी को चढ़ाकर आऊँ क्या? तब शीघ्रता से बीच में ही ऋषि ने उस मनुष्य से कहा कि—ये शिव प्रभु नहीं है, किन्तु यह तो पत्थर है, तब वह कृष्णानन्द रुष्ट होकर कुछ न बोल सका। कुछ देर पश्चात् उसने पूछा। कृ०— क्या इसमें महादेव नहीं है? स्वा०- वह शिव तो सदा सर्वत्र ही है, मन्दिर से अन्य स्थान में भी है, तो मन्दिर में जाना व्यर्थ है। कृ०- तब मूर्ति में भी व्याप्त है। स्वा०-मनुष्यों के हृदयों में भी वह है। कृ०-मूर्ति में भावना करने से मिल जाता है। स्वा०-ऐसी यह भावना मिथ्या है। कहीं भी वेदों और उपनिषदों में योगाभ्यास बिना पत्थर की पूजा से निराकार ईश्वर की प्राप्ति नहीं कही है। कृ० -यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत!'' इस गीता वचन को आप विद्वान् होकर क्या नहीं मानते? स्वा०— निश्चय से वह निराकार है, अतः वह देह धारण नहीं करता। 'सपर्यागात्०' इत्यादि वेद वचन आप विद्वान् को मानना पड़ेगा। इस प्रकार इस वाद में वेदों के विद्वान् स्वामी ने कृष्णानन्द को शास्त्ररूपी शस्त्रों से कुण्ठित बुद्धि एवं आहत मनवाला बनाकर हरा दिया, तब वह पागल सा होकर दयानन्द से विमुख होकर लोगों की ओर देखता हुआ न्यायशास्त्र का वाक्य बोलने लगा[१]—

''गन्धवती पृथ्वी। धूमवान् वह्निः'' लक्षण का भी लक्षण होता है, इत्यादि अनर्गल बकने लगा। स्वा०— हे श्रीमान् —धीमन् लक्ष्य का लक्षण होता है, लक्षण का लक्षण नहीं, जैसे आटे का आटा और कारण का कारण नहीं होता है। वाग्मिश्रेष्ठ स्वामी के इस प्रकार बोलने पर सारी सभी हँस पड़ी और सूर्य के सामने जैसा चन्द्र निस्तेज हो जाता है, वैसे दयानन्द के सामने कृष्णानन्द फीका पड़ गया। उसके मुख से झाग निकली, उसकी वाणी रुक गयी और लज्जा से संत्रस्त होकर शीघ्र वह सभा से उठकर अपने

१. द०दि० १४.८३-९५.

आश्रम को चला गया। इस शास्त्रार्थ के प्रभाव से ब्रह्मचारी 'क्षेमकरण' जी ने हर्ष से मूर्तियों का बड़ा भाग गंगा को अर्पण कर दिया, उसने ललाट से तिलक, गले से रुद्राक्ष माला और हाथ तथा गात्रों से चन्दन का लेप अज्ञान के साथ-साथ छोड़ दिया।[१]

इस प्रकार प्रबल तर्कों द्वारा स्वामी जी ने वेदान्तियों की झूठी लीला, मूर्तिपूजा के पाखण्ड और झूठी भावना के अज्ञान से जनता को सचेत कर यथार्थ ज्ञान का स्वरूप समझाया अन्य मतों के विद्वानों से उनके जो शास्त्रार्थ हुए उनमें से कुछ का दिग्दर्शन मात्र यहाँ कराया जा रहा है, यथा—

''तब पौराणिक लोग शीघ्र अनूपपुर (शहर) जाकर श्रुति, स्मृति और व्याकरण में निष्णात, विख्यात कीर्तिवाले कट्टर मूर्तिपूजक 'हीराबल्लभ' नामक पण्डित को आदरपूर्वक पूर्वक बुला लाये और स्वामी जी के सामने उनको उपस्थित किया। वह पण्डित बड़ा अभिमानी था। साक्षात् दर्प का स्वरूप था। सभा में उपस्थित होकर उसने आनन्द से सिंहासन पर अपनी पूजनीय देवमूर्तियों को प्रतिष्ठित करके सभा के समक्ष उच्च स्वर से प्रतिज्ञा की। हे सभ्य महानुभाव! सावधान होकर आप मेरे वचन को सुनिये— मैं दयानन्द के हाथ से इन देवमूर्तियों को नैवेद्य दिलवाकर ही शास्त्रार्थ सभास्थल से उठूँगा। आप शान्त चित्त से हमारा शास्त्रार्थ सुनिये। छः दिन तक दो हजार जनों के बीच इन वादी दिग्गजों का शास्त्रार्थ न्याय और नियम पूर्वक चला।''

यह शास्त्रार्थ निरन्तर देववाणी में हो रहा था, इतर पण्डित भी 'हीरावल्लभ' की सहायता करते रहते थे। शास्त्रार्थ इस प्रकार हुआ—

स्वामी जी— हे विद्वन्! ये किनकी आकृतियाँ है? 'हीराबल्लभ' मुनिवर्य! ये देवों की मूर्तियां हैं। स्वा०— ये कौन से देव हैं? हीरा० — ये 'ब्रह्मा', 'विष्णु', 'महेश'— सृष्टि के कर्ता, धर्ता और संहर्ता। स्वा०— क्या इन मूर्तियों में देवता का लक्षण घटता है? 'यास्काचार्य' सम्मत देव पद का निर्वचन कीजिये। हीरा० ''देवो दानाद्वा दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा द्युस्थाने भवति इति वा।'' स्वा०— हे जड़ पूजक, इन प्रतिमाओं में यह लक्षण घटता है क्या? हे विद्वन्? आपकी देवमूर्तियों में न दानशीलता, न दीपनता, न प्रकाशकत्व और नहीं द्युस्थानाश्रयत्व प्रतीत होता है तो इनकी अर्चना से क्या लाभ? जड़पूजा का केवल जड़ता ही फल है और विद्वद् पूजा का विद्वत्तारूप उत्तम फल है। आप ही यथार्थ रूप से सोचिये कि आपने यह बुधेन्द्रता कहाँ से प्रास की। हे मतिमन्!

---

१. द०दि० १४.९६-१०१.

आप यदि आनन्द स्वरूप परमेश्वर को प्राप्त करने के लिए मूर्तिपूजा करते हैं, तो यह वृथा है, यदि आप सांसारिक दुःख चक्र से छुटकारा चाहते हैं, तो सनातन वेद मत को ही मानिये।''[१]

आगे भी यह शास्त्रार्थ इस प्रकार चला—''परमेश्वर प्राप्ति और मुक्ति के लिए वेद मन्त्र का यह प्रमाण है— ''वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्०'' इत्यादि। इसका भार यह है, कि अज्ञान अन्धकार से रहित, सूर्य सम प्रकाशक उस महान् पुरुष परमात्मा को यथार्थरूप से जानकर ही उपासक योगी मृत्यु से तर जाता है और प्रभु को प्राप्त करता है। परमात्म ज्ञान के सिवाय मनुष्य की मुक्ति नहीं है। ''ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'' ज्ञान के सिवाय मनुष्य की मुक्ति नहीं है। सारे शास्त्र निश्चय से यही प्रतिपादन करते हैं। बिना कर्म के ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता अतः यथार्थज्ञान उपार्जन करना चाहिये, यथा—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
अत्येति मृत्युं तमयं विदित्वा नान्योऽस्ति पन्था अयनाय तस्मात्।।
ज्ञानादृते नैव मनुष्य मुक्तिः शास्त्राणि चैवं हि समामनन्ति।
ज्ञानं बिना कर्म च नैव लभ्यं सत्यं ततो ज्ञानमुपार्जनीयम्।। [२]

मूर्तिपूजा का खण्डन करते हुए आगे कहा गया है—''मनुष्य को जीवात्मा, परमात्मा तथा प्रकृति इन तीनों का भिन्न स्वरूप तत्त्वरूप से जानना चाहिए। यथार्थ बोध होने पर ही सत्य भक्ति अर्थात् श्रद्धा उत्पन्न होती है; क्योंकि सच्ची भक्त से यह ईश्वर की उपासना सरलता से हो सकती है। अनन्तर जीवात्मा अष्टांगयोगानुष्ठान से चित्त को विषय-विमुख एवं एकाग्र बनाकर परब्रह्म के साक्षात्कार को पाकर उत्तम आनन्द का उपभोग करता है। वेदों और शास्त्रों में भी 'विष्णु' भगवान् की मूर्तिमत्ता का जरा भी वर्णन नहीं मिलता। फिर प्रभु की मूर्ति न बन सकने के कारण कपोलकल्पित मूर्तिपूजा वन्ध्या पुत्र के विवाह के समान मिथ्या है। ऋषि के इस प्रकार प्रबल मूर्तिपूजा का खण्डन करने पर 'हीरा लाल पण्डित' ने 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इस सूत्र पर शास्त्रार्थ किया। ऋषि के महाभाष्य विषयक प्रमाण सुनकर तो वह स्तब्ध ही हो गया। यति सम्राट्रूपी मृगराज के श्रुति और तर्करूपी नखों के प्रहारों से सर्वथा निगृहीत गजराज साम पण्डित 'हीलाबल्लभ' मद को त्यागकर नम्र बन कर के खड़ा हो गया। परमहंस

---

१. द०दि० १४.१२१-१३३.

२. द०दि० १४.१३४-१३५.

दयानन्द रूपी प्रभाकर से निकली हुई, वैदिक वाणी रूपी किरणों से सुशोभित हुए, द्विजरूपी नक्षत्रों से वेष्टित, 'पण्डित हरीबल्लभ' रूपी चन्द्र की अतिविमिल बुद्धिरूपी सुप्रभा जनता में चमकने लगी।[१]

योगीन्द्र ने जब 'हीराबल्लभ पण्डित'को मूर्तिपूजा के शास्त्रार्थ में पराजित किया, तब उस सत्यप्रिय, सहृदय पण्डित प्रवर ने स्वयं ही सभा में सभ्यों को सम्बोधन करके कहा कि – हे भद्र पुरुषों! सचमुच! मुझे यतिराज ने वेदों के प्रमाणों एवं उत्तम युक्तियों से जीत लिया। परमहँसरूपी सूर्य से सत्य का प्रकाश पाकर आज मेरा बुद्धि रूपी कमल विकसित हो गया।[२]

स्वामी जी ने 'चक्रांकितों' का भी खण्डन किया, यथा–

''मतिमान मुनीन्द्र ने चक्रांकितों के मिथ्या मत का तर्क द्वारा तीव्रता से खण्डन किया और भागवत ग्रन्थ अशुद्ध एवं त्याज्य है। ऐसा प्रतिपादन किया। इस प्रकार से यहाँ 'चक्रांकित' सम्प्रदाय के लोग उनसे शत्रुता करने लगे। एक ठाकुर हाथ में तलवार लेकर दण्डधारी नौकरों के साथ मुनिवर को मारने की इच्छा से स्वामी जी के आसन के पास आकर उनसे सटकर बैठ गया और पशु के समान प्रमत्त होकर अविनयाचरण करने लगा। स्वामी जी ने उसे समझाया किन्तु वह दुष्टता ही करने लगा तब उससे विरक्त होकर स्वामी जी अन्य मठ में चले गये। यह देखकर स्वामी भक्त 'बलदेवसिंह' ने उससे तलवार छीनकर उसको धर दबाया और सारे दुष्ट रूपी गज की पीट डाला।''[३] क्या मेरे गुरुजी मेरे कर्म से रुष्ट होंगे, ऐसा सोचकर डरते-डरते बलदेव गिरि ज्योंही मुनिवर के पास गये त्योंही गुरुजी ने 'वत्स भोजन ले आओ' ऐसा आनन्द से कहकर अगले दिन ईश्वरोपासना का इस प्रकार उपदेश दिया–

ईश उपासना प्रकार– 'हे भद्र पुरुषो! अपना हृदय ही आनन्द स्वरूप प्रभु का मन्दिर है। उसे विमल भक्ति गंगा जल से धो डालना चाहिये। जिससे वह सारा का सारा पवित्र तथा आह्लादक बन जाये। उसमें मनोहर प्रज्ञा रूपी दीपक जला दीजिये और ओंकार का घण्टानाद बजाइये। उसके भीतर विराजमान प्रभुदेव की अर्चना कीजिये, वह परमात्मा आकाश के समान ब्रह्माण्ड में व्यापक है। उसकी अनन्त शक्तियाँ सब और फैली हुई हैं। वह अजन्मा, महान् इन्द्र, योगयुक्त आत्मा से ही

---

१. द०दि० १४.१३६-१४१.

२. द०दि० १४.१४२.

३. द०दि० १५.२६-२८.

अनुभव करने योग्य है। अतः इन्द्रियगण और इनके स्वामी मन को आत्मा में लीन करके योग कला से परमात्मदेव का साक्षात्कार उपासक आत्मा और परमात्मा के संगतिजन्य आनन्द को भोगे। वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् अमर, आकाश से भी बड़ा और परमाणु से भी अति सूक्ष्म है। वह निराकार, अनन्त, अनादि, उज्ज्वल स्वरूप है। उस हृदयस्थ ब्रह्म की आत्मा द्वारा ही उपासना करनी चाहिये।'[१]

चक्रांकित आचार्य रंगाचारी के शिष्य ठाकुर कर्णसिंह ने स्वामी जी से कटु शब्द कहे और उन्हें मारने को उद्यत हो गया। वह गर्वोद्धत 'ठाकुर' यतिवर की चटाई पर बैठकर बोला! 'अरे बाबा! मेरे निमन्त्रण पर आप रामलीला में क्यों नहीं आये। संन्यासी होते हुए भी आपने यह अनुचित किया। स्वामी जी— नीच मनुष्य आपके सामने आपके पवित्र पुरुषों के वेश धारण कर नाचते हैं और आप लोग देखकर प्रसन्न होते हैं। उस समय अपने पूज्य पुरुषों का निन्दनीय अनुकरण देखकर जरा भी लज्जित नहीं होते हैं। आश्चर्य है, कि तू कैसा क्षत्रिय है? तुझे लज्जा नहीं आती? अरे सामान्य जन भी सभा में माँ, बाप, के स्वरूप का अनुकरण कर नाचते हुए अपने किसी नौकर को देख सकेगा क्या? कर्ण सिंह० —अरे बाबा! मैंने लोगों से सुना है, कि तू सदा देवावतार एवं पूज्य गंगा मैय्या की अति निन्दा करता है। स्वा०- मैं निन्दा नहीं करता हूँ,परन्तु जो वस्तु जैसी है वैसी ही मैं निःशंक होकर कहता हूँ। कर्ण०- तब जिनके नाम कीर्तन, दर्शन, स्नानादि से मनुष्यों का पाप नष्ट होता है और उनको मुक्ति लाभ होता है,ऐसा उसका माहात्म्य मुनीन्द्रों ने वर्णन किया है, उस माननीय गंगा को आप नहीं मानते। स्वा०— यह सारा माहात्म्य गप्पाष्टक है। "गंगा गंगेति" यह श्लोक पौराणिक पण्डितों ने बनाये हैं। इन श्लोकों के भाव, वेद वचन और तर्क से विरुद्ध हैं। पाप का नाश और मोक्ष का लाभ तो वेदोक्त पुण्यकर्म करने से ही होते हैं।"[२]

स्वामी जी सत्य के प्रचार और प्रसार से कभी हटते नहीं थे और न ही वे घबराते थे। ब्राह्मण लोग यतिवर दयानन्द की निन्दा करते हैं यह देखकर एक वेदान्ती साधु स्वामी जी से कहने लगा कि हे महात्मन्! आप मूर्तिपूजा आदि के खण्डन से क्यों व्यर्थ ही मनुष्यों को शत्रु बनाते हैं? त्यागी होकर अनात्मजल में डूबते हैं। मेरे जैसे आप निर्लेप होकर आत्मलीनता से सुख भोगिये और आनन्द से प्राप्त अन्न का उपभोग कीजिये। ऋषि ने उस पेटू भीरु साधु से कहा— "मुझे वेद प्रचार, ईश्वराज्ञापालन और

---

१. द०दि० १५.३१-३३.

२. द०दि० १६,२२-२४.

लोकहित के कार्य में सदा विपुल आनन्द ही आता है।''[१]

बरेली में मूर्तिपूजा पर उनका शास्त्रार्थ हुआ। ''बरेली नगर के पण्डित उमादत्त जी शास्त्रार्थ संग्राम के लिए उस मेले में आये। कई पण्डितों सहित ऋषि के समीप आकर उन्होंने मूर्तिपूजन पर वाद चलाया। परन्तु अल्प समय में ही वे लड़खड़ा गये, जब कहीं पाँव न टिका तो कहने लगा कि 'एकलव्य' नामक भील ने 'द्रोणाचार्य' की मूर्ति बनाकर पूजा की थी। ऋषि ने कहा 'अज्ञानी भील' का कर्म धर्मविधि में प्रमाण भूत नहीं गिना जायेगा। किसी सभ्य मनुष्य अथवा सत्यशास्त्र का प्रमाण दें। तब उस शास्त्रार्थ कर्ता पण्डित ने दुर्योधन का उदाहरण दिया, जिस पर स्वामी ने कहा कि—महामूढ़ दुर्योधन का कथन कर्म धर्म में अमान्य है।'' पश्चात् अपने मत की पुष्टि में उसने कितने गीता के श्लोक कहे। मुनीन्द्र ने उन श्लोकों की ऐसी अद्भुत व्याख्या की कि वह पण्डित सुनकर दंग रह गया।''[२] इस प्रकार स्वामी जी प्रतिपक्षी पर सदैव अपनी छाप छोड़ देते थे। 'सत्यनारायण' की कथा का भी उन्होंने खण्डन किया। स्वामी जी से 'कायमगंज' में एक ब्राह्मण ने कहा— आप 'सत्यनारायण कथा' की निन्दा क्यों करते हैं? हम लोग उस कथा के लिए एक मनौती मनाते हैं तो हमारा कार्य सिद्ध हो जाता है। स्वामी जी ने उत्तर दिया— हम पाँच रुपये की मनौती में रखकर प्रार्थना करते हैं कि हम लखपति हो जायें तो क्या हो जायेंगे? यदि उस धन के रखने से सिद्धि हो जाये तो क्या हो परमेश्वर रिश्वतखोर बन जायें। विद्या, ऐश्वर्य आदि पदार्थ परिश्रम से ही प्राप्य है। यदि कष्ट के बिना इनकी प्राप्ति हो जाये तो फिर उसके उपार्जन के लिए तन, मन और वाणी से कौन परिश्रम करें? वह ब्राह्मण वेदवेत्ता दयानन्द से वेदानुमोदित 'विष्णु' प्रभु का स्वरूप तथा आश्चर्यकारक कर्म और उसकी प्राप्ति का प्रकार सुनकर चुप हो गया।[३]

समाज-सुधार–समाज-सुधार में स्वामी जी सदा निरत रहते थे। 'बंसीधर' नामक एक पण्डित था। दयानन्द के उपदेश से वह पाषाण पूजा छोड़कर सन्ध्या करने लगा और आनन्द मुनि के संस्कृत भाषण का भाव लोगों को समझाया करता था। 'मुर्शिदाबाद परगना कम्पिल' से १०-१५, मुसलमान आये और उन्होंने अपने धर्म और पैगम्बर के महत्त्व पर बातचीत की परन्तु स्वामी ने युक्ति-युक्त उत्तर देकर उन्हें निरुत्तर

---

१. द०दि० १६.२२-२४.

२. द०दि० १६,२९-३३,

३. द०दि० १६,३७-४१.

कर दिया। मौलवी 'अहमद अली' टूबान से ऋषि की मनुष्योत्पत्ति विषय पर बातचीत हुई। स्वामीजी ने पूछा कि—आदम हव्वा का वियोग क्यों हुआ? खुदा ने उनके मन में प्रेम क्यों न उत्पन्न कर दिया। यदि प्रभु ने उनके हृदय में प्रेम रक्खा होता तो वे दोनों वियोग का दु:ख न सहते। इसका मौलवी कोई उत्तर नहीं दे सका। वह स्वामी जी की बात से प्रसन्न हुआ और उनके कथन की पुष्टि करता रहा उसने महाराज की बहुत प्रशंसा की और लोगों से कहा कि यह फकीर बहुत बड़ा आलिम (विद्वान्) है और बुतपरस्त (मूर्तिपूजक) नहीं है। एक क्षत्रिय ने पूछा—आप शिवलिंग पूजन का क्यों निषेध करते हैं? इसकी तो शास्त्रों में आज्ञा है। स्वामी जी ने कहा— जब शिवलिंग अलग होकर तेरे पास आ गया तो तेरा शिव हिजड़ा रह गया। यह तो सचमुच लज्जा की बात है, कि मदान्ध मूढ़ जनों ने मति मन्दता के कारण लिंगरहित सर्वव्यापक, अजन्मा प्रभु का लिङ्गार्चन कल्पित किया।[१] इस प्रकार 'लोकानन्ददायी दयानन्द' लोगों को सत्य का उपदेश देकर संवत् १९२५ के पौस मास में 'कायमगंज' से 'फर्रुखाबाद' पहुँचे और 'लाला जगन्नाथ' के विश्रान्त घाट पर ठहरे। 'जगन्नाथ' उनके श्रद्धालु भक्त बन गये। स्वामी जी के उपदेशानुसार सब गृह्य संस्कार करने लगे। उन्होंने विधिवत् पुत्र का नामकरण किया और अपनी माता का अन्त्येष्टि संस्कार भी विधिवत् ही कराया था। एकान्त गुप्त स्थानवासी, महाकीर्तिशाली महर्षि के चरित्र की सुगन्ध कस्तूरिका के समान वायुवेग से चारों ओर फैल गयी और अपने निवास पर्वत से आश्चर्य जल भरी जनता रूपी नदियाँ वेग से बहती हुई गुणरत्नों के रमणीय 'दयानन्द विद्यासागर' से मिलने आयी। प्रत्येक श्रेणी के सहस्रों नागर नित्य मंगलकारी धर्मोमृत पीते, प्रश्न पूछते, भ्रम मिटाते और स्वामी जी से सन्ध्या हवन सीखते थे। 'लाला द्वारकाप्रसाद', 'गिरधारीलाल,' 'जगन्नाथ' और 'बाबू दुर्गाप्रसाद' आदि धनाढ्य सज्जनों ने विश्रान्त घाट पर वेदी बनाकर अग्नि में खूब हव्य द्रव्य डालकर विधिपूर्वक गुरुवर दयानन्द से मंत्र सहित यज्ञोपवीत ग्रहण किया। 'पण्डित पीताम्बर दास' आदि विप्रों ने उस घाट पर ११ दिन तक गायत्री जप और हवन किया, सब कार्य वेदोक्त रीति से उन याज्ञिकों ने किया था, अत: उनकी विपुल ख्याति हुई। 'लाला जगन्नाथ' के यज्ञोपवीत पर पौराणिक पण्डितों ने यजमान से कहा कि— यह यज्ञोपवीत अमंगलकारी होगा क्योंकि प्रथम गणेशादि का पूजन नहीं हुआ, दूसरे शुक्रास्त के समय हुआ। इसका उत्तर स्वामी जी ने यह दिया कि—गणेशादि की पूजा वेद विरुद्ध है, इसका न होना कभी अनिष्टकारी

---

१. द०दि० १६.४२-४८.

नहीं हो सकता और हमारा शुक्र तो सुखकारी ब्रह्म है (तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म)। वह कभी अस्त नहीं होता।[१]

इसी प्रकार 'मेरठ' के 'पं० गोपालशास्त्री' से भी मूर्तिपूजा पर उनका शास्त्रार्थ हुआ. जब मूर्तिपूजक लोग पण्डितों की ओर से निराश हो गये तब वे मूर्तिपूजारूप नये दुर्ग की रक्षा के लिए व्याकुल हो गये। इसलिए वे 'मेरठ' नगर में 'पं० श्री गोपाल शास्त्री' को बुलाकर ले आये और वे दूसरे दिन उनका स्वामी जी से उन्होंने शास्त्रार्थ शुरू करा दिया। उस सभा में 'पण्डित पीताम्बरदास' सभापति हुए। श्री 'गोपालशास्त्री' व्याख्याता थे। मुख्य विषय 'मूर्तिपूजा' था। और खण्डन करने वाले प्रतिवादी महर्षि थे। पूर्वपक्ष स्थापन करते हुए 'गोपालशास्त्री' ने कहा कि— मूर्तिपूजा तो सब ग्रन्थों में मिलती है, तो फिर हे मुण्डीश्वर! आप उसका क्यों व्यर्थ खण्डन करते हैं? स्वामी ने उनसे पूछा—आर्य शास्त्रों में कहाँ ईश्वर की मूर्ति के पूजन का विधान है? हे शास्त्रिवर्य! बताइये कि वेदानुकूल स्मृतियों में भी कहाँ विधान लिखा है? इस पर शास्त्री जीने यह मनुवाक्य कहा—"देवताभ्यर्चनं चैव समिधादानमेव च।" इसमें देवताओं की पूजा करनी चाहिये, ऐसा स्पष्ट लिखा है और यह मनु का वाक्य प्रमाण भूत है, अतः मूर्तिपूजा सिद्ध है। स्वामी ने इसका निम्नलिखित अर्थ किया—विद्वानों की देव संज्ञा है। अग्निहोत्र के समय उनका सत्कार एवं पूजन करना ही चाहिये। इसके पश्चात् अग्नि में समिधा डालनी ही चाहिये यज्ञ विद्वज्जनों से ही कराया जाता है। उस समय उनकी पूजा करना योग्य ही है। इन विद्वानों में ही देवगण विद्यमान है। पत्थरों की मूर्तियों में देवत्व मानना योग्य नहीं क्योंकि माता, पिता, गुरु, अतिथि आदि को 'देव' कहा गया है। यज्ञों में इनका पूजन करना मंगलकारी है। व्युत्पत्तियों से युक्तियों से तथा आर्षवचनों से कुशल महर्षि ने पाषाण पूजा का खण्डन करके उस 'गोपालशास्त्री' को चुप कर दिया और भक्त लोगों को आनन्द समुद्र में मग्न कर दिया। वह शास्त्री लज्जित हुआ और उसका मुख उतर गया। इसलिए वह काशी जाकर मूर्तिपूजा की पुष्टि में वहाँ के पण्डितों के हस्ताक्षरों से अंकित व्यवस्था लिखवा कर ले आया। 'गोपाल शास्त्री' का सहायक एक वणिक् 'कृष्णलाल' था। उसने काशिस्थ विद्वद्वरों की लिखी हुई व्यवस्था स्वामी जी को दिखलायी। ऋषि ने उस व्यवस्था पत्र को लेकर मन्दस्मित किया, फिर उसका ऐसा खण्डन किया कि 'लाला कृष्णलाल' चकित हो गया। गोपालशास्त्री ने मूर्तिपूजा के पक्ष में पुनः प्रयास किया।

१. द०दि० १६.४९-५७

ता० २२ मई सन् १८६८ वैशाख शुक्ला १४ संवत् १९२५ को गोपालशास्त्री बहुत बड़ी भीड़ लेकर घाट पर पहुँचा। स्वामी जी के आसन के पास की रेत में एक झंडा गाड़कर उस पर लिखा "धर्मध्वजोऽयम्" और उस दम्भी ने वह व्यवस्था पत्र सुनाया। उसने वहाँ कोलाहल मचाकर नीचे रेती में शास्त्रार्थ के लिए मुनीन्द्र को बुलाया। वहीं एक बाँस गाड़कर उसने मूर्खों से उस पर गंगाजल चढ़वाया। बुलाने के लिए अपने पास आये हुए तत्पक्षीय लोगों से योगीश्वर ने कहा कि— यदि गोपाल शास्त्री वास्तव में शास्त्रार्थ करना चाहता है तो यहाँ ऊपर सुन्दर व्यवस्थित प्रशान्त स्थान में आकर वह सभ्यतापूर्वक शास्त्रार्थ करें। इतना कहकर शान्त मन से उनकी निन्दनीय लीला देखते रहे। जब लोगों ने उनको स्वामी जी का सन्देश सुनाया, तब उसने उनसे कहा कि—स्वामी जी ने विश्रान्त स्थान पर मन्त्रोंसे कील दिया है। वहाँ तो मैं निश्चय से हार ही जाऊँगा; इसलिए मैं वहाँ नहीं जाता हूँ।[१] समझदार लोगों ने समझ लिया कि इसमें शास्त्रार्थ करने की योग्यता ही नहीं है इसलिए यह धूर्त वेदवेत्ता, प्रख्यात, वागीन्द्र दयानन्द, दिग्गज के साथ छल कर रहा है। इस झगड़ालू शास्त्री का उत्पात सुनकर कलेक्टर ने कोतवाल को शीघ्र ही वहाँ प्रबन्ध करने के लिए भेजा। यह कोतवाल स्वामी जी के स्थान पर गया। पास जाकर उस कोतवाल ने स्वामी जी से पूछा कि— बाबाजी! यह क्या गड़बड़ है?" स्वामी जी ने कहा— अपने स्थान पर हम बैठे हुये हैं; किसी के साथ झगड़ा नहीं करते हैं। कोई गाली दे तो भी हम उसको निन्दा वचन नहीं कहते और चुप रहते हैं तथा शान्ति धारण करते हैं। श्रीमान् जी ! यह तो आपको जानना चाहिये कि आपके राज्य में कौन व्यर्थ झगड़ा करते हैं। राज्य शासकों का यह तो कर्त्तव्य ही है, कि वे झगड़ालू मनुष्यों को खोज निकालें। इस प्रकार की वाणी सुनकर वह कोतवाल वहाँ से चला गया। कोतवाल ने वास्तविक वार्ता को समझकर स्वामी के स्थान पर दो सिपाहियों का पहरा नियत कर दिया कि वे किसी क्षुद्राशय उपद्रवी मनुष्य को विश्राम गृह के अन्दर न जाने दे। तदन्तर कोतवाल महाशय ने 'गोपालशास्त्री' को बुलाकर क्रोध से ऐसा डाँटा कि वह मारे डर के नगर ही छोड़ कर चला गया। सत्यमार्ग से च्युत होने वाले दुर्जनों में धैर्य ही कहाँ से हो? ज्वाला प्रसाद नामक एक पोस्ट मास्टर उसका साथी था, वह ब्राह्मण था। किन्तु मद्यप और मांसाहारी था। वह मदिरा में चूर होकर स्वामी जी के स्थान पर आया। वहाँ कुर्सी रखकर उस पर बैठ गया और उन पर दुर्वचन रूपी तीक्ष्ण बाण छोड़ने लगा। जितेन्द्रिय

---

१. द०दि० १६,६१-७५.

संयमीश्वर ने उससे कुछ न कहा और वे दूसरे स्थान पर चले गये। महाराज के भक्त, सत्यनामी साधु लोगों को उस उन्मत्त पर ऐसा क्रोध आया कि उन्होंने उसे खूब पीटा जिससे कि उसका सारा नशा झड़ गया और वह फिर घर भाग गया। 'ज्वाला प्रसाद' का समधी (सम्बन्धी) 'पाण्डे ठाकुर दास' यह वृत्त सुनकर क्रोध से बीच पच्चीस लठ्ठबन्ध लोगों को लेकर मुनीन्द्र को मारने आया। परन्तु उनका कुछ करने का साहस न हुआ, अत: जैसा आया था वैसा ही लौट गया।[१] इस प्रकार स्वामी जी निडर भाव से वेदों के प्रचार-प्रसार और समाज सुधार में लगे रहे। 'वेश्यावृत्ति' को भी रोकने का उन्होंने प्रयास किया।

वेश्यावृत्ति विरोध-वैसे तो सारे दुर्व्यसन सुख के नाश करने वाले होते हैं किन्तु नरदेहधारी के लिए यह वेश्यागमन का व्यसन-सर्व आपत्तियों का मूल अनिष्ट का कारण, सर्वसम्पत्तियों का विनाशक तथा सम्पूर्ण पुण्यकर्मों का घातक होता है। वह मनुष्य वारांगनाओं के संग से मदिरा का व्यसनी बन जाता है; अत: उसकी कीर्ति के साथ सारे धार्मिक कार्य और सद्गुण नितान्त नष्ट हो जाते हैं।''[२] इस उपदेश से तीन युवकों को स्वामी जी ने इस कुकृत्य से विमुख कर दिया। एक बार फर्रुखाबाद का एक गुण्डा मूर्तिपूजकों से पैसे ऐंठकर स्वामी जी की पिटाई करने के उद्देश्य से आकर स्वामी से बोला—

'क्या मैं सच्चिदानन्द, सर्वशक्तिमान्, भक्तवत्सल, दयासागर व्यापक ईश्वर को नहीं जानता? वह तो भक्तों के कारण जन्म लेता है। ऋषि बोले—भद्र! तेरा कथन सत्य है, किन्तु यह अमर ईश्वर जन्म नहीं धारण करता क्योंकि अज और सर्वव्यापक होने से वह शंकर भगवान् सब जगह रहकर भक्तों का कल्याण किया करता है। आपने जो ईश्वर का स्वरूप वर्णन किया है; उसी को आप शिला निर्मित अपनी मूर्ति में घटाओ तो सही? सौम्य! यदि ईश्वरीय गुण मूर्ति में घट जाय? तो मैं आपके मत का हो जाऊँगा। नहीं तो आप मेरे मत के हो जाइये। हे द्विजन्मन्! विमल हृदय से आप विचार करो, आपका आत्मा ही साक्षी देगा। इस प्रकार दयानन्द की समझाने की शैली से वह दुर्जन द्रवित हो गया और उनका भक्त बनकर सदाचरण करने लगा।'[३]

---

१. द०दि० १६.७५-८५.

२. द०दि० १६.९६-९७

३. द०दि० १६.१०६-१०८

'गोपालशास्त्री' की पराजय से सनातनी जनता बड़ी व्याकुल एवं खिन्न हो गयी थी। उसी ने 'लाला प्रेमदास' तथा 'लाला देवीसाद रईस' को 'पं० हलधर' को लाने के लिए निवेदन किया था। ज्येष्ठ शु० १० सं० १९२६ ता० १९ जून सन् १८६९ को रात के ९ बजे 'लाला देवी दास' आदि सज्जन अन्य शास्त्रियों सहित पं० हलधर ओझा को लेकर स्वामी जी के स्थान पर शास्त्रार्थ के लिये आये। लाला जगन्नाथ जी ने आदरपूर्वक प्रतिष्ठित जनों को यथा योग्य आसनों पर बैठाया और इस आर्य सद्गृहस्थ ने मुनीन्द्र दयानन्द को उन सभागत सब विद्वानों का परिचय कराया। 'पं० हलधर' ने महर्षि को प्रणाम करके उनके साथ प्रथम प्रतिमा पूजा पर चर्चा की; पश्चात् छल से उनसे मदिरापान का विषय छेड़ा। महर्षि ने कहा– 'शास्त्री जी! प्रकृत विषय को छोड़कर अन्य विषय की चर्चा न कीजिये। मदिरापान तो वेद विरुद्ध है, पण्डित जी बोले– ''सोत्रामण्यां सुरां पिबेत्।'' इस वचन से सौत्रामणि याग में मद्य पीने की आज्ञा है, तो आप उसे कैसे वेद विरुद्ध कहते हैं। ऋषि बोले–'यहाँ सोमवल्ली के रसानुपान में उस वचन का तात्पर्य है, न कि मद्यपान में', मदिरापान तो सर्वशास्त्रों में निषिद्ध ही है। जो द्रव्य बुद्धि का नाश करता है वह तो वर्जनीय ही है। इसमें यह प्रमाण है– ''बद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते'' 'पं० हलधर' मौन हो गया। फिर उसने पूछा – संन्यासी का लक्षण क्या है? स्वामी जी ने कहा– 'क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयत्।'

(मनु०) 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद् वनाद्वा गृहाद्वा। ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्।'

(ब्राह्मणवचन)।। संन्यासी केश, मूँछ, दाढ़ी, नख दूर करके, पात्र, दण्ड और कुसुम रंग के वस्त्र धारण करे तथा किसी प्राणी को पीड़ा न देता हुआ सदा नियम में रहकर विचरण करे। जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन संन्यास ले लेवे, वानप्रस्थ आश्रम से, वा गृहस्थाश्रम से, वा ब्रह्मचर्याश्रम से।"[१]

कानपुर में भी स्वामी ने वेद प्रचार का कार्य किया और मूर्तिपूजा का प्रबलता से खण्डन किया। हितैषी ऋषि ने मनुष्यों के हृदयाकाश को सत्य प्रकाश से उज्ज्वल बनाने के लिए कानपुर में आठ गप्प–(१) सब मनुष्य कृत ग्रन्थ ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण। (२) देवता बुद्धि से पाषाणादि पूजा। (३) शैव, शाक्त्य, वैष्णव, गाणपत्य आदि संप्रदाय। (४) तन्त्रग्रन्थोक्त वाममार्ग। (५) भांग आदि मादकद्रव्यों का सेवन। (६) परस्त्रीगमन। (७) चोर। (८) छल, कपट, अभिमान, मिथ्याभाषण त्याज्य है और

---

१. द०दि० १७.१४-१९.

आठ सत्य (१) ऋग्वेदादि ईश्वरकृत चार वेद और ऋषिकृत अन्य १७ ग्रन्थ (२) ब्रह्मचर्याश्रम में रह कर गुरु की सेवा और सर्वधर्मानुष्ठान पूर्वक वेदों का अध्ययन (३) वेदोक्त वर्णाश्रम में स्वधर्म अनुकूल सन्ध्या वन्दनादि, अग्निहोत्रादि करना (४) पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान, ऋतुकाल में अपनी स्त्री से सहवास, श्रुति, स्मृति, सदाचार के अनुकूल आचरण। (५) शम, दम, तपश्चरण यमादि से लेकर समाधि तक उपासना, सत्संग पूर्वक वानप्रस्थाश्रम का अनुष्ठान (६) विचार, विवेक, वैराग्य और पराविद्या का अभ्यास व संन्यासग्रहण करके सब कर्मों के फल की इच्छा त्याग (७) ज्ञान विज्ञान से सब प्रकार के अनर्थ, मरण, जन्म, हर्ष, शोक, काम, क्रोध, लोभ, मोह, संगदोष के त्यागने का अनुष्ठान। (८) अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, तमस्, रजस्, सत्त्व सब क्लेशों की निवृत्ति, पञ्च महाभूतों से अतीत होकर मोक्ष के स्वरूप और स्वराज्य की प्राप्ति ग्राह्य हैं; इस विषय पर विज्ञापन संस्कृत में छपवाकर बँटवाये। आठ गप्पों के खण्डनरूप आन्धी से पौराणिक दल सागर क्षुब्ध हो गया। अत: उसने मिथ्या अपवादरूपी लहरों से मुनीन्द्ररूपी पर्वत को आप्लावित करने का वृथा ही प्रयत्न किया।''[१] वहाँ 'हलधर ओझा' से उनका इस प्रकार शास्त्रार्थ हुआ। हलधर ने पूछा— आप महाभारत मानते हैं? स्वा०—हाँ मैं मानता हूँ। हल०—एकलव्य भील ने द्रोणाचार्य की मूर्तिपूजा कर धनुर्विद्या का अभ्यास किया; उसे यह फल मिला कि वह शास्त्रविद्या में निपुण हो गया। अत: मूर्तिपूजा विहित सिद्ध होती है। स्वा०— शस्त्र प्रयोग में जो निपुणता हुई वह मूर्तिपूजा का नहीं किन्तु उसके निरन्तर अभ्यास का फल था, इससे मूर्तिपूजा सिद्ध नहीं होती है। स्वा०-अज्ञानी भील का प्रतिमा पूजन विद्वानों के प्रमाण योग्य नहीं माना जाता। देवमूर्ति के पूजा विधान का कोई वेदमन्त्र दिखलाओं; कुछ देर चुप रहने के बाद हलधर ने पूछा वेद में प्रतिमा पूजन की यदि आज्ञा नहीं है तो निषेध भी कहाँ है? स्वा०- यदि विधि नहीं है तो निषेध ही समझना चाहिये। यदि कोई मनुष्य अपने मृत्यु से पूर्व की ओर जाने को कहे तो वह समझ ही लेगा कि वह पश्चिमादि दिशा में जाने का निषेध करता है। स्वा०- अनेक मन्त्रों ने निराकार, सर्वव्यापक ईश्वर की अमूर्तता का वर्णन स्पष्ट रीति के किया है; कहीं भी उसके मूर्तरूप का वर्णन नहीं है। फिर उसके शरीर की पूजा तो दूर रही। इस पर हलधर पण्डित ने मौन धारण कर लिया। तदनन्तर लक्ष्मण शास्त्री ने यतीश्वर से पूछा—'ईश्वर सर्वव्यापक है तो पत्थर में भी हैं फिर मूर्तिपूजन में क्या दोष है?'

---

१. द०दि० १७.५८-५९

स्वा०— जब वह चेतन में भी है तो जड़ में विशेषता क्या है ?चेतन को छोड़कर जड़ की पूजा में क्या भलाई है? इसे सुनकर लक्ष्मण शास्त्री ने मौन धारण कर लिया। स्वा०— आत्मवेत्ता लोग हृदय में ही उस ईश्वर का दर्शन करते हैं। जब वह अपने पास है तब उसके दर्शन के लिए अन्यत्र भटकने की क्या आवश्यकता है? इत्यादि प्रमाण और युक्तियों से वेदवेत्ता मुनि ने शास्त्रार्थ में दोनों पण्डित प्रवरों को चुप कर दिया। सारी सभा चित्रवत् स्तब्ध हो गयी। तत्पश्चात् अध्यक्ष थेन साहेब ने स्वामी जी से पूछा- आप अग्नि में होम करके उसकी पूजा क्यों करते हैं? स्वा०- हम अग्नि की पूजा नहीं करते। हम अग्नि में घृत आदि द्रव्य वैज्ञानिक दृष्टि से डालते हैं; इसमें डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होकर सर्वत्र आकाश में फैल जाता है। जिससे वायु जल आदि तत्त्व शुद्ध हो जाते हैं। इनकी शुद्धि से अनेक रोग दूर हो जाते हैं, अन्न, जल आदि नीरोग और शुद्ध हो जाने पर मनुष्यों का आरोग्य बढ़ता है तथा मन भी शुद्ध हो जाता है; अतः हम हवन करते हैं। लोकोत्तर महापुरुष का योग्य उत्तर सुनकर सभापति महोदय ने प्रसन्न होकर सभा में कहा— हे सज्जनों! ऋषि दयानन्द का पक्ष वेदों के अनुकूल, सुतर्कों से युक्त, मानव-मंगल कारक, संसार-सागर-तारक, और श्रेष्ठ धर्म का सूचक मुझे तो प्रतीत होता है। सचमुच! विजय लक्ष्मी ने यतीन्द्र दयानन्द को वरा है। इस प्रकार निवेदन करके 'थेन साहब' अपने घर चले गये। नगरवासी जन शास्त्रार्थ का सार सुनकर और सत्य ईश्वर का स्वरूप जानकर, पापों की माला की तरह मूर्तियों को गंगा में बहाने लगे।''[१]

काशी में भी मूर्तिपूजा के खण्डन पर उनका जमकर शास्त्रार्थ हुआ। वेदों के प्रचार में वे वहाँ भी लगे रहे। गुरुजन से प्रेरित विद्यार्थी वर्ग स्वामी जी से आकर पूछते कि आप कितने ग्रन्थ प्रामाणिक मानते हैं? यतिराज उत्तर देते कि हम चार वेद, चार उपवेद, छः वेदांग, छः उपाङ्ग और प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़कर 'मनुस्मृति' का प्रमाण स्वीकार करते हैं। शास्त्रार्थ का विज्ञापन बाँटा गया और राजा ने का०शु० १२ संवत् १९२६ ता० १६-११-१८६९ मंगलवार का दिन शास्त्रार्थ के लिए निश्चित किया। जैसे-जैसे तिथि पास आती जाती है; वैसे वैसे पण्डित व्याकुल होते जाते हैं। स्वामी जी के निवास बाग को ही, स्वामी जी की आज्ञा से काशी नरेश ने सभास्थान निश्चित किया। 'पं० रघुनाथ प्रसाद थानेदार' शान्तिरक्षा के लिए अपनी पुलिस के साथ वहाँ उपस्थित हुए। आज मंगलवार का दिन है। सारी काशी नगरी सरोवर की तरह जन

१. द०दि०, १७.६५-७७

तरंगों से आन्दोलित हो रही है। पुजारियों ने उष:काल में अपने राज पण्डितों की विजय के लिए मन्दिरों में प्रार्थना की। दयानन्द के विपक्षी अनेक थे, उनके साथ राजबल था, धनबल था और अतुल जन बल था, परन्तु फिर भी वे चिन्ता और आशंका से कम्पित थे, उनके चेहरे उदास थे। दयानन्द अकेला था, उसकी पीठ पर न कोई राजा था, न कोई धनाढ्य पुरुष था। किन्तु इसके हृदय सागर में छोटी भी क्षोभ की लहर भी न उठी और इसके मुखचन्द्र मण्डल पर जरा सी चिन्ता रेखा तक न थी। आदित्य ब्रह्मचारी के पास जो एक वस्तु थी; वह उसके विपक्षियों के पास न थी। वह था ईश्वर पर विश्वास, सत्य पर श्रद्धा, जिसके होते हुये नि:सहाय होता हुआ भी वह साहस और धैर्य युक्त था। भय उसके पास नहीं फटक सकता था।''[१]

एक ओर शास्त्रार्थगगन में २७ नक्षत्र की तरह २७ पण्डित थे और दूसरी ओर मनोहर वाणीरूपी सुधा को बरसाते हुए शुभङ्कर, द्विजराज दयानन्द कलाधर चमक रहे थे। यति दयानन्द ने नरेश से पूछा कि क्या वेदों की पुस्तके लाये हैं? नरे० वेदों की पुस्तकों की आवश्यकता नहीं; हमारे पण्डितों को वेद कण्ठस्थ हैं। कोतवाल पं० रघुनाथ ने तदनन्तर उच्च स्वर से सब को सुनाया कि—शास्त्रार्थ में यह नियम निश्चित हुआ है, कि एक समय में एक ही जन बोले। फिर महाराजा के संकेत से पं० ताराचरण तर्करत्न यतीश्वर के सामने आया। स्वा०-आप वेदों को प्रमाण मानते हैं न? तारा०— हाँ, उनको तो सारे वर्ग और आश्रमधारी प्रमाण मानते हैं। स्वा०- तब हे तर्करत्न जी! शिला, सुवर्ण आदि की मूर्ति पूजा का विधान वेद के प्रमाण से बतलाईये? नहीं तो उसको अप्रमाण मानिये। तारा०— वेद में यह प्रमाण है वा नहीं? यह उससे ही पूछा जाये जो वेदों को ही प्रमाण मानता हो; इतर को नहीं। स्वा०-उससे भिन्न ग्रन्थ के प्रामाण्य की विचारणा फिर होगी, इस समय तो वेद की मुख्य प्रमाणता है।

वेदोक्त कर्म की प्रधानता होती है और इतर शास्त्रोक्त विधान की अप्रधानता होती है; क्योंकि अन्य शास्त्र वेदानुकूल होने से ही प्रमाण पद पाते हैं अत: वेद सूर्य समान है। यदि वेदों में मूर्तिपूजा का विधान न हो तब तो पाषाणकृति को नहीं पूजना चाहिये। तारा०-यतिवर्य आप मनुस्मृति को वेद वचनानुगामिनी कैसे मानते हैं? स्वा०- ''यत्किंच मनुरवदत् तद्भेषजं हि भेषजतायाः।''[२]—'मनु जी' ने जो कुछ कहा है वह

---

१. द०दि० १८.३५-४१

२. द०दि० १८,६०-६८

औषधियों का भी औषध है; ऐसा 'सामवेद' के ब्राह्मण ने कहा है। अतः मनुस्मृति वेदानुकूल है। 'ताराचरण' चुप हो गये। तब 'स्वामी विशुद्धानन्द जी' आगे बढ़े और शारीरिक सूत्रों में से यह सूत्र पढ़कर 'रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्।'[१] रचना की अनुपपत्ति = असिद्धि होने से अनुमान द्वारा वर्णित प्रधान जगत् का कारण नहीं है। क्योंकि जड़ प्रकृति में स्वतन्त्र रचना सिद्ध नहीं होती, इस सूत्र को वेदमूलक सिद्ध कीजिये। स्वा०—आपका यह प्रश्न उपनिषद् वाद के भीतर नहीं आता है, अतः विचारणीय नहीं है। विशु०-प्रकरण से बाहर है तो क्या हुआ? यदि तुम्हें इसका समाधान आता है तो कह दो। स्वा०— इसका पूर्वापर पाठ देखकर समाधान किया जा सकता है। विशु०—यदि सब कुछ स्मरण नहीं था तो काशी में शास्त्रार्थ करने आये ही क्यों थे? स्वा०— क्या आपको सब कुछ कण्ठाग्र है? विशु०-हाँ, हमें सब कुछ स्मरण है। स्वा०-तब बताइये कि धर्म के कितने लक्षण हैं। विशु०- जो वेदों में कहे फल सहित कर्म हैं, वे ही धर्म हैं।[२]

स्वा०—यह तो आपका वाक्य है। कोई शास्त्रीय प्रमाण दीजिये। विशु०- 'प्रचोदनोलक्षणो धर्मः'[३] धर्म का लक्षण प्रेरणा कहा गया है। स्वा०-यह तो ठीक है, कि प्रेरणा धर्म का लक्षण है परन्तु प्रेरणा कहते हैं श्रुति, स्मृति की आज्ञा को; सो श्रुति स्मृति की प्रेरणा में धर्म के लक्षण कितने हैं यह बताइये? विशु०-धर्म का एक ही लक्षण है। स्वा०- नहीं, धर्म के तो दस लक्षण कहे हैं। विशु०- किस ग्रन्थ में हैं। स्वा०— मनुस्मति में ''धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।''[४] इस पर 'विशुद्धानन्द' जी तो अवाक् हो गये। तब 'बालशास्त्री' आगे बढ़कर कहने लगे कि हमने सम्पूर्ण धर्मशास्त्र का अध्ययन किया है। इस विषय में कुछ पूछना हो तो हमसे पूछिये। स्वा०-बहुत अच्छा; तब हे विद्वद्रत्न! आप अधर्म के लक्षण बताइये? 'बालशास्त्री' को इसका उत्तर कुछ भी न सूझा; इसलिए उन्होंने मौन धारण कर लिया।

अपने मुखिया तीन सेनापतियों के पाँव उखड़ते देख सारे पण्डित एक बार ही चिल्लाकर पूछने लगे 'बताओ वेद में प्रतिमा शब्द है या नहीं?' स्वा०— मन्त्र में तो वह

---

१. द०दि० १८.६९.
२. द०दि० १८.७०-७२
३. द०दि० १८-७३-७५
४. द०दि० १८.७३-७४

प्रतिमा पद तो है। पं० गण०-यदि वेद में प्रतिमा शब्द है तो किस प्रकरण में? और आप इसका खण्डन क्यों करते हैं? स्वा०— (यजुर्वेद अ० ३२ मं० ३) में "न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यश:। यह मन्त्र आया है, इसका अर्थ यह है, कि जिस प्रभु का इतना महान् यश और नाम है; उसकी कोई प्रतिमा अर्थात् परिणाम या उपमा नहीं है। इससे तो पाषाण की प्रतिमा पूजा का निषेध ही किया गया है; अत: कहीं भी वेद में प्रतिमा का विधान नहीं है। इस पर उच्छृंखल पण्डितगण अत्यन्त क्षुभित होकर कुण्ठित हो गये।"

फिर 'विशुद्धानन्द यति' ने विशुद्ध चित्तवाले ऋषि से पूछा कि— वेद किससे उत्पन्न हुए? स्वा०— ये वेद ईश्वर से प्रकाशित हुये। विशु०-किस ईश्वर से वेदों का प्रकाश हुआ है? न्याय वर्णित ईश्वर से वा योग कथित ईश्वर से अथवा वेदान्तप्रतिपादित ईश्वर से? स्वा०— क्या आपके मत में अनेक ईश्वर हैं? विशु०-ईश्वर तो एक ही है, परन्तु वेदों के प्रकाशक ईश्वर का क्या लक्षण है यह बताइये? स्वा०— विश्वकर्ता, सच्चिदानन्द, निरजंन, निराकार प्रभु से वेद प्रकट हुये हैं। विशु०-ईश्वर और वेद में क्या सम्बन्ध है? यह बताइये। स्वा०-वेद और ईश्वर में कार्य कारण भाव संबंध है; यह आप जानिये। विशु०-जैसे मन में सूर्य, आदि में ब्रह्म बुद्धि करके 'प्रतीक' उपासना करना कही है; वैसे ही शालिग्राम आदि में ईश्वर भावना करके क्यों पूजन किया जाय। स्वा०— जैसे उपनिषदों में 'मनोब्रह्मेत्युपासीत' का विधान है; वैसे उनमें 'शिला ब्रह्मेत्युपासीत' ऐसा कहाँ लिखा है? और मनो ब्रह्म० इत्यादि में मन आदि को ईश्वर नहीं बतलाया है। किन्तु महान् तत्त्व बतलाकर ब्रह्म प्राप्ति का महान् साधन उसे माना गया है। हाँ मन आदि में ब्रह्मोपासना करने का तो विधान है, किन्तु पाषाणादि में ब्रह्मोपासना का कहीं भी विधान नहीं है। यह उत्तर सुनकर 'विशुद्धान्द' जी को तो अपनी वाणी को विराम देना पड़ा। पश्चात् 'माधवाचार्य' ने पूछा कि— हे वाग्मीश्वर? 'ओ३मुद्ध्यस्वाग्ने०' इस मन्त्र में जो 'पूर्त' शब्द पड़ा है उसका प्रतिमा अर्थ क्यों न लिया जाय? अग्निहोत्र में मूर्तिपूजन का प्रतिपादन है। स्वा०-इस मंत्र में 'पूर्त' शब्द में तड़ाग वापी, कुआँ और उद्यान आदि लोकहितकर कार्यों का ग्रहण किया जाता है। 'पूर्त' शब्द पूर्ति का वाचक है; इससे मूर्तिपूजा का ग्रहण कदापि नहीं हो सकता। विशेष जानना चाहते हो तो इस मंत्र का निरुक्त और ब्राह्मण देख लीजिये। माध०—'पुराण' शब्द वेदों में आया है, कि नहीं? स्वा०— 'पुराण' शब्द तो वेद में अनेक स्थल पर पाया जाता है, किन्तु वह है पुरातन काल का वाची, सनातन अर्थ का बोधक और वह विशेष वस्तु का विशेषण है। उसमें 'ब्रह्मवैवर्त्त' और 'भागवतादि'

नूतन ग्रन्थों का ग्रहण नहीं हो सकता। माधवाचार्य चुप हो गये फिर 'विशुद्धानन्द' ने यतिहंस से कहा कि—

'बृहदारण्यक' उपनिषद्, में आया हुआ 'पुराण' शब्द आप प्रमाण भूत मानते हैं या नहीं? स्वा०-बृहदारण्यक का 'पुराण' शब्द मैं क्यों न मानूँगा? किन्तु वह किसका विशेषण है? यह पुस्तक दिखाने पर बता दूँगा। माघ०—वह किसका विशेषण है यह मैं आपको दिखाता हूँ। 'ब्राह्मणानीतिहास: पुराणानीति' पढ़कर सुनाया। स्वा०-यहाँ 'पुराण' शब्द 'ब्राह्मण' शब्द का विशेषण है। इसका तात्पर्य यह है, कि ब्राह्मण पुरातन अर्थात् सनातन है। बाल—क्या कोई ब्राह्मण नूतन भी है? स्वा०— ब्राह्मण नवीन तो नहीं है, परन्तु किसी को सन्देह करने का अवकाश ही न मिले इसलिए यह विशेषण रखा गया है। विशु०—इस पाठ से 'ब्राह्मण' और 'पुराण' इन दो शब्दों के बीच 'इतिहास' शब्द व्यवधानरूप पड़ा है; तो क्या व्यवधान होने पर विशेषण होगा? स्वा०— क्या सन्निधान में ही होता है? व्यवधान में नहीं? व्याकरण शास्त्र में यह कोई भी नियम नहीं है, कि व्यवधान होने पर विशेषण न हो सके; देखिये— "अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।" इस गीता के श्लोक में विशेषण कितना दूर पड़ा है। विशु०—'इतिहास: पुराणानि' इस पाठ में यदि 'इतिहास' शब्द का 'पुराण' शब्द विशेषण नहीं है तो क्या इसमें यहाँ नवीन इतिहास ग्रहण करोगे? स्वा०- 'इतिहास पुराण: पंचमो वेदनां वेद:' (छान्दोग्य०) के इस पाठ में 'पुराण' शब्द 'इतिहास' शब्द का विशेषण है। इस पर वामनाचार्य आदि धूर्त पण्डित कहने लगे कि यह पाठ उपनिषद् का नहीं है। स्वा०-यदि यह पाठ उपनिषद् में न हो तो मेरी पराजय और यदि निकल आये तो आपकी हार समझी जाय। यह प्रतिज्ञा सभा में सत्यता पूर्वक उभय पक्षवाले लिख दें। इस प्रकार बलपूर्वक योगिराज ने कहा तब सब पण्डितों के मुख बन्द हो गये।"[१] इस प्रकार स्वामी जी ने काशी का शास्त्रार्थ जीत लिया। वे निरन्तर वेद-प्रचार और समाज सुधार के कार्यों में लगे रहते थे।

'यतीन्द्र' एक दिन तट पर बैठे हुये निसर्ग सौन्दर्य निहार रहे थे। उस समय उनके सामने एक स्त्री मरा हुआ बच्चा हाथों पर उठाये गंगा में प्रविष्ट हुई। उसने बच्चे के शरीर पर लपेटा हुआ कपड़ा उतार लिया और बालक के निर्जीव कलेवर को 'हाय-हाय' के आर्तनाद के साथ गंगा में बहा दिया और वह माता उसका कपड़ा धोकर ले गई। यह करुण दृश्य देखकर दयामय दयानन्द अपने हृदय को थाम न सके। वे दु:ख

१. द०दि० १८.७४-९५.

सागर में मग्न होकर भारत की दरिद्रताकुल दशा पर सोचने लगे। अरे! माता अपने कलेजे के टुकड़े को नदी में बहा चली है परन्तु उसने वस्त्र इसलिए नहीं बहाया कि शरीर ढँकने के लिए उसका मिलना कठिन है। इससे बढ़कर संसार में दरिद्रता का दृष्टान्त मिलना दुर्लभ है। इसलिए महाराज ने प्रण किया कि कुछ काल तक इन्हीं लोगों की भाषा में प्रचार करके इनके दुःख दूर करने के साधन उपस्थित करूँगा।''[१]

पुनः शास्त्रार्थ की चुनौती– यति सम्राट् ने 'काशी' में फिर विज्ञापन बाँटकर शास्त्रार्थ संग्राम के लिए पण्डित रत्नों को चेलेञ्ज (आह्वान) किया और ''अद्वैतमत-खण्डन'' नामक पुस्तक लिखकर प्रकाशित की, जिससे वे पण्डित व्याकुल हो गये। वेद भक्तदेव 'काशी' में दो मास तक रहे। उन्होंने अवैदिक मतों एवं कुरीतियों का सभा में खूब खण्डन किया तथा कल्याणप्रद, वेदोक्त सत्य धर्म का मण्डन किया और प्रबल वेद वचनों एवं तर्कों से 'स्वामी शंकराचार्य' प्रणीत 'नवीन वेदान्त' का प्रतिवाद किया। पश्चात् वे भक्तजनों के आमन्त्रण से कासगंज पहुँचे।''[२]

मृतक श्राद्ध निषेध–श्राद्ध की कुरीति पर भी उन्होंने कुठाराघात किया। सदा अपने जीवित माता-पिता का श्राद्ध पुत्रों को करना चाहिए, मरे हुओं का नहीं, इस प्रकार व्रतीन्द्र ने व्याख्यान के समय विद्वत् सभा में मनुष्य कर्त्तव्य का नागरिक जनों को उपदेश दिया, यथा—

---

१. सुरस्रवन्तीतटमास्थितो यति र्निसर्गसौन्दर्यनिरीक्षणे रतः।
तदग्रतस्यत्समये मृतां शिशुं प्रसूर्गृहीत्वाऽम्बुतरंगमाविशत्।।
पटं शरीरादवतार्य तस्य सा भृशार्त्तनादेन जले कलेवरम्।
शिशोर्गतासोः समवाहयद् बत पटं प्रक्षाल्यडनिनाय सुन्दरी।।
दयामयो धारयितुं निजं मनो विलोक्य दृश्यं करुणं शशाक नो।
व्यचिन्तयद् दुःखसमुद्रमग्नवान् दशां स्वदेशस्य दरिद्रताकुलाम्।।
अये! ह्रदः खण्डनिभंस्वबालकं प्रवाहयेत् किन्तु तदंशुकं न सा।
तदंगसंगं जननी यथा पुनः सुदुर्लभं तद्वसनं स्वधारकम्।।
निदर्शनं निर्धनताजुषां नृणां वसुन्धरायां ननु दुर्लभं वरम्।
गिरोपदेष्टुं निरचेष्ट सन्नृणां दरिद्रतादुःखविनाशसाधनम्।।
द०दि० १९,६९-७३.

२. द०दि० १९.८३-८४.

श्राद्धं सदा जीवितयोः स्वपित्रोः पुत्रैर्विधेयं तदिति व्रतीन्द्रः।
व्याख्यानकाले विदुषां सभायां स्वधर्ममालम्ब्य दिदेश पौरान्॥ [१]

धर्म–'धर्म को लेकर भी उनका शास्त्रार्थ हुआ।'

'केशवचन्द्रसैन ने उनसे पूछा– इस समय हमारे सामने 'बाइविल' 'कुरान' और 'वेद', इन पुस्तकों के आधार पर तीन बड़े 'धर्म' हैं। सभी अपने को सच्चा कहते हैं। हमें कैसे विदित हो कि इनमें से वास्तव में कौन सा सच्चा है? स्वामी जी ने अनेक तर्कों से वेदों की सत्यता एवं सर्वाग्रगण्यता सिद्ध कर दिखाई। महर्षि की अपूर्व प्रतिभा एवं युक्तियों का परिचय पाकर सेन महाशय ने कहा– 'शोक' है, कि वेदों का अद्वितीय विद्वान् अंग्रेजी नहीं जानता, अन्यथा इंग्लैंड जाते समय वह मेरा इच्छानुकूल साथी होता। मुनीन्द्र ने भी तत्काल हँस कर उत्तर दिया कि– 'शोक है, कि ब्राह्मण समाज का नेता संस्कृत नहीं जानता और लोगों को उस भाषा में उपदेश देना चाहता है, जिसे वे समझते ही नहीं।' 'श्री केशवचन्द्र सेन' ने मुनीन्द्र को लोकभाषा में उपदेश देने तथा नगर में वस्त्र धारण करने के लिए जो सुसम्मति दी, उसे उन्होंने स्वीकार की, अतः वे प्रसन्न हो गये।''[२]

''श्री केशवचन्द्र'' के सदन में बुध मण्डित सभा में 'अद्वैतवाद', 'ईश्वर की मूर्ति की पूजा' जन्म से वर्ण व्यवस्था आदि का महर्षि ने प्रबलता से खण्डन किया। उसका विद्वद् वृन्द पर अच्छा प्रभाव हुआ। १३ फाल्गुन शाके १७९४ ता० + २३ मार्च सन् १८७३ को ऋषि का बाबू 'गौरचन्द्र' के गृह पर ईश्वर और धर्म विषय पर संस्कृत में एक व्याख्यान हुआ। व्याख्यान के अन्त में पं० 'महेशचन्द्र न्यायरत्न', प्रिन्सिपल-संस्कृत कालेज के साथ व्याख्यान 'वाचस्पति' का गर्मागर्म शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ भी संस्कृत में था, ऋषि ने उनको हराया।''[३]

वहाँ से हाथरस में आकर मृतक श्राद्ध जैसी कुप्रथा का स्वामी जी ने जोरदार खण्डन किया। 'ठा० मुकुन्द सिंह', 'ठा० भूपालसिंह' और राजा 'जयकृष्णदास' से शोभायमान ब्रह्मानन्दरसज्ञ गुरुदेव ने 'हाथरस' में पदार्पण किया। वहाँ प्रबल प्रमाण एवं तर्कों से महाराज ने मृतक श्राद्ध का मिथ्यात्व सिद्ध कर दिखाया।''[४]

---

१. द०दि० २०,२३.

२. द०दि० २०.४०-४३.

३. द०दि० २०,४५-४६.

४. द०दि० २०.७३,

रासलीला खण्डन–वृन्दावन में मूर्तिपूजा और रासलीला का खण्डन स्वामी जी ने किया। 'वृन्दावन' असंख्य मूर्ति मन्दिरों का विशाल दुर्ग है। मूर्तिपूजा रासलीला आदि का धाम है। यहीं प्रतिवर्ष 'ब्रह्मोत्सव' नामक रथ का बड़ा भारी मेला होता है। जिसमें दूर-दूर से सहस्रों नर, नारी, राजे महाराजे, सेठ साहुकार तथा अन्य गण्य-मान्य पुरुष एकत्रित होते हैं। 'वृन्दावन' में 'श्री रंगाचार्य' 'चक्रांकितो' का गुरु रहता था, जो शंखासुर के समान सब प्रकार के छलों में निपुण था। यहाँ उसने स्वर्ण स्तम्भ से सुन्दर और सुवर्ण क्लेशों से शोभित मन्दिर बनवाया था। जिसमें सुवर्ण मूर्तियाँ सुहाती थीं। 'मनीषिहंस' ने 'रंगाचार्य' जी को प्रतिमा पूजा आदि विषय पर शास्त्रार्थ संग्राम के लिए आह्वान किया। प्रथम उसने उत्सव का बहाना किया। 'श्रीमान् दयानन्द सरस्वती' रूपी इन्द्र ने मिथ्यापुराण रूपी पाषाण की ऊँची दिवालों वाले सुवर्णादि मूर्तिपूजा रूपी नये दुर्ग को तीक्ष्ण वेदार्थ रूपी व्रज से तोड़ गिराया।''[१]

मिथ्या आक्षेप–वृन्दावन और मथुरा में स्वामी जी ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया। मुनीम 'मांगीलाल' नामक विरोधी ने सभा में एक कसाई और शराब वाले को भेजा। उन्होंने जाकर स्वामी जी से कहना आरम्भ किया कि हमारे शराब और मांस के दाम तो दे दीजिये। स्वामी जी ने हँसकर कहा कि बहुत अच्छा? व्याख्यान के पश्चात् तुम्हारा हिसाब भी कर दूँगा। व्याख्यान समाप्त होने पर यतीन्द्र ने एक हाथ से एक की और दूसरे हाथ से दूसरे की गर्दन पकड़कर पूछा कि बतलाओ तुम्हारे कितने दाम हैं? तब उन्होंने घबराकर अपने को भेजने वालों का नाम मुनीन्द्र को बतला दिया। व्याख्यान के समय कुछ एक दुष्टों ने एक वेश्या को समझा-बुझाकर मुनीन्द्र को कलंक लगाने के विचार से भेज दिया। सभा में व्रतीन्द्र के पवित्र मुखचन्द्र को देखकर उसकी पापवृत्ति विलीन हो गयी और वह हृदय में पश्चात्ताप करने लगी, अत: वह शीघ्र ही पुण्यात्मा के पदाम्बुज में गिर पड़ी।''[२]

स्वामी जी सत्य का सदा मण्डन और असत्य का खण्डन करते रहते थे उनके विरोधियों ने उनको विष आदि देकर कई बार मारने का प्रयास किया। 'बल्लभ' सम्प्रदाय के गुरु 'गोस्वामी' जी स्वामी जी के महान् शत्रु हो गये थे। एक दिन उन्होंने इनके पाचक 'बलदेव' को हजार रुपये का लालच देकर मुनीन्द्र को मारने के लिए उद्यत किया और तुरन्त उसे पाँच रुपये और पाँच सेर मिठाई भी दे दी। महामुनि ने

---

१. द०दि० २०,७५-७८.

२. द०दि० २०.८२-८३.

हृदय नेत्र से पाचक की गुप्तकृति को जान लिया था, अत: वहाँ से आते ही उससे स्वामी जी ने पूछा—बलदेव! तुम गोकुलियों के मन्दिर में क्यों गये थे? और वहाँ क्या किया? वह मुझे कहो? संत शिरोमणि ने जब ऐसे प्रश्न किये तब तो उसने निश्चय किया? वह मुझे कहो? संत शिरोमणि ने जब ऐसे प्रश्न किये तब तो उसने चकित होकर सब सत्य बात कह दी। ऋषि ने कहा— बलदेव! मुझे अनेक बार अनेक मनुष्यों ने विष दिया है, परन्तु मैं मरा नहीं और अब भी न मरूँगा। यतीन्द्र ने जब ऐसा कहा, तब वह पाचक प्रणाम कर उनसे क्षमा माँगने लगा और 'फिर' कभी मैं दुर्जनों के कपट जाल में नहीं फसूँगा, ऐसी उसने प्रतिज्ञा की।[१] इस प्रकार स्वामी जी निरन्तर विरोध सहकर भी समाज-सुधार के कार्य में लगे रहे।

कल्पित 'बहुदेवतावाद' को लेकर 'डा० भण्डारकर' और 'पं० विष्णु परशुराम शास्त्री' से उनका शास्त्रार्थ हुआ।

डॉ० भण्डारकर वेदों को बहु देवतावाद के समर्थक एवं ऋषि प्रणीत मानते थे। महर्षि ने उनके इस मत का तर्क बल से खण्डन किया, जिससे वे दोनों रुष्ट हो गये।[२] उन दोनों को अपनी शास्त्र निपुणता का महान् अभिमान था। मुनीन्द्र ने उनके वैदिक मन्तव्य एवं उनके लिखे व्याकरण पुस्तक की गलतियां दिखाकर उनका मानमर्दन किया तथा विधवा विवाह वेद सम्मत नहीं है। ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन किया, जिससे वे दोनों इसके शत्रु बन गये।[३] 'फ्रॉमजी काडसजी' हाल में ता० २५ तथा २८ नवम्बर १८७४ को क्रमश: मुनीन्द्र के दो व्याख्यान हुए जिनमें मूर्तिपूजा, कुरूढ़ि तथा पाखण्ड का खण्डन और अपने धर्म तथा देश की उन्नति का मार्ग, ये विषय थे। व्याख्यान बड़े प्रभावशाली एवं मनोरंजक थे।'[४] एक दिन बड़ौदे के दीवान सर टी० माधवराव और नायब दीवान 'मि० जनार्दन कीर्तनीय' इन आर्य विद्वन् मणि से यहाँ मिलने आये। वे दोनों नमस्कार करके इनसे धर्म विषय पर विचारणा करते रहे और प्रभावित होकर पुनर्दर्शन की इच्छा से चले गये। 'पं० कृष्णराम इच्छाराम' अद्वैतवादी स्वामी जी की गुणगाथा सुनकर इनके सत्संग में आये। योगिराज ने इनको अपना सुलेखक नियुक्त किया। वे आनन्द से ऋषि के समीप वेदों को पढ़ते रहे। देववर ने इनके हाथ से 'वेदान्त ध्वान्त निवारण' नामक निबन्ध लिखवाया। तार्किक सम्राट् के प्रमाण एवं तर्क

---

१. द०दि० २१.२३-२६.

२. द०दि० २१.२०.

३. द०दि० २१.३१.

४. द०दि० २१.३२.

किरणों से इसके हृदयाकाश का अद्वैतान्धकार नष्ट हो गया।''[१]

वेदभाष्य- इसके पश्चात् स्वामी जी वेद प्रचार-प्रसार के साथ-साथ वेद-भाष्य के कार्य में जुट गये। 'आत्मवित् महर्षि ने 'ऋग्वेद' के पहले सूक्त का भाष्य—जिसमें 'हिन्दी', 'गुजराती' और 'मराठी' भाषा में अनुवाद भी था, वेद भाष्य के नमूने के तौर पर रचकर एवं प्रकाशित कर 'काशी', 'कलकत्ता' तथा भारत के अन्य नगरों के पण्डित प्रवरों के पास भेजा।'' स्वामी जी लेखन और प्रकाशन कार्य निरन्तर करते रहे। महर्षि ने 'बल्लभाचार्य' एवं 'स्वामीनारायण' के मतों के खण्डन के विषय में पुस्तकें बनाकर प्रकाशित करवायीं और मनुष्य के अभ्युदय की इच्छा से मनोहर 'संस्कार विधि' की रचना आरम्भ कर दी।'' अन्य भी कई ग्रन्थ उन्होंने रचे। 'सेवक लाल' 'कृष्णदास', 'रामदास' 'छविलदास' प्रभृति भक्त सज्जन महर्षि से दर्शन ग्रन्थ रत्न पढ़ा करते थे। अंग्रेजी शिक्षण के बिना भी यतीन्द्र की तर्कशक्ति एवं विमलमति देखकर इनके हृदय आश्चर्य मग्न हो गये।''[२] एक बार वे 'कतारगाँव' को जाने वाले मार्ग पर एक भवन में ठहरे। साथ में 'पं० कृष्णराम' और 'बलदेव' पाचक थे। 'सूरत' शहर में 'रा० जगजीवन जी' के सभापतित्त्व में महाराज ने वेद विरुद्ध 'बल्लभ मत', 'स्वामी नारायण ग्रन्थ', और 'रामानुज मत' का खण्डन किया।'' योगीन्द्र की दूसरी वक्तृता ४ दिसम्बर को गवर्नमेण्ट हाई स्कूल के आंगन में हुई और उसके सभापति प्रिन्सिपल साहब थे। व्याख्यान का विषय था— 'बुद्धोक्त, जिनोक्त, पुराणोक्त, तथा तन्त्रोक्त धर्म में आर्य-धर्म का स्वरूप।'[३] इस पर स्वामी जी ने यथार्थ रूप से प्रकाश डालकर सबको प्रसन्न कर दिया। 'भडौंच' में 'अद्वैतानन्द' की बहुत सी चेलियाँ थी। वे तथा अन्य ब्राह्मण स्त्रियां मुनीन्द्र के कथामृतपान की इच्छा से धर्मशाला में आयीं। तब गुरुदेव ने उन्हें पर्दे में बिठलाकर उनके कर्त्तव्य का उपदेश दिया।[४] ''आर्य देवियों को मन्दिरों में, मठों आदि स्थानों में आना जाना और साधु-संन्यासियों के दर्शनों के लिए इधर-उधर घूमना उचित नहीं है। उनका पति ही गुरु और देव है। सदा मन, वचन कर्म से स्त्रियों को पति ही की सेवा करनी चाहिए।'' ''देवियों को स्व स्वामी से ही गुरुमन्त्र ग्रहण करना चाहिए। सुशीलता और सद्गुण बढ़ाने चाहियें। उत्तम शिक्षा और उत्तम रीति से आनन्दपूर्वक सन्तानों का पालन-पोषण करना चाहिए।'' उत्तम माता

---

१. द०दि० २१-३६-३८

२. द०दि० २२.३९-४१.

३. द०दि० २१.४९-५०.

४. द०दि० २१.४०.

पवित्र पुत्ररूपी सूर्य के प्रादुर्भाव करने में प्राची दिशा के समान है। एवं नर रत्नों को उत्पन्न करने की खान हैं अतः पुरुषों का कर्त्तव्य है, कि वे स्वयं वेदोक्त मार्ग से चलकर उन नारियों को स्ववंश की देवी मानकर अपने शील, सदाचार से उनका सत्कार करें।' पिताओं को योग्य है, कि पुत्रियों को पुत्रों के समान बचपन में गुरुकुल में भेजकर उत्तम शिक्षण दें। तभी भारत में 'सीता' तथा 'सुलभा' समान पतिव्रता एवं ब्रह्मवादिनी आर्य सुन्दरियाँ उत्पन्न होंगी। इस प्रकार समाज के सुधार में वे निरन्तर लगें रहे। एक दिन ठाकुर उमराव सिंह ने आर्य गुरुदेव से कहा कि– भगवन्! आप मुझे मन्त्र देकर अपना शिष्य बना लीजिए। ऋषि ने कहा हम किसी को शिष्य नहीं बनाते किन्तु हमारे जो वैदिक सिद्धान्तों को मानता है वही हमारा अनुगामी व शिष्य है। मूर्तिपूजा के खण्डन हेतु वे निरन्तर प्रचार करते ही रहते थे। एक दिन 'जेठालाल' वकील ने सन्तों के स्वामी से कहा कि गुरुदेव! आप यदि मूर्तिपूजा का मण्डन करने लगें, तो हम आपको अखिल शास्त्रार्थवेत्ता जगद्गुरु शंकर का अवतार मानने लगें। जगद्गुरु ने उत्तर दिया कि हे सौम्य! पहले 'काशीराज' ने भी मुझे जगद्गुरु के पद का प्रलोभन दिया था। परन्तु तुम निश्चित जानो कि मैं लोकैषणा के वश होकर कभी सत्यता को नहीं छोड़ूँगा।[१] एक दिन 'कृष्णराम' पण्डित ज्वर से पीड़ित थे। ऋषि ने स्वयं सिर दबाकर उनकी सेवा की। तब वे बोले 'भगवन्!' मैं सेवा कराकर आपका अपराधी नहीं होना चाहता।'' ऋषि बोले 'मतिमन्! आप इसमें जरा भी अपना अपराध न समझें।' अन्योन्य सेवा करना मनुष्य का परम धर्म है। यदि बड़े छोटों की सेवा न करेंगे तो छोटों में भी सेवा भावना न आवेगी।''[२] मूर्तिपूजा का वे निरन्तर निराकरण क़रते रहते थे। दयानन्द ने अनेक मन्त्रों के उद्धरण देकर मूर्तिपूजा का निराकरण किया और इतिहास द्वारा सिद्ध कर दिया कि मूर्तिपूजा जैनियों से एवं बौद्धों से प्रचलित हुई है। उनके व्याख्यानों ने मूर्तिपूजकों की प्रतिमा पूजा की भक्ति को नष्ट कर दिया।''[३] वेदान्तियों का भी वे खण्डन करते रहते थे। 'मोटूसिंह' नामक एक वेदान्ती स्वामीजी के पास आया। वह अपने को 'ब्रह्म' मानता था। ऋषि ने उससे कहा कि ''तू यदि वास्तव में ब्रह्म है, तो इस मरी हुई मक्खी में प्राण तो डाल दे? तब तो 'मोटूसिंह' चकराए। बुद्धू बने हुये गये, मुँह से एक शब्द भी न निकला।''[४] इसी प्रकार एक दिन

१. द०दि० २१.४०
२. द०दि० २१.७८-७९
३. द०दि० २२,२०
४. द०दि० २४.५३

'आनन्द वन' नामक परम हंस दस शिष्यों के साथ यतीन्द्र के आसन पर पधारे। उनको आदरपूर्वक आसन पर बिठाकर स्वामी जी 'द्वैताद्वैत' पर शास्त्रार्थ करने लगे। चिरकाल तक यतीन्द्र ने सूर्यसम वेदमन्त्रों एवं तर्कों से उनके 'अद्वैतान्धकार' को दूर किया और उन परमहंस को शिव और जीव के विवेक में निपुण अपना भक्त बना दिया।''[१] एक दिन राजा ने परमहंस से जीव और ईश्वर के अभेद के विषय में प्रश्न किया। स्वामी जी ने उत्तर दिया कि– ''जैसे आकाश सर्वव्यापक होने से घर से पृथक् नहीं है और न आकाश और घर एक वस्तु है: उसी प्रकार 'ब्रह्मा' सर्वव्यापक होने से जीव से पृथक् नहीं और व्याप्य व्यापक सम्बन्ध से वे दोनों एक भी नहीं अत: 'अद्वैत मत' मिथ्या है।''[२]

'राजस्थान' में वेदप्रचार करते हुए उदयपुर के महाराणा से उनका वार्तालाप हुआ। ''एक दिन सत्संग-सभा में परमहंस ने महाराणा से कहा कि 'राजन्! कल ही पं० सुन्दरलाल जी दो बैल की गाड़ी से आवेंगे: उस गाड़ी में बैल लाल धब्बे वाला और दूसरा श्वेत वर्ण का है।''[३] दूसरे दिन महाराणा ने योगीश्वर के कथनानुसार गाड़ी में जोड़े हुए दो बैलों को देखकर आश्चर्य के साथ योगविभूति को धारण करने वाले परमहंस में अतिशय भक्ति धारण की। ''श्री मोहनलाल विष्णु पण्डया'', 'जगन्नाथ झारखण्डी' आदि सज्जन मित्रों के साथ रात्रि को महामुनि के पास सदा तत्त्व दर्शन वैशेषिक आदि दर्शन-ग्रन्थ पढ़ा करते थे।[४]

उन्नति का उपाय– एक दिन पण्ड्या ने महाराज से प्रश्न किया कि भारत का पूर्ण हित और जातीय उन्नति कब होगी? महर्षि ने उत्तर दिया– ''स्वदेश की उन्नति चाहने वाले सज्जनों को एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाना चाहिए, इसलिए भारत के नृप गण अपने-अपने राज्य में अभ्युदय की कामना से धर्म, भाषा और भाव में एकता उत्पन्न करें। वेदोदित आचार विचार से ही आर्य जाति नेता के प्रमाद के कारण दीन बनकर पापसागर की मीन (मछली) बन गयी है इसलिए चिकित्सक बन कर मेरे जैसे संन्यासी के खण्डन रूपी शल्य क्रिया (औपरेशन) द्वारा जातीय शरीर के रोग को बाहर निकाल कर उसे स्वस्थ बनाना चाहिए।''[५]

---

१. द०दि० २४.७८.
२. द०दि० २५.५
३. द०दि० २५.५०
४. द०दि० २५.५०-५२.
५. द०दि० २५.५३-५४

उदयपुर महाराजा का समर्पण– एक दिन महाराज सज्जन सिंह ने एकान्त में नम्रता पूर्वक योगिराज से कहा कि– "भगवान्! राजनीति के सिद्धान्त के अनुसार आपको मूर्तिपूजा का खण्डन न करना चाहिए।"[१] यदि गुरुदेव मेरी प्रार्थना को स्वीकार करें तो एक लिंगेश्वर मन्दिर के महन्त का अधिकार मैं आपको सौंप दूँ और यह विशाल राज्य भी मैं आपके चरणों में धर दूँ।"[२] "आप राज्य के गुरु माने जावेंगे और पूजा सहित सारी सम्पत्ति आप ही को जावेगी और हम सब अतिशय भक्तिपूर्वक आपके चरणों की सेवा में तत्पर रहेंगे।"[३]

महर्षि की सत्यनिष्ठा–"प्रकृति से शान्त होते हुए भी नरेन्द्र वन्दनीय तपोनिधि सरस्वतीश्वर दयानन्द क्रोधित होकर मेघनाद तुल्य गंभीर वाणी से महाराणा को इस प्रकार कहने लगे।"[४] "हे महाराणा! आप मुझे यह तुच्छ प्रलोभन दिखाकर महेश्वर से विमुख करने के लिए परब्रह्म पिता की शुभ आज्ञा को मुझसे भंग कराना चाहते हैं।"[५] आपके मन्दिर सहित अल्प राज्य से यदि मैं वेग से दौड़ लगाऊँ तो आज ही बाहर हो सकता हूँ, किन्तु परमेश्वर के विशाल राज्य में से अनन्त वर्षों तक भी दौड़ कर मैं बाहर नहीं जा सकता।"[६] "त्रिलोकी का सम्पूर्ण ऐश्वर्य भी मुझे त्रिलोकनाथ से पराङ्मुख नहीं कर सकता एवं प्रिय प्राणान्त कष्ट भी मेरे मन को नहीं डिगा सकता तो आपके इस तुच्छ राज्य की क्या गणना?"[७] राजेन्द्र! फिर कभी आप ऐसा वचन कहने का साहस न करें। आप सच जानिये कि मेरीँ धर्म में ध्रुव, ईश भक्ति में बंधी हुई बुद्धि को आकाश और भूमि की कोई भी वस्तु मार्ग भ्रष्ट नहीं कर सकती।[८] सत्य प्रकाश देदीप्यमान यतीन्द्र के मुखमार्तण्ड को निहार कर महाराणा भयभीत होकर बोले कि –'भगवन्! मेरी इस धृष्टता के लिए मुझे क्षमा कीजिए, मैंने आपकी बुद्धि की दृढ़ता की परीक्षा की है।'[९] इस प्रकार सत्य से कोई प्रलोभन उन्हें डिगा न सका। विनोदप्रिय, मधुरभाषी ने एक दिन नैयायिक के साथ विनोद किया कि– 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति'

---

१. द०दि० २५.५७
२. वही, २५.५८
३. वही, २५.५९
४. वही, २५.६०
५. वही, २५.६१
६. वही, २५.६२
७. वही, २५.६३
८. वही, २५.६४
९. वही, २५.६५

इसका 'नव्य न्याय' की रीति से अर्थ कीजिये। उसने 'अवच्छेदकावच्छिन्न' की झडी लगा दी और व्यर्थ आधा घण्टा उसमें नष्ट किया। बाद में महाराज ने कहा कि भाई आपने इस वाक्य को इतना जटिल बना दिया कि कोई कुछ भी न समझे। यह तो ऐसा हुआ कि 'खोदा पहाड़ और निकला चूहा।' आत्मवित्तम ऋषि ने 'बिहारीलाल' नामक विद्यार्थी को पत्थर की स्तुति एवं विष्णु, शिव की मूर्ति का यथार्थ स्वरूप और ईश्वर की सर्वव्यापकता अच्छी तरह से समझाकर उस के मन को पाषाणमूर्तिपूजा से विमुख कर दिया।''[१]

निष्कर्ष– इस प्रकार देखा जा सकता है, कि स्वामी दयानन्द ने ज्ञान और अज्ञान के स्वरूपों को भली प्रकार समझा। प्रमाणों के द्वारा उसकी विधिवत् परीक्षा की और जनता के कल्याण के लिये, ज्ञान मार्ग का अवलम्बन करके सत्य का उपदेश दिया। बहुत से लोगों ने उन्हें राज, धन, ऐश्वर्य आदि के प्रलोभन भी दिये, किन्तु यथार्थ स्वरूप को भली भाँति समझने वाले स्वामी दयानन्द ने सत्य के मार्ग का ही अनुसरण किया। उनका आचरण निःसन्देह अनुकरण के योग्य है। उन्होंने 'पौराणिकों', 'जैनियों', 'नवीन वेदान्तियों', 'चक्रांकितों', 'कुरान', 'बाईबिल' इत्यादि के अनेकों मतमतान्तरों का सम्पूर्ण मानसिक और आत्मिक शक्ति लगाकर खण्डन किया। ज्ञान के विषय में उनका दृष्टिकोण पूर्णतया सुस्पष्ट था।

पण्डित मेधाव्रत जी की रचनाओं में उनकी छाप स्पष्ट झलकती है। मेधाव्रत जी की रचनाओं में काव्यभाव होते हुए भी स्वामी दयानन्द के 'ज्ञान-मीमांसा' सम्बन्धी विचारों का अवलोकन भलीभाँति किया जा सकता है। वस्तुतः मेधाव्रत जी ने भारतीय दर्शनों के साथ-साथ स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों का तुलनात्मक दृष्टि से गहन अध्ययन किया है। उनकी लेखन शैली की प्रमुख विशेषता यह है, कि स्वामी दयानन्द की विचारधारा से वे कदापि पृथक् नहीं हुए हैं। उनके व्यक्तित्त्व पर 'दयानन्द-दर्शन' की विचारधारा का प्रभाव प्रायः उनकी समस्त रचनाओं में सर्वत्र भली प्रकार देखा जा सकता है। ज्ञान की मीमांसा जैसे गूढ़ दार्शनिक विषय पर उन्होंने प्रमुखता के साथ स्वामी दयानन्द के मन्तव्य को प्रस्तुत किया है। वे दयानन्द की विचारधारा से ओतप्रोत हैं। यह उनके ग्रन्थों का विवेचन करने के पश्चात् भली प्रकार से सिद्ध हो जाता है।

---

१. द०दि० २६.१९-२०

तृतीय अध्याय

दयानन्दाभिमत प्रकृति

'प्रकृति' तत्त्व को लेकर संसार के अनेक विद्वानों ने अपने दृष्टिकोण से विविध विचार व्यक्त किये हैं। 'प्रकृति' क्या है? इसके वास्तविक स्वरूप को कैसे जाना जाये? 'प्रकृति' नित्य है या अनित्य, जगत् की रचना में 'प्रकृति' का क्या योगदान है। इस रचना की कार्य-कारण परम्परा किस प्रकार की है। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय में 'प्रकृति' किस प्रकार योगदान करती है। प्रकृति के मूल 'मिथ्या' और 'यथार्थ' रूप क्या हैं? इत्यादि ऐसे प्रश्न हैं जिन पर अति प्राचीन काल से विचार किया जाता रहा है यहाँ प्रथम पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों के प्रकृति और सृष्टि विषयक विचारों को प्रस्तुत किया जा रहा है; तत्पश्चात् 'दयानन्दाभिमत' प्रकृति के स्वरूप पर विचार करके, दयानन्दानुसारी 'मेधाव्रत जी' की रचनाओं में उपलब्ध प्रकृति सम्बन्धी तत्त्वों पर विचार किया जायेगा।

पाश्चात्य जगत् में प्रकृति को लेकर दो प्रकार की विचारधारायें प्रचलित हैं—

(१) भौतिकवादी विचारधारा,

(२) प्रत्ययवादी विचारधारा

भौतिकवादी विचारधारा को लेकर 'ग्रीक दार्शनिक डेमोक्रिट्स' एवं 'लोसीपस' के परमाणुवाद सम्बन्धी सिद्धान्त विचारणीय हैं। इन विद्वानों के अनुसार ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति अर्थात् जड़ व चेतन सृष्टि सूक्ष्म एवं गतिशील परमाणुओं का ही विकार मात्र है। जीव व जड़ जगत् का गुणात्मक भेद वास्तव में देखने मात्र का है। इन दोनों का समान कारण होने से तत्त्वतः इनमें कोई भेद नहीं है। जीव की अमरता एवं सृष्टि का उद्देश्य सब मिथ्या कल्पनाएँ हैं। समस्त ब्रह्माण्ड प्राकृतिक नियमों के अधीन क्रियाशील है।[१] इस भौतिकवादी विचारधारा को आधुनिक विज्ञान से पर्याप्त बल मिला है। भौतिक शास्त्र की खोजों के अनुसार समस्त ब्रह्माण्ड का निर्माण तीन तत्त्वों इलेक्ट्रोन, न्यूट्रोन व प्रोटोन से हुआ है। परमाणु भी इन्हीं तीनों का विकार है। आधुनिक भौतिकवादी 'विकासवादी' विचारधारा को मानते हैं। वे संसार के जड़ पदार्थों के साथ-साथ जीव (लाइफ) की उत्पत्ति भी इन्हीं जड़ तत्त्वों से मानते हैं। इसमें

१. दयानन्द दर्शन (डॉ० वेदप्रकाश गुप्त) पृ० १४४

पराभौतिक शक्ति, आत्मा व परमात्मा को कोई स्थान नहीं है।

'प्रत्ययवादी' विचारधारा भौतिकवाद की पूर्णतया विरोधी है। भौतिकवाद में आध्यात्मिक तत्त्व चेतन को भौतिक पदार्थों से उत्पन्न हुआ माना है, तो 'प्रत्ययवादी' संसार को 'चेतन' सत्ता से उद्भूत मानते हैं। ये विचारक आध्यात्मिक तत्त्वों को भौतिकवाद से बचाने के कारण द्रव्य की द्रव्यता समाप्त कर उसे वेद या परमात्मा का मानसिक विकारमात्र मानते हैं। प्रत्ययवाद के अनुसार प्रत्यक्ष में आने वाला जगत् मानसिक विचारों से पृथक् नहीं है।[१] मानसिक विचार काल जगत् की उत्पत्ति करते हैं। सृष्टि निर्माण के लिए किसी भौतिक द्रव्य की आवश्यकता नहीं है, जो सृष्टि से पूर्व या पश्चात् में विद्यमान हो। 'यूनान' के प्रसिद्ध दार्शनिक 'प्लेटो' का विचार है, कि बाहर हम जो भी देखते हैं, वह वास्तविक जगत् नहीं है। वह वास्तविकता की प्रतिच्छाया मात्र है। संसार के पदार्थ किसी सप्त पदार्थ की अधूरी एवं अपूर्ण प्रतिलिपि मात्र है। जो पदार्थों के प्रत्यय हैं। जो कि सप्त पदार्थों के संसार में नूमने एवं आदर्श के रूप में सुरक्षित हैं। उनके अनुसार मनुष्य एवं मनुष्यता दो पृथक् सत्ताएँ हैं। मनुष्य के मरने पर मनुष्यता का नाश नहीं होता। मनुष्यता का प्रत्यय जो स्वर्ग में है, अमर है, उसी के आधार पर संसार के मानव बनते हैं इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का प्रत्यय है। 'प्लेटो' कहीं इसे ईश्वरीय प्रत्यय भी मानते हैं। इस प्रकार देखा जा सकता है, कि प्लेटो के दर्शन में बाह्य जगत् का अस्तित्व सत् नहीं है। अपितु यह जगत् ईश्वर द्वारा निर्मित प्रत्ययों का प्रतिबिम्ब हैं।[२] 'प्लेटो' का यह दर्शन यथार्थवादी नहीं कहा जा सकता।

"बर्कले" नामक विद्वान् ने भी इस पर विचार किया है। उनके अनुसार द्रव्य सत्ता को नष्ट कर देता है। द्रव्य नाम का कोई पदार्थ नहीं होता, अपितु वस्तुओं का अस्तित्व एवं सत्ता प्रत्यक्ष पर आधारित होती है।[३] अनुभूतियों से पृथक् पदार्थों की कोई सत्ता नहीं होती है। वस्तुतः यह विचारधारा भी यथार्थ नहीं है।

भारतीय दर्शन की 'शंकराचार्य' द्वारा पुष्ट 'अद्वैत' विचारधारा भी 'आदर्शवादी प्रत्ययवादी' विचारधारा है। 'शंकराचार्य' केवल 'ब्रह्म' को सत्य मानते हैं। उनके दर्शन में जगत् का अस्तित्व 'चित्' व 'अचित्' का द्वैत 'माया' मात्र है परमार्थ केवल 'अद्वैत' है। जगत् के मिथ्यात्व को समझने के लिये वे उसे कभी मायावी की मिथ्या

---

१. दयानन्द दर्शन (डॉ० वेदप्रकाश गुप्त) पृ० १४४

२. वही, पृ० १४६.

३. वही, पृ० १४६

माया के प्रकार के रूप में कहते हैं, तो कभी पृथिवी पर वास्तव में वह न कहीं जाता है और न कहीं आता है। वे उसे जादू के समान समझते हैं। वे कभी 'परिणामवाद' को प्रकट करने वाली उपमा का सहारा लेते हैं और कहते हैं[१]— "समुद्र के फेन के समान यह जगत् ब्रह्मरूपी उपादान से बना है।" यहाँ देखा जा सकता है, कि शुद्ध विवर्तवाद के द्वारा सृष्टि का रहस्य विविधत् रूप से सुलझाया नहीं जा सकता। अत: उन्होंने 'परिणामवाद' के लिए उपमाओं का सहारा लेकर अपने तथ्यों को पुष्ट करने का प्रयास किया। 'शंकराचार्य' ने 'माण्डूक्य' कारिकाओं के मत को ग्रहण किया है, जिनमें जगत् की सत्ता को भ्रम बतलाया गया है। सम्भवतया वहीं से प्रेरणा पाकर अपने भाग्य में भी उन्होंने जगत् को मायावी की माया के समान मिथ्या माना है। ऐसा प्रतीत होता है, कि 'शंकराचार्य' पर 'बौद्धों' के 'शून्यवाद' का प्रभाव भी पड़ा है।

'नागार्जुन' व 'चन्द्रकीर्ति' ज्ञान को दो प्रकार लोकसंवृत्ति व परमार्थ ज्ञान के रूप में मानते हैं। इनमें अज्ञान से ढका हुआ संवृत्ति है और दूसरा परमार्थ सत्य है। कार्य कारण रूप यह जगत् जिसमें एक कार्य अपने कारण पर आश्रित है तथा जहाँ किसी पदार्थ की वास्तविता का पता नहीं चलता, संयोग वियोग से चलता दिखायी देता है। मिथ्या संवृत्ति, रज्जु में सर्प-भ्रम व आधारहीन भ्रम का नाम है। इसका मिथ्यात्व जगत् में ही सिद्ध हो जाता है। 'नागार्जुन' के विचार में दृश्य जगत् इस मिथ्या संवृत्ति की तुलना में सत्य है, वास्तव में नहीं। उनका कहना है, कि "जगत् की स्थिति मृगतृष्णा या स्वप्नवत् मिथ्या है।"[२] भ्रम के आरोप सिद्ध करने के लिए आधार की आवश्यकता होती है, जैसे— सर्प की भ्रान्ति का आधार रज्जु है। किन्तु 'बौद्धों' के दर्शन में ऐसी किसी सत्ता को स्थान नहीं है, जिसके आधार पर जगत् प्रपञ्च की सृष्टि हो। बस यही 'बौद्धों' व 'शंकर' में भेद है। 'शंकर' जगत् प्रपञ्च को 'ब्रह्म' पर आरोपित मानते हैं। यह 'ब्रह्म' ही है, जो रज्जु के समान जगत् भ्रान्ति का आधार है।[३] इससे आचार्य 'शंकर' यथार्थवादी नहीं माने जा सकते क्योंकि इनका ब्रह्मा अचिन्त्य और परिणाम रहित है। यह परिणामी जगत् का उपादान नहीं हो सकता। दृश्यमान जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन 'शून्यवादी' व 'शंकर' दोनों का समान है। अन्तर केवल इतना है, कि 'शंकर' भ्रम का आधार 'ब्रह्म' को मानते हैं जबकि 'शून्यवादी'

---

१. आत्मभूतानामरूपोपादनभूतः सन्सर्वज्ञो जगन्निर्मिमीत इत्यविरूढम्। ऐ०उ० १-१-२ पर, शांकर भाष्य, पृ० ३७ (गीता प्रेस)

२. माध्यमिकवृत्त, १३-८

३. माण्डक्यूकारिका १२ पर शांकरभाष्य—

ऐसी कोई सत्ता नहीं मानते हैं।

'शंकर वेदान्त' की 'माया' 'अविद्या' या 'अज्ञान' एक ऐसी सत्ता है, जो है भी और नहीं भी है एवं इनसे विलक्षण अनिर्वचनीय है। यहाँ 'अनिर्वचनीय' पद भ्रान्ति उत्पन्न करता है। इसकी व्याख्या बड़ी विचित्र है। 'वेदान्तियों, ने यह प्रयास किया है, कि ऐसा व्याख्या करें जिससे 'शंकर' का 'ब्रह्म' सत्य और जगत् मिथ्या का सिद्धान्त झूठा न बन सके। 'शंकर' के शिष्य 'पद्मपाद' ने माया की व्याख्या में इसे अज्ञान शक्ति कहा है, जो कि जड़ द्रव्य है। यह जड़ रूपा 'अविद्या' जगत् का उपादान है। इसी से जगत् प्रपञ्च की सृष्टि होती है। यही 'अविद्या' शक्ति, शुद्ध आत्मा में रहकर एक ओर उसके सत्य स्वभाव को, जो कि वास्तव में 'ब्रह्म' है, छिपाती है और दूसरी और स्वयं को अहंकार आदि मानस संकल्पों में परिणत कर लेती है।''[१] यहाँ 'बौद्धों' के समान अज्ञान केवल भ्रान्ति रूप नहीं है अपितु जगत् सामग्री है। 'प्रकाशात्मन्' ने इसे द्रव्य रूप जगत् की उपादान सामग्री माना है। किन्तु यह ब्रह्म पर आश्रित रहने के कारण ब्रह्म से पृथक् नहीं है। इसी अर्थ में उन्होंने ब्रह्म को जगत् का 'अभिन्न' मित्तोपादानकारण कहा है।[२] 'वाचस्पति मिश्र' ब्रह्म व माया दोनों को संयुक्त रूप से जगत् का उपादान कहते हैं। 'अप्पय दीक्षित' जगत् में सत्ता ब्रह्म से मानते हैं और जड़ता माया से। 'सर्वज्ञात्म मुनि' ब्रह्म को जगत् के उत्पन्न होने में माया को ब्रह्म जितना महत्त्व नहीं देना चाहते।[३]

ऊपर वेदान्त के इस विवेचन से स्पष्ट है, कि 'मायावादी' सिद्धान्त बहुत जटिल विविधतापूर्ण एवं असम्भव है। 'शंकर' माया के स्वरूप, इसकी परमार्थ सत्ता तथा जगत् से सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से नहीं बता सके। पश्चात् के टीकाकार तो इस वाद में उलझकर ही रह गये। वे एक ओर तो ब्रह्म को जगत् का उपादान कहने तथा दूसरी ओर जगत् को पूर्ण मिथ्या सिद्ध करने में हिचकते हैं। उनकी एक कठिनाई और भी है, कि वे 'शंकर' के दर्शन से किसी प्रकार हटना नहीं चाहते। अत: कोई माया को 'जड़' बतलाता है तो कोई उसे 'ब्रह्म' की शक्ति कहता है। एक बात पर ये सहमत हैं कि यह अज्ञान है, जो सत् में असत् की मिथ्या प्रतीति का कारण है वास्तविकता तो यह है, कि जब तक चेतन और जड के अस्तित्व को पृथक् से स्वीकार नहीं किया जायेगा,

---

१. पञ्चपादिका— पृ० ५
२. पञ्चपादिका विवरण पृ० १३
३. द्रष्टव्य, संक्षेपशारीरिक— पृ० २३३-२३४.

तब तक सृष्टि की रचना की विधिवित् सिद्धि नहीं की जा सकती। स्वतन्त्र रूप से प्रकृति द्वारा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय पर यदि विचार किया जाये तो ऊपर विवेचित विद्वानों के मत अधिक सटीक नहीं बैठते। इनकी सिद्धि के लिए तो कोई यथार्थ आधार ही ढूँढना होगा। सौभाग्य से स्वामी दयानन्द ने इस विषय पर अपने ग्रन्थों 'सत्यार्थ प्रकाश' और 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में विशेषत: विचार किया है। अब आगे 'प्रकृति' के विषय में स्वामी दयानन्द की यथार्थवादी विचारधारा का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

जगत् का स्वरूप

स्वामी दयानन्द के लिये जगत् मित्थात्व का सिद्धान्त एकदम अवैदिक है। वह कहते हैं कि जो यथावत् उपलब्ध होता है उसका वर्तमान में अनित्यत्व और उसके परम सूक्ष्म कारण को अनित्य कहना कभी नहीं हो सकता। फिर आगे स्वप्न के आधार पर जगत् के मिथ्यात्व को अनुचित बताते हुए वह कहते हैं कि जो संसार को स्वप्न, रज्जु-सर्पादिवत् कल्पित कहें तो भी नहीं बन सकता[१] क्योंकि कल्पना गुण है, जैसे— स्वप्न बिना देखे सुने कभी नहीं आता। जो जागृत अर्थात् वर्तमान समय में सत्य पदार्थ है उनके साक्षात् सम्बन्ध से प्रत्यक्षादि ज्ञान होने पर संस्कार अर्थात् उनका वासनारूप ज्ञान आत्मा में स्थित होता है, स्वप्न में उन्हीं को प्रत्यक्ष देखता है।[२] दयानन्द दृश्यमान जगत् की वास्तविकता उसके आदि कारण प्रकृति की नित्यता को एक शाश्वत् सत्य के रूप में मानते हैं। उनके विचार में, जैसे— सुषुप्ति होने से बाह्य पदार्थ के ज्ञान के अभाव में भी बाह्य पदार्थ विद्यमान रहते हैं, वैसे प्रलय में भी कारण द्रव्य वर्तमान रहता है।[३] इनके मत में ब्रह्म जगत् का 'अभिन्ननिमित्तोपादान कारण' भी नहीं हो सकता क्योंकि उपादान कारण के सदृश्य कार्य में गुण होते हैं अर्थात् या तो जगत् के जड़ादि गुणों को ब्रह्म में मानना पड़ेगा नहीं तो प्रश्न उठेगा कि जगत् की जड़ता का क्या कारण है? इससे वेदान्ती ब्रह्म को जगत् का 'निमित्तोपादानकारण' मानकर नहीं समझा सकते।

'शंकरस्वामी' व बाद में आने वाले अद्वैतवादी विद्वान् माया की एक ऐसी भूल-भूलैया में पड़ गये कि उनके अपने लेख एक दूसरे के विपरीत पड़ने लगे। 'शंकर' व

---

१. द्रष्टव्य, सत्यार्थप्रकाश, पृ० २१८
२. द्र० सत्यार्थप्रकाश, पृ० २१९
३. द्र० सत्यार्थप्रकाश, पृ० २१९

'प्रकाशात्मन्' जीव को जगत् द्वारा अविद्या से ब्रह्म में कल्पित कहते हैं, जैसे रज्जु में सर्प। दूसरी ओर स्वयं 'शंकर' जब अपने 'वेदान्त भाष्य' में कहते हैं कि मुक्त पुरुषों को भी सृष्टि-निर्माण में हस्तक्षेप का अधिकार नहीं है तथा ऐसा प्रतीत होता है, कि दृश्यमान् जगत् का वास्तव में निर्माण हुआ है जबकि तथ्य यह है, कि 'शंकर' परमार्थ में जगत् का निर्माण हुआ नहीं मानते।[१] उनके मत में संसार की सत्ता केवल व्यावहारिक है। दयानन्द के अनुसार ब्रह्मवादियों ने माया की व्याख्या सर्वथा अग्राह्य रूप में कर उसे कभी अज्ञान, कभी जादू की शक्ति, कभी भ्रम पैदा करने वाली शक्ति तो कभी त्रिगुणमयी प्रकृति मान लिया है। उनके अनुसार 'शंकर' का माया को भ्रमित करने वाली शक्ति मानना और फिर उसे ही त्रिगुणमयी प्रकृति मानना सर्वथा अनुचित है।

जगत् सत् है-दयानन्द के मत में दृश्यमान् जगत् की सत्ता एकदम सत्य है। यह 'सत्' प्रकृति का 'सत्' विकार है और इसकी सत्ता किसी भी रूप में जीव या परमात्मा के चिन्तन पर आश्रित नहीं है। न ही यह परमात्मा का विकार है जैसा कि 'भास्कर' कहता है और न ही 'शंकर' की माया है, जिसका स्वयं का न कोई विवेचन है और न आधार। दयानन्द की प्रकृति त्रिगुणमयी है जैसा कि 'सांख्य' कहते हैं। यह किसी जादूगर की माया (जादू की शक्ति) भी नहीं है जैसा कि कभी-कभी पश्चिमी प्राच्यविदों को आभास होने लगता है और न ही यह 'विज्ञान भिक्षु' की 'सत्' प्रकृति के समान है, जो त्रिगुणमयी है, परन्तु परब्रह्म की ही एक शक्ति है, जो प्रलय-काल में ब्रह्म में लीन होकर एकत्व को प्राप्त होती है। दयानन्द के अनुसार प्रकृति 'सत्' होने से संसार के सब पदार्थ सत्य, किन्तु परिवर्तनशील हैं। 'बौद्धों' के क्षणिकवाद में पदार्थ क्षण-क्षण में नष्ट होकर, अगले क्षण नवीन बनते हैं जिससे किसी भी पदार्थ की नित्यता का प्रसंग नहीं उठता। किन्तु दयानन्द के परिवर्तन के आधार पर द्रव्य के नित्य होने से उनके सूक्ष्म अवयवों का आपसी संयोग-वियोग नवीन वस्तुओं का सृजन करता है। द्रव्य अपने आप में नाश रहित एवं अपरिवर्तनशील है। ऐसा मानने से वैज्ञानिक सत्य का मार्ग स्वतः खुल जाता है। उसमें मिथ्या भ्रान्ति का अवसर नहीं है। विरोधी तर्कों से निरुत्तर होकर श्रुति के अद्वैतपरक वाक्यों की दुहायी देने लगते हैं, जो कि उनके मत की असमर्थता को प्रकट करता है। जगत् भ्रम से बचने के लिए, 'रामानुज' ने प्रकृति को अनादि माना है। किन्तु उपनिषद् वाक्यों की व्याख्या अद्वैतवाद के रूप में करने के कारण अभिन्ननिमित्तोपादान कारण को मानना पड़ा, जो कि उचित

---

१. माण्डूक्यकारिका— २-३२ पर शांकरभाष्य

नहीं है। स्वामी दयानन्द इन वादों पर गहनता से विचार करते हुए वेद वाक्यों में यथार्थवाद का प्रतिपादन देखकर स्पष्ट शब्दों में प्रकृति को जीव, ब्रह्म के साथ त्रैतवाद के रूप में अनादि तत्त्व मानते हैं और जगत् की सत्यता स्वीकार करते हैं।

स्वामी दयानन्द के अनुसार जगत् और उसके कारण पर विचार करने पर निम्न बातें स्पष्ट होती हैं—

१. जगत् का स्वरूप— जगत् यथार्थ या मिथ्या, नित्य या क्षणभङ्गुर आदि।

२. कारणवाद—कारण का स्वरूप एवं प्रकार।

३. जगत् का उपादान कारण— प्रकृति परमाणु।

४. प्रकृति का स्वरूप

५. जगत् की रचना— सृष्टि-प्रलय

अब क्रमानुसार इन पर आगे विचार किया जा रहा है।

जगत् के स्वरूप पर स्वामी दयानन्द के विचारों का अन्य दार्शनिकों के साथ तुलनात्मक विवेचन किये जाने पर तीन बातें निकलकर आती हैं—

१. जगत् मिथ्या नहीं है।

२. यह क्षणभंगुर नहीं है।

३. जगत् नित्य नहीं है।

यहाँ सर्वप्रथम— ''जगत् मिथ्या नहीं है'', इस विषय पर तुलनात्मक रूप से स्वामी दयानन्द के विचारों को प्रस्तुत किया जा रहा है—जगत् मिथ्या नहीं — भारतीय दर्शन में 'योगाचार' और 'माध्यमिक' नामक 'बौद्ध' सम्प्रदाय तथा 'शंकराचार्य' का 'अद्वैतवादी वेदान्त सम्प्रदाय जगत् को मिथ्य मानते हैं। उनके मतों का निराकरण करते हुए स्वामी दयानन्द ने जगत् को यथार्थ दिखलाया है। 'विज्ञानवादी बौद्ध' एक मात्र विज्ञान को ही 'वस्तुसत्' मानता है, बाह्य जगत् को विज्ञान का ही 'अविद्या कल्पित आकार' बतलाया है। अतः उसे 'बाह्य शून्यवादी' कहा जाता है। 'विज्ञानवादी (योगाचार)' के प्रति स्वामी जी कहते हैं— ''जो योगाचार बाह्य शून्यत्व मानता है तो पर्वत उसके भीतर होना चाहिए। जो कहे कि पर्वत भीतर है तो इसके हृदय में पर्वत समान अवकाश कहाँ है? इसलिए बाहर पर्वत है और पर्वत ज्ञान आत्मा में रहता है।''[१] इस विषय में अपना निर्णय देते हुए उन्होंने आगे कहा है — ''प्रत्यक्ष का विषय बाहर होता है तदाकार ज्ञान आत्मा को होता है।''[२]

---

१. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश, द्वादश, समुल्लास, पृ० ५५७

२. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश ा, द्वादश, समुल्लास, पृ० ५५८

''बाह्य जगत् ज्ञान का ही आकार है वह यथार्थ नहीं,'' 'विज्ञानवादियों' के मत का भी स्वामी जी ने अनेक युक्तियों से खण्डन किया है, जैसे–

१. यदि बाह्य पदार्थ ज्ञान के आकार में हों तो वे भी चेतन होने चाहिए क्योंकि कारण के गुणों के समान कार्य के गुण हुआ करते हैं।

२. तब बाह्य पदार्थों में चलना आदि क्रियायें नहीं हो सकती क्योंकि ज्ञान तो गुण है उसमें क्रिया नहीं होती।

३. जो निर्दोष प्रत्यक्ष से बाह्य पदार्थ दिखलाई देता है वह मिथ्या नहीं हो सकता।

४. यदि ज्ञान में आकार माना जाये तो वह भी दृश्य होना चाहिए और

५. यदि केवल ज्ञान की सत्ता मानी जाये बाह्य पदार्थों (ज्ञेय) की नहीं तो ज्ञेय पदार्थ के बिना ज्ञान नहीं हो सकता।''[१]

''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः'' 'नवीन वेदान्तियों' के इस वचन को उद्धृत करते हुए 'महर्षि दयानन्द' कहते हैं– ''नवीन वेदान्ती लोग पाँचवें नास्तिक की कोटि में हैं। क्योंकि वे ऐसा कहते हैं कि करोड़ों ग्रन्थों का यह सिद्धान्त है, ब्रह्म, सत्य, जगत् मिथ्या और जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं।''[२]

इस मत का निराकरण करते हुए उन्होंने निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं–

१. जो वेदान्ती लोग ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं तो ब्रह्म के सत्य होने से उनका कार्य असत्य कभी नहीं हो सकता।

२. जो रज्जु सर्पादिवत् कल्पित कहें तो भी नहीं बन सकता, क्योंकि कल्पना गुण है, गुण से द्रव्य नहीं (उत्पन्न होता)

३. स्वप्न भी यथार्थ वस्तु पर आश्रित होते हैं, अतः स्वप्न के दृष्टान्त होने मे जगत् को मिथ्या नहीं दिखलाया जा सकता। स्वप्न बिना देखे सुने कभी नहीं आता। जो जागृत अर्थात् वर्तमान समय में सत्य पदार्थ हैं उनके साक्षात् सम्बन्ध से प्रत्यक्षादि ज्ञान होने पर संस्कार अर्थात् उनका वासना रूप ज्ञान आत्मा में स्थित होता है, स्वप्न में उन्हीं को प्रत्यक्ष देखता है।

४. स्वप्न और सुषुप्ति में बाह्य पदार्थों का अज्ञान मात्र होता है, अभाव नहीं। जैसे किसी के पीछे की ओर बहुत से पदार्थ अदृष्ट रहते हैं, उनका अभाव नहीं होता, वैसे ही स्वप्न और सुषुप्ति की बात है।''[३]

---

१. सत्यार्थ-प्रकाश, पृ० ५६३

२. वही, पृ० २८२

३. वही, पृ० २८२-२८३.

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, कि स्वामी दयानन्द की दृष्टि में यह समस्त जगत् यथार्थ है, मिथ्या नहीं। उनकी एक विशिष्टता यह भी है, कि उनके दर्शन में यथार्थवाद के साथ आदर्शवाद का समन्वय है। इसमें उनका यह दृष्टिकोण रहा है, कि लौकिक उन्नति के साथ-साथ मोक्ष का मार्ग भी सुचारु रूप से प्रवृत्त हो सके। वस्तुतः उनका दृष्टिकोण ऊँचा है, वे उच्च कोटि के महान् दार्शनिक हैं जिन्होंने लोकाभ्युदय और श्रेयस् दोनों को उचित स्थान प्रदान किया है।

जगत् क्षणभंगुर नहीं– स्वामी जी ने 'क्षणिकवाद' पर भी विचार किया है। 'क्षणिकवाद' 'बौद्धों' की देन है। स्वामी जी 'क्षणिकवाद' का खण्डन करते हुए कहते हैं कि — "जो क्षणिक पदार्थ और उसका ज्ञान क्षणिक हो तो प्रत्यभिज्ञा, अर्थात् मैंने वह बात की थी, ऐसा स्मरण न होना चाहिए, परन्तु पूर्वदृष्टश्रुत का स्मरण होता है, इसलिए क्षणिकवाद भी ठीक नहीं।"[१]

'जगत् क्षणभंगुर नहीं है,' इसका अभिप्राय यह नहीं कि जगत् नित्य है वस्तुतः स्थिरता की दृष्टि से पदार्थ के तीन रूप हो सकते हैं—क्षणिकता, नियतकाल में स्थिरता और नित्यता। बौद्धों की दृष्टि में सभी पदार्थ क्षणिक हैं 'सर्वक्षणिकम्'। वह क्षणिकवादी कहलाता है। बौद्धों के क्षणिकवाद को "महर्षि दयानन्द" ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है— "क्षण-क्षण में बुद्धि के परिणाम होने से जो पूर्वक्षण में ज्ञान वस्तु था वैसा ही दूसरे क्षण में नहीं रहता, इसलिए सबको क्षणिक मानना चाहिए। इस प्रकार क्षण भर रहने वाला क्षणिक कहलाता है।—"क्षण भवं क्षणिकम्।"[२] कुछ विद्वानों के अनुसार वह पदार्थ क्षणिक है, जो एक ही क्षण में उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है— उत्पन्नो नष्टश्चेत्येक कालः।"[३] किन्तु 'न्याय-शास्त्रादि' की दृष्टि से ऐसा सम्भव नहीं है। वहाँ क्षणिकता का अभिप्राय यह है — जो वस्तु प्रथम क्षण में उत्पन्न होती है द्वितीय में रहती है, और तृतीय में नष्ट हो जाती है वह क्षणिक कहलाती है। शब्द और ज्ञानादि को न्यायमत में इसी प्रकार क्षणिक माना जांता है, परन्तु सभी पदार्थों को क्षणिक नहीं माना जाता और बौद्धों के क्षणिकवाद का प्रतिवाद किया जाता है। सम्भवतः महर्षि दयानन्द ने न्यायाभिमत क्षणिकता के विषय में विचार नहीं किया है।

---

१. सत्यार्थ-प्रकाश, पृ० ५५८
२. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश, द्वादश समुल्लास, पृ० ५५६
३. मि० न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका पृ० १५२.

ऊपर के सन्दर्भ में 'प्रत्यभिज्ञा' के आधार पर क्षणिकता का प्रतिवाद किया गया है। 'प्रत्यभिज्ञा' का अर्थ है—स्मरण सहित प्रत्यक्ष,किसी पहले देखी या सुनी वस्तु को याद करते हुए पुन: देखना या सुनना, जैसे— हमने कभी 'देवदत्त' को 'इन्द्रप्रस्थ' में देखा था, आज उसे 'कुरुक्षेत्र' में देख कर यह अनुभव करना "यह वही देवदत्त है"। इस 'प्रत्यभिज्ञा' से पदार्थों की स्थिरता की सिद्धि होती है। इसी प्रकार सहस्रों वर्षों से वही सूर्य उदित होता है, अस्त होता है, वह क्षणिक कैसे हो सकता है? यह जगत् क्षणभंगुर नहीं है। यह 'प्रत्यभिज्ञा' से ही निश्चित हो जाता है।

इस पर 'बौद्धों' का कथन है, कि जिस प्रकार दीपक की लौ (ज्योति) जो क्षण-क्षण में बदल रही है, उसे भी हम समझते हैं कि वही लौ जल रही है, इसी प्रकार क्षणिक पदार्थों में भी सादृश्य के कारण ये वही है इस प्रकार की भ्रान्ति हो जाया करती है। 'बौद्धों' का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। क्यों? भ्रान्त ज्ञान को तो दूसरे यथार्थ ज्ञान से बोध हो जाया करता है, जैसे — रज्जु में जो सर्प की भ्रान्ति होती है, प्रकाश में "यह तो रज्जु है" ऐसा देखने पर वह भ्रान्ति दूर हो जाती है। किन्तु सूर्य आदि की स्थिरता के ज्ञान में किसी प्रकार का बाध नहीं देखा जाता है। अत: यह जगत् क्षणिक नहीं, स्थिर है।

इस प्रकार देखा जा सकता है, कि 'बौद्ध' और 'वेदान्त' ने व्यर्थ ही 'क्षणभंगुरता' का जो शब्द जाल बुना है वह वस्तुत: यथार्थ नहीं है। स्वामी जी की सूक्ष्म और गहन दृष्टि ने इस सत्य को पहचान लिया था। अनेक विद्वानों से शास्त्रार्थ करके भी उन्होंने इस जगत् के सत्य को विधिवत् रूप से सबके समक्ष प्रस्तुत कर दिया था। पुष्ट प्रमाणों के द्वारा उन्होंने जगत् की वास्तविक स्थिति का सत्य दिग्दर्शन कराया है।

जगत् नित्य नहीं–फिर क्या यह जगत् नित्य है? नहीं। वह पदार्थ नित्य माना जाता है, जो कभी नष्ट न हो। इस जगत् की तो सृष्टि होती है, प्रलय होती है, यह सदा इस रूप में नहीं रहता। स्वामी ने न्यासूत्र[१] को उद्धृत करते हुए नित्यता वादियों का मत इस प्रकार दिखलाया है— "छठा नास्तिक कहता है, कि — पाँच भूतों के नित्य होने से सब जगत् नित्य है।" इसका निराकरण करते हुए स्वामी जी कहते हैं—"यह बात सत्य नहीं।"[२] क्यों? इस विषय पर उन्होंने इस प्रकार युक्तियाँ दी हैं—

१. हमारा अनुभव बतलाता है, कि समस्त स्थूल जगत्, शरीर और घटपटादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी हो जाते हैं।

---

१. द्र० सर्वनित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात्। न्यायसूत्र-४.१.२५,
२. द्र० सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास, पृ० २८३.

२. जिन पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश का कारण देखा जाता है वे नित्य नहीं होते।

३. जो कार्य पदार्थ है वह नित्य नहीं हो सकता।''[१]

वस्तुतः जैसा स्वामी जी ने 'वैशेषिक सूत्र'[२]– उद्धृत करते हुए बतलाया है– ''जो विद्यमान हो और जिसका कारण कोई भी न हो वह नित्य है।''[३] जगत् तो कारणों से उत्पन्न होता है फिर यह नित्य कैसे हो सकता है? इसका नाश भी होता है, यह मानना ही चाहिये।

नाश के विषय में स्वामी जी का दृष्टिकोण, अत्यन्त वैज्ञानिक कहा जा सकता है। 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' में वे कहते हैं ''नात्यन्तो विनाशः कस्यापि संभवति, विनाशो हि यद् दृश्यं भूत्वा पुनर्न दृश्येतेति विजायते''—किसी पदार्थ का अत्यन्त विनाश नहीं होता– जो स्थूल होके प्रथम देखने में आकर फिर न दीख पड़े, उसको हम विनाश कहते हैं।''[४] इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि–''नाश को समझने के लिए यह दृष्टान्त है, कि कोई मनुष्य मिट्टी के ढेले को पीसकर वायु के बीच में बल से फेंक दे, फिर जैसे– वे छोटे-छोटे कण आँख से नहीं दीखते, क्योंकि (णश्) धातु का अदर्शन ही अर्थ है, जब अणु अलग-अलग हो जाते हैं, तब वे देखने में नहीं आते, इसी का नाम नाश है।''[५]

इस प्रकार यह जगत् न तो क्षणिक है, न ही नित्य है, अपितु इसकी उत्पत्ति होती है और विनाश भी सृष्टि तथा प्रलय भी हुआ करता है। यह जगत् नियत काल पर्यन्त रहता है और फिर नष्ट हो जाता है। सृष्टि प्रलय का निरूपण आगे किया जायेगा। वह सृष्टि और प्रलय किस प्रकार तथा किन कारणों से होते हैं, इस विवेचन से पूर्व 'महर्षि दयानन्द के अभिमत' कारणवाद– कार्य-कारण-भाव सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण करना आवश्यक प्रतीत होता है।

कार्य-कारणवाद–स्वामी जी ने 'न्याय' और 'वैशेषक' दर्शनों के मन्तव्यों को भली प्रकार स्पष्ट करते हुए 'कार्यकारणवाद' के सिद्धान्त के द्वारा जगत् की अनित्यता को भली प्रकार स्पष्ट किया है। इसके साथ ही उन्होंने सत्य और वैज्ञानिक ढंग से यह सिद्ध

---

१. द्र० सत्यार्थप्रकाश, द्वादश समुल्लास, पृ० २८३.

२. सदकारणवन्नित्यम्। वैशेषिक सूत्र–४-१-१.

३. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश, तृती य समुल्लास, पृ० ८२

४. द्र० ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका, वेद विषय पृ० ३२२

५. द्र० वही, भाष्य पृ० ६१-६२.

कर दिखाया है, कि निश्चित नियमों के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती रहती है। इस उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में परमात्मा निमित्तकारण, आत्मा साधारण कारण और प्रकृति उपादान-कारण है। वेदानुकूल इस मत का उन्होंने विधिवत् प्रतिपादन किया है।

'स्वामी दयानन्द' ने प्राचीन भारतीय आस्तिक दर्शनों का सहारा लेकर, 'कार्यकारणवाद' के सिद्धान्त के इस स्वरूप को न केवल भली-भाँति स्पष्ट किया है अपितु नास्तिकों, बौद्धों, जैनों और नवीन वेदान्तियों के सिद्धान्तों का उचित रूप से खण्डन भी किया है। वस्तुतः इस विषय में उनका चिन्तन दार्शनिक होने के साथ-साथ तर्कपूर्ण एवं वैज्ञानिक भी है।

सामान्य रूप से देखा जा सकता है, कि प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। बिना कारण के कार्य नहीं किया जाता है। भारत में 'गौतम' से पूर्व ही इस प्रकार का एक वाद प्रचलित था, जो यह स्वीकार करता था कि पदार्थों की उत्पत्ति, किसी कारण के बिना ही हो जाया करती है। स्वामी जी ने 'न्यायसूत्र'[१] को उद्धृत करते हुए इस मत का इस प्रकार उल्लेख किया है—"चौथा नास्तिक कहता है, कि— बिना निमित्त के पदार्थों की उत्पत्ति होती है, जैसे—बबूल आदि वृक्षों के काँटे तीक्ष्ण अणिवाले देखने में आते हैं।" इसका खण्डन करते हुए स्वामी जी कहते हैं कि— "जिससे पदार्थ उत्पन्न होता है वह उसका निमित्त है। बिना कण्टकी वृक्ष के काँटे उत्पन्न क्यों नहीं होते।"[२]

इस प्रकार उन्होंने कार्य कारण को न मानने वालों के मत का निराकरण किया है और 'वैशेषिक' के सूत्र[३] को उद्धृत करते हुए यह भी बतलाया है, कि— "कारण के होने से ही कार्य होता है, कारण के न होने से कार्य कभी नहीं होता?"[४] इससे स्पष्ट है, कि प्रत्येक कार्य का कोई कारण हुआ करता है। कार्य और कारण का नियत सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को स्वामी जी ने इन शब्दों में प्रकट किया है— "जो जिससे उत्पन्न होता है वह कारण और जो उत्पन्न होता है वह कार्य और जो कारण को कार्यरूप बनाने वाला है वह कर्त्ता कहलाता है।"[५]

---

१. अनिमित्तो भावोत्पत्तिः कष्टकतैऽक्ष्ण्यादिदर्शनात्। न्यायसूत्र ४.१.२२.
२. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश,अष्टम समुल्लास पृ० २८१-२८२.
३. कारण भावत्कार्य भावः. वैशेषिक सूत्र ४.१.३
४. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश— तृतीय समुल्लास पृ० ८०.
५. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश— नवम समुल्लास पृ० २९०.

अब विचारणीय विषय यह है, कि भारतीय दर्शनों में जो कारणवाद सम्बन्धी कतिपय मत प्रचलित है, उनमें से स्वामी जी को कौन सा मत स्वीकार्य है। वे प्रसिद्ध मत इस प्रकार हैं—

१. कारण असत् है और उससे सत् कार्य की उत्पत्ति होती है।

२. केवल कारण सत् है उसमें असत् कार्य का आभास हो रहा है।

३. विद्यमान कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति होती है।

४. सत् से सत् की उत्पत्ति होती है।

प्रथम मत के अनुसार अभाव से ही भाव पदार्थों की उत्पत्ति हो जाती हैं 'न्यायसूत्र'[१] को उद्धृत करते हुए स्वामी जी ने इस मत को इस प्रकार दिखलाया है "दूसरा नास्तिक कहता है, कि— अभाव से ही भाव की उत्पत्ति है, जैसे—बीज का मर्दन किये बिना अंकुर उत्पन्न नहीं होता और बीज को तोड़कर देखें तो अंकुर का अभाव है। जब प्रथम अंकुर नहीं दीखता था तो अभाव की उत्पत्ति हई।" उन्होंने इस मत का निराकरण इस प्रकार किया है— "जो बीज का उपमर्दन करता है, वह प्रथम बीज ही में था, जो न होता तो उत्पन्न कभी न होता।"[२]

यहाँ स्वामी जी का अभिप्राय यह प्रतीत होता है, कि केवल कारण ही सत्भाव रूप नहीं होता अपितु उस कार्य में भी विद्यमान होता है। अतः असत् या अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती।

द्वितीय मत 'अद्वैत वेदान्ती' का है, जिसके अनुसार 'ब्रह्म' ही एकमात्र सत्य है। वही जगत् का कारण है। जगत् मिथ्या है, केवल भासित होता है। इस मत का निराकरण अभी ऊपर किया जा चुका है।

तृतीय मत 'असत्कार्यवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। इसका अभिप्राय है उत्पत्ति से पूर्व कार्य असत् (अविद्यमान) रहता है। अथवा कहिये कि मिट्टी आदि उपादान (समवायिकारण) में घट-आदिकार्य का समवाय सम्बन्ध तो है, किन्तु घट आदि नहीं है। जब उनकी उत्पत्ति होती है सत् कारण (मिट्टी आदि) से असत् कार्य (घट आदि) उत्पन्न हुआ करते हैं।

चतुर्थ मत को 'सत्कार्यवाद' के नाम से जाना जाता है। उनके अनुसार घटादि कार्य उत्पत्ति से पूर्व भी मिट्टी आदि कारणों में विद्यमान (सत्) होते हैं। कुम्भकार आदि जो

---

१. अभावाद् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्यप्रादुभर्वात् न्यायसूत्र ४.१.१४,

२. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश— अष्टम समुल्लास पृ० २८१.

निमित्त हैं वे तो विद्यमान घट आदि को भी अभिव्यक्त किया करते हैं, उसको स्थूल रूप में लाया करते हैं।

कार्य-कारणवाद के जिन मतों का विवेचन ऊपर किया गया है उनमें देखा जा सकता है, कि स्वामी दयानन्द की दृष्टि समन्वयवादी है। उनके अनुसार छहों वैदिक दर्शन[१] एक दूसरे के पूरक हैं उनमें आपस में कोई विरोध नहीं है। 'असत् कार्यवाद' और 'सत् कार्यवाद' में मात्र दृष्टि भेद है। इनमें कोई तात्विक भेद नहीं है। जब कार्य पदार्थ के परिणाम आदि गुण को (आकार) और क्रिया की दृष्टि से देखा जाता है तो घटाादि पदार्थ की उत्पत्ति से पूर्व उसके परिणाम आदि गुण को नहीं प्राप्त किया जाता, वह जल लाना आदि क्रिया भी नहीं कर सकता। अतः घट को विद्यमान 'असत्' कहा जाता है। किन्तु उसे जब कारण के सामर्थ्य की दृष्टि से देखा जाता है तो घट का उपादान (समवायि) कारण जो मिट्टी है उसमें घटोत्पादन का सामर्थ्य है ही, यदि न हो तो कभी भी उसके घट न बन सकें, जैसे— बालू से तेल नहीं निकल सकता। इसी बात को 'न्याय-वैशेषिक' कहता है, कि मृत्तिका में घट् 'सत्' अर्थात् विद्यमान है। यहाँ वास्तविक तथ्य में अन्तर नहीं है अपितु दृष्टिभेद मात्र है। अतः कोई विरोध नहीं है।

स्वामी दयानन्द की दृष्टि समन्वयवादी होने के साथ-साथ व्यापक भी है उनकी यह दृष्टि कई स्थलों पर देखी जा सकती है। एक स्थल पर वे कहते हैं कि— "आजकल के वेदान्तियों की दृष्टि पुरुष के समान अन्वय की ओर पड़के व्यतिरेक भाव से छूट विरुद्ध हो गयी है। कोई भी ऐसा द्रव्य नहीं है, कि जिसमें सगुण-निर्गुणता", 'अन्वय-व्यतिरेक', 'साधर्म्य-वैधर्म्य' और 'विशेष्य-विशेषण' भाव न हो।"[२] अन्य स्थल पर वे अपने व्यापक दृष्टिकोण का परिचय इस प्रकार देते हैं कि— "अपने-अपने स्वाभाविक गुणों से रहित और विरोधी के गुणों से रहित होने से सब पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है, जिसमें केवल निर्गुणता व सगुणता हो किन्तु एक ही में सगुणता और निर्गुणता सदा रहती है।"[३] महर्षि दयानन्द की यह समन्वय भावना अनेक सन्दर्भों में दृष्टिगोचर होती है। "उन्होंने 'जैन' दर्शन 'अनेकान्तवाद' का भी इसी में अन्तर्भाव किया है।"[४]

---

१. (मूल वेदान्त, शंकर से पूर्व का, उनका ब्रह्मसूत्र नहीं)

२. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश— सप्तम समुल्लास पृ० २५१.

३. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश— सप्तम समुल्लास पृ० २६०.

४. द्र० वही, पृ० ५६७.

कारणवाद के साथ-साथ महर्षि दयानन्द ने कारण के प्रकार पर भी विचार किया है, जो उनकी दार्शनिक विचारधारा को तथा जगत् के प्रति उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। अब आगे 'कारण के प्रकार' पर विचार किया जा रहा है।

कारण के प्रकार–कारण कितने प्रकार का माना गया है और जगत् के कारण कितने हैं? उसके उत्तर में स्वामी दयानन्द कहते हैं कि– "कारण तीन प्रकार के होते हैं– एक निमित्त, दूसरा उपादान और तीसरा साधारण। निमित्त कारण उसको कहते हैं कि जिसके बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने, आप स्वयं बने नहीं, दूसरे को प्रकारान्तर से बना देवे। दूसरा 'उपादान कारण' उसकों कहते हैं, जिसके बिना कुछ न बने, वही अवस्थान्तर रूप होके बने और बिगड़े भी। तीसरा 'साधारण कारण' उसको कहते हैं कि जो बनाने में साधन और साधारण निमित्त हो।"[१]

इस कारण प्रकार-निरूपण में विविध दर्शनों के समन्वय का भाव है और व्यावहारिक दृष्टिकोण भी प्रकट होता है। इसे किन्हीं अंशों में 'न्याय-वैशेषिक' पर आधारित माना जा सकता है। 'न्याय वैशेषिक' के अनुसार भी कारण के तीन प्रकार हैं–समवायी, असमवायी तथा निमित्त। जैसे वस्त्र का समवायीकरण तन्तु है, असमवायी कारण तन्तुओं का संयोग है। इनके अतिरिक्त तन्तुवाय तथा वस्त्र बुनने के तुरी वेमा (औजार) आदि सभी निमित्त कारण हैं फिर भी स्वामी जी के कारण सम्बन्धी विचार सर्वांश में उसके अनुरूप नहीं है। अंशतः 'सांख्य' का कारण-प्रकार भी निहित है। यहाँ जो उपादान की परिभाषा दिखलायी गयी है। उसमें 'सांख्य' का 'परिणामवाद' या 'विकारवाद' झलक रहा है। इसका नाम 'समवायी-कारण' न देकर 'उपादान कारण' देना ही 'सांख्य' की ओर संकेत करता है। फिर "वही अवस्थान्तर होके बने और बिगड़े" यह कथन स्पष्ट रूप से प्रकट करता है, कि कारण की ही दूसरी अवस्था कार्य है। स्वामी जी के इस विभाजन के अनुसार न्याय के अभिमत 'असमवायिकारण'– तथा अन्य कालादि सामान्य कारण सभी का साधारण-कारण में समावेश होगा क्योंकि यहाँ निमित्त कारण केवल कर्ता को कहा गया है। इस प्रकार 'कारण के प्रकार' विविध दर्शनों के मन्तव्यों का समन्वित रूप प्रस्तुत करते हैं।

ये तीनों प्रकार के कारण इस जगत् की रचना में देखे जाते हैं, यथा निमित्त को ही लीजिये। महर्षि दयानन्द के अनुसार 'निमित्त कारण' दो प्रकार के हैं–

१. 'सब सृष्टि को कारण से बनाने, धारने और प्रलय करने तथा सबकी व्यवस्था रखने वाला मुख्य निमित्त कारण परमात्मा।'

---

१. द्र० वही, पृ० २७४.

२. परमेश्वर की सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्यान्तर बनाने वाला साधारण निमित्तकारण जीव।[१] जगत् का उपादान कारण प्रकृति परमाणु है, जिसको सब संसार के बनाने की सामग्री कहते हैं।[२]

भाव यह है, कि जगत् में दो प्रकार के पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं। एक तो वे जो प्राकृतिक कहे जाते हैं, जैसे—सूर्य आदि हैं उनका बनाना मनुष्य आदि के सामर्थ्य से बाहर है। दूसरे वे जो मनुष्य निमित्त हैं। जैसे—मकान, वस्त्र आदि। इनमें पहिलों का निमित्त कारण (कर्ता) ईश्वर है, दूसरों का जीव है। इन सबका उपादान कारण प्रकृति-परमाणु ही हैं। प्रकृति, परमाणु के स्थूल रूप जो ईंट और चूना आदि हैं, उनसे ही मनुष्य मकान आदि का निर्माण करता है। इस प्रकार से जगत् के निमित्त तथा उपादान कारणों का निरूपण करके द्विविध जगत् के साधारण कारण का एक साथ ही इस प्रकार कथन किया गया है जब कोई वस्तु बनायी जाती है, तब जिन-जिन साधनों से अर्थात् ज्ञान, दर्शन, बल, हाथ और नाना प्रकार के साधन और दिशा, काल और आकाश साधारण कारण हैं।[३]

यहाँ 'हाथ और नाना प्रकार के साधन' केवल मनुष्यकृत कार्यों के ही साधारण कारण समझे जाते हैं, अन्य ज्ञानादि ईश्वरकृत कार्यों के भी साधारण कारण हैं।

तदनन्तर दैनिक जीवन से कारण-प्रकारों के उदाहरणों को स्पष्ट करते हुए कहा गया है— "जैसे घड़े को बनाने वाला कुम्हार निमित्त, दिशा-काल-आकाश-आँख-हाथ-ज्ञान-क्रिया आदि निमित्त कारण भी होते हैं।"[४] यहाँ पर स्पष्ट है कि— कुम्हार घट का निमित्त कारण है, मिट्टी उपादान कारण है। 'दण्डचक्र आदि सामान्य निमित्त।' इस कथन में निमित्त शब्द 'कारण' का समानार्थक है, निमित्त कारण का नहीं। अन्य स्थल पर स्वामी जी ने बतलाया "बीज हेतु, निदान निमित्त और कारण इत्यादि शब्द एकार्थवाचक हैं।"[५] किन्तु अग्रिम वाक्य का क्या तात्पर्य है? यह विचारणीय है। वाक्य को देखने से ऐसा प्रतीत होता है, कि यहाँ दिशा आदि को 'साधारण कारण' तथा 'निमित्त कारण' दोनों कहा गया है। जो दृष्टि भेद से ही सम्भव है। इस विषय में विद्वानों का सुझाव है, कि यह कथन इस प्रकार होना चाहिए—"मिट्टी उपादान, और

१. द्र० सत्यार्थप्रकाश— अष्टम समुल्लास पृ० २७४.
२. द्र० सत्यार्थप्रकाश— अष्टम समुल्लास पृ० २७४.
३. द्र० वहीं।
४. वही।
५. वही।

दण्डचक्र आदि और अदिशा, काल, आकाश, प्रकाश, आँख, हाथ, ज्ञान क्रिया आदि साधारण कारण होते हैं।''[१]

इन तीनों कारणों के स्वरूप तथा वर्गीकरण में मतभेद हो सकता है, किन्तु यह निर्विवाद है, कि किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए तीनों प्रकार के कारण अनिवार्य होते हैं। इस विषय पर महर्षि दयानन्द कहते है कि– ''इन तीनों कारणों के बिना कोई वस्तु नहीं बन सकती है और न ही बिगड़ सकती।''[२]

इस प्रकार यहाँ 'कारण के प्रकारों' पर विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया। स्वामी जी ने निमित्त, साधारण और उपादान इन तीनों कारणों का भारतीय दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में विवेचन किया है और न्याय वैशेषिक के 'समवायी', 'असमवायी' तथा 'निमित्त' कारणों पर भी विचार किया तथा संक्षिप्त रूप से उदाहरण सहित इनके स्वरूप को स्पष्ट किया है। अब आगे जगत् के 'उपादान कारण' पर विचार किया जा रहा है।

जगत् का उपादान कारण–इस जगत् का उपादान कारण क्या है? इस विषय में भारतीय दर्शनों में मतभेद प्रतीत होता है। कुछ मतों के अनुसार 'अभाव' या 'शून्य' से ही यह सृष्टि हो जाती है। उनका निराकरण पहले किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे मन्तव्य हैं जो प्रबल युक्तियों तथा वैदिक प्रमाणों के आधार पर भी ब्रह्म को जगत् को उपादान कारण मानते हैं। अथवा पंच महाभूतों के परमाणुओं को ही। ये दो मत भारतीय दर्शन में 'ब्रह्मवाद' (अभिन्ननिमित्तोपादान ब्रह्म) तथा 'परमाणुवाद' के नाम से विख्यात है। ऋषि दयानन्द जगदुत्पत्ति-सम्बन्धी विविध मतों की परीक्षा करते हुए एक निजी निर्णय पर पहुँचते हैं। वे ''वेद मन्त्र तथा 'श्वेताश्वेतर उपनिषद्' का वचन उद्धृत करते हुए बतलाते हैं कि जगत् का उपादान कारण प्रकृति है।''[३]

इस स्थापना के लिए अन्य मतों की समीक्षा करना आवश्यक है। 'नवीन वेदान्ती' के अनुसार 'ब्रह्म' ही जगत् का निमित्त कारण है। वही उपादान कारण है, ''मकड़ी बाहर से कोई पदार्थ नहीं लेती अपने ही में से तन्तु निकाल जाला बनाकर आप ही उसमें खेलती है,वैसे ब्रह्म अपने में जगत् को बना आप जगदाकार बन, आप ही क्रीड़ा कर रहा है।''[४] उसके मतानुसार ब्रह्म संकल्पमात्र से ही जगत् रूप में भासित हो जाता

१. सत्यार्थ-प्रकाश– (९१७२) पं० युधिष्ठिर मीमांसक, प्रथम परिशिष्ट–टिप्पणी,पृ ० ९३६.

२. सत्यार्थ-प्रकाश– अष्टम समुल्लास पृ० २७४.

३. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश– अष्टम समुल्लास पृ० २७१.

४. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश– अष्टम समुल्लास पृ० २७५.

है। उनके इस मत का निराकरण करते हुए महर्षि दयानन्द कहते हैं कि—

१. जो तुम्हारे कहने के अनुसार जगत् का उपादान कारण ब्रह्म होवे तो वह परिणामी, अवस्थान्तर युक्त विकारी हो जावे।

२. उपादान कारण के गुण, कर्म, स्वभाव कार्य में आते हैं।''[१] फिर (क) जैसे ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है, यह जगत् भी वैसा ही होना चाहिये, किन्तु यह तो जड़ तथा आनन्द रहित है, और ब्रह्म अज और जगत् उत्पन्न हुआ है। ब्रह्म अदृश्य और जगत् दृश्य है, ब्रह्म अखण्ड और जगत् खण्डरूप है। (ख) यदि कार्य के गुणों को देखकर कारण का अनुमान करें तो इसका कारण जड़ आदि गुणों वाला ही होना चाहिये। जो ब्रह्म से पृथिव्यादि कार्य उत्पन्न होवें तो पृथिव्यादि में कार्य के जडादि गुण ब्रह्म में भी होवें अर्थात् जैसे पृथिव्यादि जड़ है, वैसा ब्रह्म भी जड़ हो जाय।

३. जो मकड़ी का दृष्टान्त दिया है वह तुम्हारे मत का साधक नहीं किन्तु बाधक है; क्योंकि वह जड़ रूप शरीर तन्तु का उपादान और जीवात्मा निमित्त कारण है।[२] इस प्रकार ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता। यदि वेदान्ती कहें, कि ब्रह्म जगत् के रूप में परिणत नहीं होता अपितु ब्रह्म में जगत् की मिथ्या प्रतीति होती है।[३]

४. स्वामी दयानन्द जगत् को मिथ्या मानने का भी प्रबल युक्तियों से खण्डन करते हैं। जिसका निरूपण पहले किया जा चुका है।

'परमाणुवाद' के अनुसार स्थूल जगत् का सबसे छोटा भाग परमाणु है। उसके खण्ड नहीं होते। वही सबसे छोटा खण्ड होता है। उसके द्व्यणुक आदि के क्रम में सृष्टि बनती है। जिसकी प्रक्रिया का 'प्रशस्तपाद भाष्य' आदि वैशेषिक के ग्रन्थों में विशद वर्णन किया गया है।[४] सांख्य की दृष्टि में दृश्यमान जगत् का कारण 'प्रकृति' है, जो अव्यक्त या प्रधान कहलाती है। 'ऋषि दयानन्द' ने जो सृष्टि के उपादान कारण का वर्णन किया है, उसमें 'परमाणुवाद' और 'प्रकृतिवाद' दोनों का समन्वय दिखलायी देता है। यह अग्रिम विवेचन से स्पष्ट हो जायेगा।

स्वामी दयानन्द ने अनेकशः प्रकृति और परमाणु को जगत् का उपादान कारण बतलाया है, यथा—

---

१. कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः। वैशेषिक सूत्र २.१.२४। सत्यार्थ-प्रकाश— अष्टम समुल्लास पृ० २७५.

२. सत्यार्थप्रकाश— अष्टम समुल्लास पृ० २७६.

३. सत्यार्थप्रकाश— अष्टम समुल्लास पृ० ३८७.

४. प्रशस्तपादभाष्य (वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, बनारस १९६३) पृ० १२७ व २८१.

१. "परन्तु इसका उपादान कारण प्रकृति है।"

२. "उपादान कारण प्रकृति परमाणु जिसको सब संसार के बनाने की सामग्री कहते हैं।"

३. "प्रकृति और परमाणु कारण के स्थूल जगत् को बनाकर।"

४. "जो स्थूल होता है, वह प्रकृति और परमाणु जगत् का उपादान कारण है।"[१]

इस प्रकार देखा जा सकता है, कि स्वामी जी ने जगत् का 'उपादान कारण' 'प्रकृति' को माना है। उन्होंने 'नवीन वेदान्तियों' और अन्य अवैदिक मतों का खण्डन करते हुए षड्दर्शन से प्रभावित वेदानुकूल मत को ही स्वीकार किया है। स्वामी जी की दृष्टि यहाँ भी समन्वयात्मक है। 'न्याय-वैशेषिक' और 'सांख्य' के मतों का समन्वय करते हुए प्रकृति और परमाणु दोनों को सृष्टि का कारण बतलाया है। उनके विचार में परमाणुओं से सृष्टि की उत्पत्ति कही जाये या प्रकृति से, इससे कोई भेद नहीं है। केवल कहने मात्र का अन्तर है। परमाणु भी प्रकृति की एक अवस्था ही होते हैं। जब मूल कारण से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन होता है तब प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति बतलायी जाती है और जब परमाणुओं के संयोग से स्थूल जगत् की उत्पत्ति बतानी होती है तब परमाणु को जगत् का मूल कारण कहा जाता है। परमाणु प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। प्रकृति जगत् का मूल कारण है। प्रकृति के साक्षात् रूप से जगत् की उत्पत्ति न होकर क्रमानुसार महत्तत्त्व से लेकर पृथ्वी पर्यन्त परमाणुओं के संयोग से होती है। उन्होंने लिखा है, कि "अनादि नित्य स्वरूप सत्त्व, रजस् और तमोगुणों की एकावस्थारूप प्रकृति से उत्पन्न जो सूक्ष्म पृथक्-पृथक् वर्तमान तत्त्वावयव विद्यमान हैं। उन्हीं का प्रथम ही जो संयोग का आरम्भ है संयोग विशेषों से अवस्थान्तर - दूसरी अवस्था को सूक्ष्म से स्थूल-स्थूल बनाते बनाते विचित्र रूप बनी है इसी से यह संसर्ग होने से सृष्टि कहलाती है।"[२]

यहाँ स्वामी जी ने स्पष्टतः परमाणुओं को प्रकृति से उत्पन्न बतलाया है। एक अन्य स्थल पर भी सूक्ष्म से सूक्ष्म की ओर जाते हुए परमाणु से परे प्रकृति का नाम लिया है—"जैसे तुम और हम साकार अर्थात् शरीरधारी हैं इससे त्रसरेणु, अणु, परमाणु और प्रकृति को अपने वश में नहीं ला सकते हैं।"[३] इस प्रकार की व्याख्या 'सांख्य-योग'

१. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश— अष्टम समुल्लास पृ० २७०-२७८.
२. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश— अष्टम समुल्लास पृ० २८९.
३. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश— अष्टम समुल्लास पृ० २७८.

के प्रसिद्ध व्याख्याकार 'वाचस्पति मिश्र' एवं 'विज्ञान भिक्षु' के ग्रन्थों में भी दिखलायी देती है। सांख्यसूत्रकार भी अणुओं को नित्य नहीं मानते, उन्हें कार्य कहते हैं– नाणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः' (सांख्य-५.८७)। इस पर शंका की जा सकती है, कि यहाँ अणु और परमाणु में भेद करना चाहिए। 'न्याय-वैशेषिक' में परमाणु उसे कहा जाता है, जिसके आगे खण्ड नहीं होते– 'परं वा त्रुटेः' (न्यायसूत्र- ४.२.१७) और वह परमाणु नित्य ही होता है, किन्तु इस सन्दर्भ में यह ध्यान रखना होगा कि दयानन्द, 'परमाणुवाद' तथा 'प्रकृतिवाद' का समन्वय करते हैं और परमाणु की भी चरमावस्था 'प्रकृति' को मानते हैं।

स्वामी दयानन्द के अनुसार परमाणु के भी खण्ड हो सकते हैं,[१] इस तथ्य का उन्होंने 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' के हिन्दी अंश में स्पष्ट शब्दों में निर्देश किया है– "यद् द्रव्यं विभक्तम् अन्ते विभागानर्हं भवति तस्य परमाणु संज्ञा चेति व्यवहारः।" इसका रूपान्तर हिन्दी भाषा में करते हुए स्वामी जी कहते हैं। "और परमाणु उसको कहते हैं कि जिसका विभाग फिर कभी न हो सके। परन्तु यह बात केवल एकदेशी है; क्योंकि उसका भी ज्ञान से विभाग हो सकता है, जिसकी परिधि और व्यास बन सकता है। उसका भी टुकड़ा हो सकता है। यहाँ तक कि जब पर्यन्त वह एक रस न हो जाये तब पर्यन्त ज्ञान से बराबर कटता ही चला जायेगा।"[२]

इस कथन से यह स्पष्ट है कि–

१. परमाणु का ज्ञान से विभाग हो सकता है।

२. परमाणु में परिधि और व्यास भी होता है। आज की विज्ञान की खोजों से इन तथ्यों का साम्य देखा जा सकता है। परमाणु का विघटन जो भौतिकशास्त्र की एक अद्भुत देन है उसका संकेत यहाँ मिलता है।

३. तीसरी बात यहाँ यह भी उल्लेखनीय है, कि परमाणुओं के टूटते-टूटते कोई एक रस होने की अवस्था हो जाती है वह परमाणुओं का परम करण है। उसे ही सांख्य में 'प्रकृति' कहा गया है। यह प्रकृति जगत् का उपादान कारण है।

इस प्रकार देखा जा सकता है, कि स्वामी जी का चिन्तन वेदानुकूल एवं यथार्थ पर आधारित है। परमाणुवाद का सिद्धान्त उन्होंने वैशेषिक दर्शन से ग्रहण किया है, जो

---

१. इस विषय में विद्वानों का वैमत्य है, द्रष्टव्य- ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका (रामलाल कपूर ट्रस्ट १९६७) पृ० ६२, टि०-२,

२. द्र० ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, वेदविषय, पृ० ३२५.

सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के स्वरूप को ठीक-ठीक व्यक्त करने में समर्थ है'' और प्रकृति जगत् का उपादान कारण है यह मत तो उन्होंने 'वेदान्तियों' 'बौद्धों' और नास्तिक मतों का खण्डन करते हुए, आस्तिक षड्दर्शनों के अनुकूल ही सिद्ध किया है। यह आधुनिक विज्ञान से भी पूर्णतया मेल खाता है। अब आगे प्रकृति के स्वरूप पर विचार किया जाता है।

प्रकृति का स्वरूप-'प्रकृति के स्वरूप' के विषय में ऋषि ने अनेक तथ्य प्रकट किये हैं, जैसा कि अभी ऊपर दिखलाया गया है सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था का नाम 'प्रकृति' है। अन्य स्थल पर भी 'सांख्य सूत्र' उद्धृत करते हुए कहा गया है, कि —''सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था परकृतिः।''[१] यद्यपि सामान्य रूप से यह कहा जाता है, कि सत्त्व, रजस् और तमस् तीन गुण हैं, जिनकी साम्यावस्था प्रकृति है, तथापि सत्त्व आदि 'न्याय-वैशेषिक' की परिभाषा की भाषा में ही कहना अभीष्ट हो तो इन्हें गुण की अपेक्षा 'द्रव्य' शब्द से कहना अधिक उपयुक्त होगा। संभवतः इसीलिए उपर्युक्त 'सांख्य सूत्र' का अर्थ करते हुए स्वामी जी ने लिखा है– ''(सत्त्व) शुद्ध (रजः) मध्य (तमः) जाड्य अर्थात् जड़ता तीन वस्तु मिलकर जो एक संघात है उसका नाम 'प्रकृति' है।''[२]इस पर प्रश्न हो सकता है, कि सांख्य की दृष्टि से तो प्रकृति निरवयव है फिर उसे तीन वस्तुओं का संघात कैसे कहा जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर ऊपर की पंक्तियों में भी विद्यमान है। स्वामी जी ने 'सत्यार्थ-प्रकाश' में एक अन्य स्थल पर भी प्रकृति को सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों की एकावस्था कहा है।''[३] और 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' में भी एक रसावस्था''[४] भाव यह है, कि उस अवस्था में सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुण एक रस हो जाते हैं, अतः अवयव के समान नहीं होते, प्रकृति निरवयवा ही होती है।

यह प्रकृति सत् है- सत्य है। इसकी वास्तविक सत्ता है। 'वेदान्त'की 'माया' के समान 'अविद्याकल्पित' नहीं। कार्य को देखकर इसका अनुमान किया जाता है—''तेजो रूप कार्य से सद्रूप कारण जो नित्य प्रकृति है उसको जान। यही सत्य स्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूलाधार और स्थिति का स्थान है।'' [५] यह प्रकृति अनादि और नित्य है।

---

१. द्र० सांख्यसूत्र १.६२.
२. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश— अष्टम समुल्लास पृ० २७२.
३. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश— अष्टम समुल्लास पृ० २८९.
४. द्र० ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, वेदविष य, पृ० ३२५
५. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश— अष्टम समुल्लास पृ० २७३.

प्रश्न–क्या प्रकृति परमेश्वर ने उत्पन्न नहीं की?

उत्तर–नहीं, वह अनादि है।[१] ''अजामेकाम्०'' इत्यादि 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में उसे 'अजा' कहा गया है। इसका कोई कारण नहीं। यह प्रकृति केवल कारणरूप है, जो केवल कारणरूप ही है, वे कार्य किसी के नहीं होते।''[२]

सांख्यसूत्र[३] को उद्धृत करते हुए स्वामी जी कहते हैं कि–''मूल का मूल अर्थात् कारण का कारण नहीं होता। इससे कारण सब कार्यों का कारण होता।''[४]

किन्तु यदि प्रकृति नित्य है, तो स्वामी जी के इस प्रकार के कथनों की संगति कैसे लगेगी? 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' में 'नासदासीन्नोसदासीत्' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या करते हुए स्वामी जी ने लिखा– ''तस्मिन् काले सत् प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं सत्संज्ञकं यज्जगत् कारणं तदपि नो आसीत् = नावर्तत– उस काल में (सत्) अर्थात् सतोगुण और तमोगुण मिला के जो प्रधान कहलाता है, वह भी नहीं था।'' और ''किन्तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव-सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमकारणसंज्ञकमेव तदानीं समवर्तत।''[५]– किन्तु इस समस्त जगत् का परम कारण है, उस समय था, जिसे परब्रह्म का सामर्थ्य कहते हैं।

वस्तुतः यहाँ कोई विरोध नहीं है। इस कथन का भाव यह है कि प्रलय काल में समस्त सृष्टि इन सबका आदिकारण जो परब्रह्म का सामर्थ्य है, उसी में विलीन हो जाती है– ''प्रलयावसरे सर्वस्यादिकारणे परब्रह्मसामर्थ्ये प्रलीना च भवति।''[६] परमेश्वर के सामर्थ्य में लीन होने का अभिप्राय क्या है? यह स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में नवीन वेदान्ती के मत का निराकरण करते हुए कहा है– ''प्रलय के आरम्भ से जब तक दूसरी बार सृष्टि न होगी, तब तक भी जगत् का कारण सूक्ष्म होकर अप्रसिद्ध रहता है।''[७] 'मनुस्मृति का उद्धरण देते हुए भी उन्होंने इस भाव को स्पष्ट किया है। यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म व्यापक है, सृष्टि से पूर्व ब्रह्म उन्हें अपने में समेटे रहता है। वे ब्रह्म के सामर्थ्यरूप होते हैं, पृथक् रूप में लक्षणीय नहीं होते, किन्तु

---

१. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश– अष्टम समुल्लास पृ० २७०.
२. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश– अष्टम समुल्लास पृ० २७०.
३. मूले मूलाभावादमूलं मूलम्– सांख्यसूत्र १.६, पृ० २८०
४. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश– अष्टम समुल्लास पृ० २८१.
५. द्र० ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, सृष्टि विद्या, पृ० ४०१-४०२,
६. द्र० ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, सृष्टि विद्या, पृ० ४०२,
७. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश– अष्टम समुल्लास पृ० २६.

विद्यमान तो होते ही हैं। अत: प्रकृति अनादि और नित्य है, इसमें सन्देह नहीं।'

फिर भी प्रकृति की नित्यता और जीव की नित्यता में अन्तर है। प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति होती है। वह जगत् का उपादान कारण है और जैसे ऊपर कहा गया है– ''उपादान कारण उसको कहते हैं, जिसके बिना कुछ न बने, वही अवस्थान्तर रूप होके बने और बिगड़े भी।''[१] अत: प्रकृति की ही एक अवस्था यह जगत् है या सृष्टि है और प्रकृति परिणामिनी है, इसमें 'परिणाम' या 'विकार' अथवा 'परिवर्तन' हुआ करता है। स्वामी जी ने प्रकृति से महत्तत्त्व आदि की उत्पत्ति दिखलाते हुए, जो प्रकृति को अविकारिणी कहा है, उसका अभिप्राय यह नहीं है, कि प्रकृति के विकार होते हैं किन्तु प्रकृति किसी का विकार या परिणाम नहीं है। यह तो कारणों का कारण है, मूल कारण है। वहाँ सन्दर्भ के अनुसार यही अर्थ संगत है। अन्य स्थलों पर उन्होंने प्रकृति को स्पष्ट शब्दों में परिणामिनी कहा है–''प्रकृति परिणामिनी होने से अवस्थान्तर हो जाती है।''[२]

यह प्रकृति अपने कार्य महत्तत्त्व आदि की अपेक्षा सूक्ष्म है, किन्तु परमात्मा की अपेक्षा स्थूल है। स्वामी जी ने कहा है कि– जब वह (परमेश्वर) प्रकृति से भी सूक्ष्म और उनमें व्यापक है, तभी उनको पकड़कर जगदाकार कर देता है और जो स्थूल होता है, वह प्रकृति और परमाणु जगत् का उपादान कारण है और वे सर्वथा निराकार नहीं किन्तु परमेश्वर से स्थूल और अन्य कार्य से सूक्ष्म आकार रखते हैं।''[३]

इस प्रकार यह सत्य है, कि स्वामी जी ने 'सांख्य-दर्शन' को आधार बनाकर सत्त्व, रजस् और तमस् रूप साम्यावस्था को 'प्रकृति' माना है। साथ ही 'न्याय-वैशेषिक' के 'असत्' और 'सांख्य' के 'सत्' स्वरूप को भी बहुत ही उचित रूप में प्रस्तुत किया है। प्रसन्नता की बात यह है, कि 'शून्यवादी बौद्धों' और 'नवीन वेदान्तियों' के भ्रमपूर्ण तर्कों का विधिवत् खण्डन करते हुए प्रकृति को 'अनादि' और 'परिणामी' अर्थात् 'परिवर्तनशील' सिद्ध किया है।

प्रकृति के सम्बन्ध में अब यह प्रश्न विचारणीय रह जाता है, कि सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय किस प्रकार से होते है? इसके समाधान के लिए स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का अवलोकन उनके ग्रन्थों विशेषत: 'सत्यार्थ-प्रकाश' और

---

१. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश– अष्टम स ामुल्लास पृ० २७४.
२. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश– सप्तम समुल्लास पृ० २४४.
३. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश– अष्टम समुल्लास पृ० २७९.

'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में किया जा सकता है। यदि चार बातों पर विधिवत् रूप से विचार कर लिया जाये तो इस प्रश्न का समाधान भली प्रकार से हो जाता है। वे चार विचारणीय बातें निम्नवत् हैं—

१. यह जगत् प्रवाह से नित्य है।

२. इसका कर्ता ईश्वर है।

३. सृष्टि-विकास में वेदादि शास्त्रों का विरोध नहीं।

४. सृष्टि-क्रम में प्रलय का स्वरूप

१. जगत् प्रवाह से नित्य है-जगत् के नित्य और अनित्य मानने में आस्तिक और नास्तिक प्रायः सभी दर्शनों ने विचार किया है। इन दर्शनों में मतों को लेकर उनकी आलोचना करते हुए इस सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। 'न्याय-सूत्रों' में किन्हीं प्रचलित प्रवाहों का खण्डन करते हुए- "सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात्' (४.१) उक्त सूत्र भी दिया गया है। इस सूत्र को उद्धृत करते हुए महर्षि दयानन्द कहते हैं कि —"छठा नास्तिक कहता है, कि पाँच भूतों के नित्य होने से सब जगत् नित्य हैं," इसके उत्तर में स्वामी जी कहते हैं कि— "जिन पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश का कारण देखने में आता है, वे नित्य नहीं हो सकते। इस स्थूल जगत् के पदार्थों को भी हम उत्पन्न होते तथा नष्ट होते देखते हैं, अतः यह जगत् मिथ्या नहीं हो सकता।"[१] पूर्वपक्षी यह भी प्रश्न करता है कि— "आदिकाल से यह (जगत्) जैसा था, वैसा बना है। न कभी इसकी उत्पत्ति हुई और न कभी विनाश होगा।" इसके सम्बन्ध में स्वामी जी ने निम्न युक्तियाँ दी हैं—

१. जिन पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग विशेष से रचना दीखती है, वे अनादि कभी नहीं हो सकते।

२. जो संयोग से बनता है, वह संयोग के पूर्व नहीं होता और वियोग के अन्त में नहीं रहता।

३. कठिन से कठिन पाषाण हीरा और फौलाद आदि तोड़ टुकड़े कर गला और भस्म कर देखो कि इनमें परमाणु पृथक्-पृथक् मिले हैं वा नहीं, जो मिले हैं, तो वे समय पाकर अलग-अलग भी अवश्य होते हैं।"[२] इसी प्रकार जैन-दर्शन में जगत् को अनादि सिद्ध करने के लिए जो युक्तियाँ दी गयी हैं, उनका निराकरण करते हुए स्वामी

१. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश— अष्टम समुल्लास पृ० २८३.

२. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश— अष्टम समुल्लास पृ० २८४.

जी ने कहा है कि– "जिसमें संयोग रचना दीखती है, वह स्थूल जगत् अनादि कभी नहीं हो सकता। वहाँ कार्य जगत् को नित्य मानने में अन्योन्याश्रय और आत्माश्रय दोष भी दिखलाया है।"[१]

इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय हुआ करता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है, कि कभी सृष्टि का आरम्भ हुआ होगा, उससे पूर्व सृष्टि कभी नहीं थी या कोई समय ऐसा आ जायेगा कि प्रलय होने के पश्चात् सृष्टि कभी न होगी। वस्तुतः वेदानुयायी प्रायः सभी दार्शनिक प्रस्थानों ने सृष्टि और प्रलय की परम्परा को अनादि माना है। महर्षि दयानन्द यह कहते हैं कि– "तेषां कर्माणि, सर्वं कार्यं जगच्च प्रवाहेणैवानादीनि सन्ति।"[२] — उन जीवों के कर्म और समस्त कार्य जगत् प्रवाह से ही अनादि हैं। इसको विस्तारपूर्वक स्पष्ट करते हुए स्वामी जी 'सत्यार्थ-प्रकाश' में लिखते हैं कि– "जैसे दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन बराबर चला आता है इसी प्रकार सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि तथा सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के आगे सृष्टि अनादि काल से चक्र चला आता है। इसका आदि वा अन्त नहीं। किन्तु जैसे दिन वा रात का आरम्भ और अन्त देखने में आता है, उसी प्रकार सृष्टि और प्रलय का आदि और अन्त होता रहता है।"[३] इससे आगे वे नदी के प्रवाह के दृष्टान्त में 'प्रवाह' को स्पष्ट करते हैं, और बतलाते हैं, कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रवाह से अनादि हैं।[४]

इस प्रकार यहाँ जगत् की प्रवाह से नित्यता का प्रतिपादन किया गया और सृष्टि के पूर्व प्रलय तथा प्रलय के पश्चात् सृष्टि के अनादि चक्र का वर्णन करते हुए यह सिद्ध किया गया कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रवाह से अनादि हैं। प्रलय में जगत् कारण रूप में बना रहता है और ईश्वर के सामर्थ्य से पुनः उसी से उत्पन्न हो जाता है।

२. जगत् का कर्ता ईश्वर है– 'जगत् का कर्ता कौन है? इस पर विविध भारतीय दर्शनों में पृथक् -पृथक् विचार व्यक्त किये गए हैं। स्वामी जी ने वेदमन्त्रों विशेषतः 'पुरुष-सूक्त' और 'अथर्ववेद' के कुछ मन्त्रों और उपनिषदों के वाक्यों के अनुसार

---

१. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश– द्वादश समुल्लास पृ० ५८४.
२. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, वेदोत्पत्ति, पृ० २७९
३. सत्यार्थ-प्रकाश– अष्टम समुल्लास पृ० २९२-२९३
४. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, सृष्टिविद्या; पृ० ४०३

सृष्टि की रचना और जगत् के कर्ता का विवेचन किया है। प्रश्नोत्तरों के रूप में उन्होंने प्रसंगवश आस्तिक और नास्तिक दर्शनों के मतों का यथास्थान खण्डन और मण्डन भी किया है।

स्वामी जी ने 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' में परमपुरुष के द्वारा समस्त सृष्टि की उत्पत्ति का विशद वर्णन किया है। संक्षेप में उसी पुरुष से यह ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है, जिसके सूर्य, चन्द्रमा, नेत्र स्थायी स्वामी हैं, वायु जिसका प्राण और पृथिवी जिसका पग है। चारों वेद, मनुष्य, पशु, वृक्ष आदि सब उसी के सामर्थ्य से उत्पन्न होते हैं। "पुरुषसूक्त" में सृष्टि की उत्पत्ति का आलङ्कारिक वर्णन विविध कल्पनाओं द्वारा किया गया है।"[१] 'पुरुषसूक्त के अतिरिक्त अन्यत्र भी सृष्टि-विषय में बहुत मन्त्र हैं।"[२] 'यत्परमम्०' इत्यादि 'अथर्ववेद' (१०.४.७.८) का मन्त्र उद्धृत करते हुए उपसंहार रूप में कहा गया है— "जो अत्यन्त उत्कृष्ट प्रकृत्यादिक जगत् है, जो तृण मृत्तिका आदि और क्षुद्र कृमि-कीट आदि निकृष्ट जगत् है तथा, जो मनुष्य देह आदि से लेकर आकाश पर्यन्त मध्यम जगत् है उस तीन प्रकार के समस्त जगत् को प्रजापति ने ही अपने सामर्थ्य रूप कारण से रचा है"।[३]

'सत्यार्थ-प्रकाश' में 'छान्दोग्योपनिषद्' (३.१.४.१) के "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" इस कथन की व्याख्या करते हुए कहा है कि—"हे जीव तू ब्रह्म की उपासना कर जिस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और जीवन होता है।" ४

इस जगत् का कर्ता ब्रह्म या परमेश्वर है। इस मान्यता के विरुद्ध बहुत सी युक्तियाँ 'बौद्ध' 'जैन' ग्रन्थों में दी गयी हैं। इन युक्तियों का 'सत्यार्थ-प्रकाश' में निराकरण किया गया है।[५] वहाँ 'आस्तिक' और 'नास्तिक' का 'संवाद' इस शीर्षक में (जो प्रकरण रत्नाकर नामक जैन ग्रन्थ के आधार पर लिखा गया है) ईश्वर विषयक अनेक आक्षेपों का उत्तर दिया गया है। प्रबन्ध के विस्तार के भय से यहाँ उनका विवेचन कर पाना संभव नहीं है। उनमें से कुछ युक्तियाँ इस प्रकार हैं—

नास्तिक— जो ईश्वर की रचना की सृष्टि होती तो माता-पिता आदि का क्या काम?

---

१. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, सृष्टिविद्या; पृ० ४ ०९-४२३
२. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, सृष्टिविद्या; पृ० ४२७
३. वही, (संस्कृत भाग), सृष्टिविद्या; पृ० ४२७
४. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश— अष्टम समुल्लास पृ० २७३.
५. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश—द्वादश समुल्लास पृ० ५७६, ५८४.

(आस्तिक)—ऐश्वरी सृष्टि का कर्ता ईश्वर है जैनी सृष्टि का नहीं। जो जीवों के कर्त्तव्य कर्म हैं उनको ईश्वर नहीं करता, किन्तु जीव ही करता है। जैसे—वृक्ष, फल औषधि अन्नादि ईश्वर ने उत्पन्न किया है उसको लेकर मनुष्य न पीसे, न कूटे, न रोटी आदि पदार्थ बनावें और न खावें तो क्या ईश्वर उसके बदले इन कामों को भी करेगा? और जो न करे तो जीव का जीवन भी न हो सके। इसलिए आदि सृष्टि में जीव के शरीरों और साँचे को बनाना ईश्वराधीन, पश्चात् उनसे पुत्रादि की उत्पत्ति करना जीव का कर्त्तव्य काम है।"[१]

नास्तिक— हे मूढ़ जगत् का कर्ता कोई नहीं, किन्तु जगत् स्वयं सिद्ध है?

आस्तिक— भला बिना कर्ता के कोई कर्म, कर्म के बिना कोई कार्य जगत् में होता दीखता है—तब ऐसा नहीं तो ईश्वर कर्ता के बिना यह विविध जगत् और नाना प्रकार की रचना-विशेष कैसे बन सकती है?"[२]

कुछ विद्वानों ने जगत् को अनादि और अनन्त मानकर इसका कोई कर्ता स्वीकार नहीं किया। स्वामी जी ने जगत् के सृष्टि-प्रलय माने हैं। इसे अनादि नहीं माना, यह ऊपर लिखा जा चुका है। 'सत्यार्थ-प्रकाश' में कई स्थालों पर इसका निरूपण किया गया है।[३]

'सृष्टि का कोई कर्ता है', यह स्वीकार करने में अन्य भी आपत्तियां की गयी हैं जिनमें से मुख्य—स्वभाववाद अर्थात् स्वभाव से ही जगत् की उत्पत्ति हो जाती है। इसके लिए किसी कर्ता की आवश्यकता नहीं है। स्वामी जी ने इस मत का अनेक युक्तियों द्वारा खण्डन किया है।

१. जो स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति होवे तो विनाश कभी न आवे और जो विनाश भी स्वभाव से मानों तो उत्पत्ति न होगी और जो दोनों स्वभाव युगपत् द्रव्यों में मानोगे, तो उत्पत्ति और विनाश की व्यवस्था कभी न हो सकेगी।

२. जो स्वभाव से ही उत्पत्ति और विनाश होता तो एक समय ही में उत्पत्ति और विनाश का होना संभव नहीं।

३. प्रकृति परमाणु को ज्ञान और युक्ति से परमेश्वर के मिलाये बिना जड़ पदार्थ स्वयं कुछ भी कार्य सिद्धि के लिए विशेष पदार्थ नहीं बन सकते। इसलिए स्वभावादि से

---

१. द्र० सत्यार्थप्रकाश, द्वादश समुल्लास पृ० ५७५,

२. वही, पृ० ५७७

३. वही, अष्टम समुल्लास पृ० २८२, तथा द्वादश समुल्लास पृ० ५७८, ५८४.

सृष्टि नहीं होती।[१] इसी प्रकार 'चार्वाक्' के मत की समीक्षा करते हुए भी 'स्वभाववाद' का निराकरण किया गया है।[२]

प्रकृति या परमाणुओं से स्वतः ही समयानुसार सभी कार्य हो जाया करते हैं, कोई इनका कर्ता नहीं है, इस धारणा का खण्डन करने के लिए महर्षि दयानन्द अनेक युक्तियाँ देते हैं, जैसे[३]—

१. परमाणु आदि में नियमपूर्वक बनने बिगड़ने का सामर्थ्य नहीं है।

२. परमाणु पृथक्-पृथक् हैं और वे जड़ हैं वे अपने आप (नियम) से नहीं मिल सकते, इसलिए जगत् को बनाने वाला चैतन्य अवश्य है।

३. पृथिवी सूर्यादि सब लोकों को नियम में रखना अनन्त चेतन परमात्मा का काम है।

कुछ जनों का विश्वास है, कि दो या अधिक पदार्थों के संयोग या मिश्रण से स्वतः ही तीसरा पदार्थ उत्पन्न हो जाया करता है, जैसे— पानी अन्न एकत्र हो, सड़ने से कृमि उत्पन्न होते हैं— हल्दी, चूना और नीम्बू के रस मिलाने से रोरी बन जाती है।[४] इस प्रकार के विचार को 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' के नाम से पुकारा जाता है। इस विश्वास का निराकरण करते हुए स्वामी जी कहते हैं—

१. कहीं-कहीं जड़ के निमित्त से जड़ भी बन और बिगड़ भी जाता है जैसे परमेश्वर के रचित बीज पृथ्वी में गिरने और जल पान से वृक्षाकार हो जाते हैं और अग्नि आदि जड़ के संयोग से बिगड़ भी जाते हैं। परन्तु इनका नियमपूर्वक बनना व बिगड़ना परमेश्वर और जीव के अधीन है।

२. जिस जिस के योग से जो जो उत्पन्न होता है वह वह ईश्वर के उत्पन्न किये हुए बीज अन्न जल आदि के संयोग से घास, वृक्ष और कृमि आदि उत्पन्न होते हैं। बिना उनके नहीं।

३. हल्दी, चूना और नीम्बू का रस दूर-दूर देश से आकर आप नहीं मिलते, किसी के मिलाने से मिलते हैं उसमें भी यथा योग्य मिलाने से रोरी होती है, अधिक, न्यून वा अन्यथा करने से रोरी नहीं होती।'[५]

---

१. सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास पृ० २८५
२. वही, द्वादश समुल्लास पृ० ५५२
३. वही, द्वादश समुल्लास पृ० ५८४.
४. वही, अष्टम समुल्लास पृ० २८४
५. वही, अष्टम समुल्लास पृ० २७४

इस प्रकार स्वभाव, काल या दो अधिक पदार्थों के परस्पर संयोग से सृष्टि स्वतः नहीं बन सकती। इसका बनाने वाला कोई चेतन है, यह मानना ही होगा।

स्वामी जी ने विस्तार पूर्वक यह भी विवेचन किया है, कि जीव अल्पज्ञ है और अल्पशक्ति वाला है: वह सृष्टि की रचना नहीं कर सकता। इसलिए ईश्वर ही सृष्टि कर्ता है। उनके इस मन्तव्य का उपसंहार उनके शब्दों में ही इस प्रकार किया जा सकता है— ''जगत् बनाने का जीव में सामर्थ्य नहीं और जड़ में स्वयं बनने का भी सामर्थ्य नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा ही जगत् को बनाता है।''[१]

३. सृष्टि-विषय में वेदादि शास्त्रों का विरोध नहीं– प्रश्न हो सकता है, कि वेदादि— शास्त्रों में सृष्टि के कारणों [२] तथा सृष्टि के क्रम का भिन्न-भिन्न प्रकार से निरूपण किया गया है, फिर भी उनमें विरोध क्यों नहीं आता, उदाहरणार्थ— 'तैत्तिरीय उपनिषद्' (ब्रह्मानन्द वल्ली) में आकाशादि क्रम से और 'छान्दोग्य' में अग्न्यादि, 'ऐतरेय' में जल आदि क्रम से सृष्टि हुई (ऐसा कहा है), वेदों में कहीं, 'पुरुष',कहीं 'हिरण्यगर्भ' आदि से 'मीमांसा' में 'कर्म' 'वैशेषिक' में 'काल', 'न्याय' में 'परमाणु'योग में 'पुरुषार्थ', 'सांख्य' में 'प्रकृति' और 'वेदान्त' में 'ब्रह्म' से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है।[३]

महर्षि दयानन्द ने तीनों स्थलों पर दिखलाये गये विरोध का निराकरण किया है। उनके कथन का सारांश यह है— विरोध उसको कहते हैं कि एक कार्य में एक ही विषय पर विरुद्धवाद होवें। यहाँ उपनिषदों में जो अलग-अलग प्रकार की सृष्टि का क्रम कहा गया है उसमें विषय का भेद हैं। प्रलय दो प्रकार का होता है— महाप्रलय और अवान्तर प्रलय। जहाँ महाप्रलय के पश्चात् सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, वहाँ आकाशादि के क्रम से, जहाँ ऐसे अवान्तर प्रलय के बाद सृष्टि का कथन किया गया है, जिसमें आकाश और वायु का प्रलय नहीं होता वहाँ अग्नि आदि के क्रम से। इसी प्रकार जहाँ उस प्रलय के बाद सृष्टि का वर्णन है। जिसमें अग्नि का नाश नहीं होता वहाँ जल आदि के क्रम से सृष्टि कही गयी है।

इस प्रकार उपनिषदों के इस वर्णन में परस्पर विरोध नहीं।[४] वेदों में भी जो कहीं

१. सत्यार्थ-प्रकाश, अष्टम समुल्लास पृ० २८५
२. वही, द्वादश समुल्लास पृ० ५७५
३. वही, अष्टम समुल्लास पृ० २८७
४. वही, पृ० २८७-२८८

'पुरुष' से और कहीं 'हिरण्यगर्भ' आदि से सृष्टि की उत्पत्ति बतलायी गई है। उसमें भी कोई विरोध नहीं। स्वामी जी ने 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' के 'सृष्टि-विद्या-प्रकरण' में स्पष्ट रूप से दिखलाया है।[१] ऐसे सभी स्थलों में एक परमेश्वर से ही सृष्टि की उत्पत्ति कही गयी है किंच, उन्होंने 'सत्यार्थ-प्रकाश' के प्रथम समुल्लास में यह भी स्पष्ट किया है, कि 'हिरण्यगर्भ' और 'पुरुष' आदि एक ही परमेश्वर के नाम हैं।

सृष्टि-विषय में शास्त्रों का अविरोध दिखलाते हुए स्वामी जी कहते हैं कि—सृष्टि का जो 'कर्म' कारण है उसकी व्याख्या 'मीमांसा' में 'समय' की व्याख्या 'वैशेषिक' में 'उपादान कारण' की व्याख्या, 'न्याय' में 'पुरुषार्थ' की व्याख्या, 'योग' में 'तत्त्वों के अनुक्रम से परिगणन की व्याख्या' 'सांख्य' में और 'निमित्तकारण' जो परमेश्वर है, उनकी व्याख्या 'वेदान्त शास्त्र' में है। इसमें कुछ भी विरोध नहीं।[२]

इस प्रकार अन्य स्थल पर छहों दर्शनों का सृष्टिक्रम में विरोध नहीं, यह दिखलाया गया है।[३] 'अद्वैतवेदान्त' जो 'ब्रह्म' को 'अभिन्ननिमित्तोपादान' मानता है। उसका निराकरण स्वामी जी के अनुसार ऊपर किया जा चुका है। जो यह विचार है, कि किन्हीं वैदिक दर्शनों में भी ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं माना गया इसका विवेचन ईश्वर के सन्दर्भ में किया जायेगा। स्वामी जी के मत में षण्टों का कहीं भी विरोध नहीं है। वे इन दर्शनों के मन्तव्यों का समन्वय करते हैं। दर्शनों का समन्वय विद्वानों के शोध का विषय हो सकता है।

४. सृष्टि-क्रम और प्रलय– सृष्टि क्या है? यह बतलाते हुए दयानन्द ने एक अवतरण प्रस्तुत करके कहा है[४]— "अनादि नित्य स्वरूप सत्त्व, रजस् और तमोगुण की एकावस्था रूप प्रकृति से उत्पन्न जो परम सूक्ष्म पृथक्-पृथक् वर्तमान तत्त्वायव विद्यमान है उन्हीं का प्रथम ही जो संयोग का आरम्भ है, संयोग विशेषों से अवस्थान्तर दूसरी-दूसरी अवस्था को सूक्ष्म से स्थूल बनाते-बनाते विचित्र रूप बनी है। इसी से यह संसर्ग होने से सृष्टि कहलाती है।"[५]

इस कथन में तीन बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं— १. प्रकृति से परमाणु की उत्पत्ति होती है, वे परमाणु तत्त्व (पृथ्वी आदि) के अवयव हैं। पृथक्-पृथक् रहते हैं।

---

१. द्र० ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्या, पृ० ४०१ तथा आगे
२. द्र० सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास पृ० ९३
३. द्र० सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास पृ० २८८
४. नित्यायाः सृष्टिरुच्यते। सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास पृ० २८९
५. सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास पृ० २८९

२. परमाणु के संयोग से प्रथमतः कोई तत्त्व बनता है। ३. फिर संयोग विशेष से ज्ञान से स्थूल, स्थूलतर और स्थूलतम भी बनता जाता है। इस सन्दर्भ में स्पष्ट है, कि 'ऋषि दयानन्द' का सृष्टि क्रम के विषय में 'सांख्य-योग' तथा 'न्याय-वैशेषिक' आदि के मतों का समन्वय करना अभीष्ट है।

'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' में कहा गया है, कि "परमेश्वर इस दृश्यमान जगत् को रचकर पालन करके प्रलय के समय संहार कर देता है और इसी प्रकार बार-बार किया करता है।"[१] अतः यह विचारणीय है कि जो बार-बार सृष्टि होती है, उसका क्रम क्या है? सृष्टि-क्रम के विषय में सांख्य-सूत्र[२] उद्धृत करते हुए कहते हैं– "उससे (प्रकृति से) महत्तम, बुद्धि, उससे अहंकार उससे पाँच तन्मात्रा, सूक्ष्मभूत और दश इन्द्रियाँ तथा ग्यारहवाँ मन, पाँच तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पाँच भूत (होते हैं)।"[३]

यहाँ तन्मात्राओं को 'सूक्ष्मभूत' शब्द से कहा गया है उनसे ही पृथिवी आदि स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है। स्थूलभूतों की उत्पत्ति के विषय में दयानन्द कहते हैं– "उस परमेश्वर पुरुष ने पृथिवी की उत्पत्ति के लिए जल से सारांश रस को ग्रहण करके पृथिवी और अग्नि के परमाणुओं को मिला के पृथिवी रची है। इसी प्रकार अग्नि के परमाणु के साथ जल के परमाणु को मिला के जल को, वायु के परमाणुओं के साथ अग्नि के परमाणुओं को मिला के अग्नि को और वायु के परमाणुओं में रचा है। वैसे ही अपने सामर्थ्य से आकाश को भी रचा है।"[४] यहाँ वेदमन्त्र की व्याख्या के प्रसंग से पंचभूतों की उत्पत्ति दिखलायी गयी है। यह क्रम विवक्षित नहीं है।

स्थूल भूतों की उत्पत्ति का क्रम प्रायः 'न्याय-वैशेषिक' जैसा ही स्वीकार किया गया है। जैसा कि 'तैत्तिरीय उपनिषद्' के आधार पर कहा गया है–"आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी।"[५] इस सन्दर्भ में तैत्तिरीय उपनिषद् में– "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतम्" उससे आकाश उत्पन्न हुआ, यहभी कहा गया है। शंका हो सकती है, कि आकाश की

---

१. यदिदं सकलं जगद् दृश्यते, तत् परमेश्वरेणैव सम्यग्रचयित्वा संरक्ष्य प्रलयावसरे वियोज्य च विनाश्यते, पुनः पुनरेवमेव सदा क्रियते। ऋग्वेदादिसृष्टिविद्या०। पृ० ४०१.

२. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गुणः। सांख्यसूत्र १.६१

३. द्र० सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास पृ० २७२

४. द्र० ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका-सृष्टिविद्या ; पृ० ४०२

५. द्र० सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास पृ० २८७

तो उत्पत्ति नहीं होती, 'न्याय-वैशेषिक' आदि में मानी भी नहीं गयी। इसका समाधान करते हुए महर्षि दयानन्द कहते हैं कि – "उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश-अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था, उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न सा होता है। वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती।[१]

दयानन्द ने स्थूलभूतों की उत्पत्ति के विषय में एक स्थान पर यह भी कहा है, कि– "सबसे सूक्ष्म टुकड़ा अर्थात् जो काटा नहीं जा सकता, उसका नाम 'परमाणु' है, साठ परमाणुओं के मिले हुए का नाम अणु, दो अणु का एक द्व्यणुक जो स्थूल वायु है, तीन द्व्यणुक का अग्नि, चार द्व्यणुक का जल, पाँच द्व्यणुक् की पृथिवी अर्थात् तीन द्व्यणुक का त्रसरेणु और उससे दूना होने से पृथ्वी आदि दृश्य पदार्थ होते हैं।"[२] इस कथन की विशद व्याख्या अपेक्षणीय है।

स्थूल भूतों की उत्पत्ति के पश्चात् 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका'।[३] तथा 'सत्यार्थ-प्रकाश'[४] में भी भूगोल की उत्पत्ति, लोक-लोकान्तरों की उत्पत्ति, उनकी धारण-प्रक्रिया, पृथिव्यादि लोकों का भ्रमण, चन्द्रमा तथा सूर्य का प्रकाश्य-प्रकाशक भाव आदि का वर्णन किया गया है। इन सन्दर्भों में दयानन्द की कतिपय नवीन उद्भावनाए भी हैं, जैसे– "सब लोकों के साथ सूर्य का आकर्षण और सूर्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण है।"[५] इसी प्रकार सूर्य आदि लोकों में भी मनुष्यादि की स्थिति है।"[६] इस प्रकार के मन्तव्यों की तथ्यता पर वैज्ञानिक खोजों से ही निर्णय किया जा सकता है।

भूगोल आदि की उत्पत्ति दिखलाकर 'पुरुष-सूक्त' के आधार पर मनुष्य तथा पशु आदि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए ब्राह्मणादि वर्णों की उत्पत्ति दिखलायी गयी है।[७] इस सन्दर्भ में 'सत्यार्थ-प्रकाश' में कहा गया है कि– "उन (स्थूलभूतों) से नाना प्रकार की औषधियाँ, वृक्ष आदि, उनसे अन्न, अन्य से वीर्य और वीर्य से शरीर होता

---

१. द्र० सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास पृ० २८७
२. द्र० सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास पृ० २९७-२९८
३. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, सृष्टिविद्या, लोकभ्रमण, आकर्षणानुकर्षण, प्रकाश्यप्रकाशक-विषय इत्यादि।
४. द्र० सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास
५. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, आकर्षमानुकर्षण पृ० ४३२,
६. द्र० सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास पृ० ३०२
७. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, सृष्टिविद्य ।, पृ० ४१३.

है। परन्तु आदि सृष्टि मैथुनी नहीं होती; क्योंकि जब स्त्री पुरुषों के शरीर परमात्मा बनाकर उनमें जीवों का संयोग कर देता है तदनन्तर मैथुनी सृष्टि चलती है।''[१] शरीर की अद्भुत रचना आदि का वर्णन करके स्वामी जी ने प्रश्नोत्तर के रूप में यह भी कहा है, कि आदि में अनेक मनुष्य उत्पन्न हुए तथा वे सभी स्त्री-पुरुष यौवनास्वस्था में थे, युवक थे न बालक न वृद्ध। इस विषय में स्वामी जी की युक्ति यह है कि—''जो बालक उत्पन्न करता तो उनके पालन के लिए दूसरे मनुष्य आवश्यक होते और जो वृद्धावस्था में बनाता तो मैथुनी सृष्टि न होती, इसलिए युवावस्था में सृष्टि की है।''[२]

इसी प्रकार इस सन्दर्भ में कतिपय विवादास्पद प्रागैतिहासिक तथ्यों पर भी स्वामी जी ने विचार व्यक्त किये हैं, जैसे— मानव की आदि सृष्टि 'त्रिविष्टप्' अर्थात् 'तिब्बत' में हुई— ''आर्य लोग सृष्टि की आदि में कुछ काल के पश्चात् 'तिब्बत' से सीधे इसी देश में आकर बसे थे और आर्यों के पहले इस देश में कोई नहीं रहता था।''[३]

सृष्टि की उत्पत्ति के सन्दर्भ में अन्य भी शंकाएँ हो सकती हैं, जैसे-स्वामी जी ने कहा है— ''जगत् की उत्पत्ति के पूर्व परमेश्वर, प्रकृति, काल और आकाश तथा जीवों के अनादि होने से इस जगत् की उत्पत्ति होती है। यदि इनमें से एक भी न हो तो जगत् भी न हो।''[४] इस कथन से विदित होता है, कि काल एवं आकाश भी अनादि हैं। किञ्च, काल और आकाशादि जगत् के कारण हैं और कारण सदा कार्य से पूर्ववर्ती हुआ करता है, अत: सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व ये विद्यमान होते हैं। अत: यदि काल, आकाश आदि भी अनादि हैं तो तीन तत्त्व ही अनादि कहाँ रहे? इसका समाधान यही है, कि काल तथा आकाश प्रकृति के ही अन्तर्गत हैं। वे प्रलयकाल में पृथक्‌श: प्रसिद्ध नहीं होते। इसी हेतु वेद तथा उपनिषदादि में उनकी उत्पत्ति भी कही गयी है।''[५]

प्रलय का वर्णन करते हुए स्वामी जी ने लिखा— ''जब प्रलय होता है तब भी सब जगत् कारण रूप होके ईश्वर के सामर्थ्य में रहता है।''[६] ''नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्'' इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है, कि प्रलय के समय परमेश्वर ही जगत् का नाश कर देता है। उस प्रलय काल में असत् = शून्य = आकाश

१. सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास पृ० २९१
२. द्र० सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास पृ० २९२
३. द्र० सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास पृ० ३२९३-२९४
४. द्र० सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास पृ० २८०
५. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, सृष्टिविद्या, पृ० ४१५.
६. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, सृष्टिविद्या, पृ० ४०३.

भी नहीं था क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था। उस समय सत् अर्थात् प्रकृति नामक जगत् का कारण जो अव्यक्त है, वह भी नहीं था। परमाणु भी नहीं थे, विराट् अर्थात् जो स्थूल जगत् के निवास का स्थान है वह भी नहीं था, किन्तु परब्रह्म का सामर्थ्य नामक जो अत्यन्त सूक्ष्म इन सबका परम कल्याण है, वही उस समय था।''[१] जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कि प्रलय काल में समस्त जगत् परमेश्वर के सामर्थ्य में विलीन हो जाता है। 'प्रकृति' जो प्रवाह से अनादि तथा नित्य है, उसका भी पृथक्‌शः व्यपदेश नहीं किया जा सकता। अतः वह भी असत् के समान हो जाती है। वस्तुतः प्रकृति आदि का प्रलय काल में अभाव नहीं होता, जैसा कि स्वामी जी ने 'सत्यार्थ-प्रकाश' में कहा है—''यह सब जगत् सृष्टि के पूर्व असत् के अदृश और जीवात्मा, ब्रह्म और प्रकृति में लीन होकर वर्तमान था, अभाव न था।''[२] इसी प्रकार 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में कहा है कि—''जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था, तब ईश्वर के सामर्थ्य में कारण रूप से वर्तमान था।''[३]

इस प्रकार स्वामी दयानन्द के प्रकृति विषयक विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि उनका सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन प्रामाणिक एवं वैज्ञानिक है। स्वामी जी ने इस विषय में जब लिखा था, तब तक आधुनिक विज्ञान के विद्वानों को ब्रह्माण्ड के विषय में उन तथ्यों का ज्ञान नहीं था जिन्हें स्वामी जी जानते थे। गूढ़ तथ्यों के रहस्यों को समझने के लिए वे वेदमन्त्रों का आश्रय लेते थे। यही उनके दर्शन की मौलिकता है। उनकी एक विशेषता यह भी है, कि उन्होंने वेदों में अन्तर्निहित प्रकृति सम्बन्धी रहस्यों को खोलकर उनका प्रमाणपूर्वक प्रतिपादन किया है- दूसरे लोकों में भी इस लोक जैसी सृष्टि है, यह उन्होंने प्रतिपादन किया है। किन्तु आज का विज्ञान उन्हें अभी नहीं खोज पाया है। इसी प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय सम्बन्धी जो मत स्वामी जी ने प्रतिपादित किये हैं उन पर वैज्ञानिक परीक्षण करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। उनकी बहुत सी बातें सत्य सिद्ध हुई हैं। आशा की जा सकती है, कि आगे भी उनके मन्तव्य सत्य की कसौटी पर खरे उतर सकेंगे।

इस प्रकार ऊपर विशद रूप से दयानन्दाभिमत प्रकृति के स्वरूप, कारण और जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय पर विस्तृत विवेचन किया गया। अब आगे आलोच्य

---

१. द्र० वहीं, पृ० ४०१

२. द्र० सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास पृ० २७३

३. द्र० ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, सृष्टिविद्या, पृ० ४२०

कवि आचार्य मेधाव्रत जी के ग्रन्थों में उपलब्ध दयानन्दाभिमत-प्रकृति-विषयक विचारों की समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है—

आचार्य मेधाव्रत जी ने 'प्रकृति सौन्दर्यम्' नामक एक सुन्दर संस्कृत नाटक लिखा है। इसकी प्रस्तावना में कवि ने 'त्रैतवाद' का प्रतिपादन करते हुए प्रसंगवश प्रकृति को ब्रह्माण्ड की रचना में 'उपादानकारण' के रूप में वर्णित किया है तथा सत्त्व, रजस्, तमस्— इन तीन गुणात्मक रूपों के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति एवं स्थिति अवस्था में समस्त प्राणी समूह को सुख देने के साधन के रूप में प्रस्तुत किया है, यथा—

> या सामग्री भुवनरचनायामुपादान हेतु-
> र्या चित्रागीं रमयति मुहुर्लीलया मर्त्यवृन्दम्।
> या सर्वेषामृतुवरगणैर्नन्दयित्री जनानां,
> सेयं भूयान्निखिलजगतां भूयसे मङ्गलाय।।[१]

'त्रैतवाद' के अन्तर्गत परमात्मा सृष्टि का निमित्त होता है तो जीवात्मा साधारण कारण होता है, प्रकृति को उपादान कारण माना जाता है। बिना निमित्त और साधारण कारण के संयोग के सृष्टि-रचना नहीं होती। सृष्टि रचना में परमात्मा निमित्त कारण होता है। अतः 'कविरत्न' ने इस सत्य को प्रस्तुत श्लोक में इस प्रकार व्यक्त किया है—

> भास्वाना क्रमते क्रमेण भगवानस्तं पुनर्गच्छति,
> प्रातःसायमिमं क्रमं प्रतिदिनं ब्रध्नो निवध्नातियत्।
> चन्द्रोऽयं परितो भुवं भ्रमति यद् वृद्धिक्षयौ दर्शयन्
> नक्षत्रालिरियं यदेति नियमानां को नियन्तैव सः।।[२]

अर्थात् यह तो सूर्य नियम से उदय और अस्त होता है तथा प्रतिदिन प्रायः सायं अपने नियम का पालन करता है और यह जो चन्द्रमा वृद्धि तथा क्षय को दिखाता हुआ पृथिवी की परिक्रमा करता रहता है एवं यह जो नक्षत्र माला अपनी परिधि पर घूम रही है, इन सब नियमों का कौन नियन्ता है? हाँ समझा वही प्रजापति इन सबका नियन्ता है।

परमेश्वर सृष्टि रचना का एकमात्र नियामक है। वह तीनों कालों में सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय कराता रहता है। 'स्वामी-दयानन्द' के ग्रन्थों में उद्धृत इस विचार

---

१. द्र० प्रकृतिसौन्दर्यम्, १. २
२. द्र० प्रकृतिसौन्दर्यम्, १.६

को कवि ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

सूर्याचन्द्रमसौ दिवंऽच पृथिवीं स्वर्योऽन्तरिक्षं यथा
धाता पूर्वमकल्पयत्कविरयं वेदान् यथा निर्ममे।
सृष्ट्यादौ विदधौ तथेह सकलं योऽग्रेऽपि निर्मास्यते
पूर्णानन्द चिदात्मने सुकवये तस्मै नमो ब्रह्मणे।। १

अर्थात् जिस प्रकार परमेश्वर ने पूर्व सृष्टि में सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा प्रकाशमान् लोक-लोकान्तरों एवं वेदों की रचना की थी। वैसे ही वर्तमान सृष्टि में भी पूर्ववत् सब पदार्थ निर्माण किये हैं। इसी प्रकार आगे भी जो बनाता रहेगा, उसी सच्चिदानन्द स्वरूप, सुकवि परब्रह्म को मेरा नमस्कार हो। दृश्यमान् कार्य रूप जगत् का मूल प्रकृति 'उपादान कारण' है, उसी कारण रूप प्रकृति से सत्त्व, रजस्, व तमस् गुण के कारण नाना रूपा सृष्टि की उत्पत्ति होती है, यथा—

ब्रह्माण्डे यच्चलमविचलं प्रेक्ष्यते प्रेक्षणीयं
मार्तण्डेन्दुग्रहगणचिते तैजसं पार्थिवञ्च।
सर्वत्रैव प्रकृतिरिह सा कुर्वती कार्यचक्रं,
नित्यास्तित्वं प्रथयति सदा ब्रह्मणोऽनन्तशक्तेः।। २

अर्थात्— सूर्य चन्द्र, ग्रहण युक्त ब्रह्माण्ड में जो कुछ चराचर तैजस पदार्थ तथा पार्थिव दर्शनीय दृश्य दीख रहा है उन सब में अपना कार्य करती हुई जगदलङ्काररूपा प्रकृति देवी जिस चराचर के स्वामी, अनन्त शक्तिशाली ब्रह्मदेव के नित्य अस्तित्व को निरन्तर सिद्ध करती रही है, उस अवर्णनीय अनन्त सामर्थ्यवान् महामहिमाशाली, अनेकविध रचना में कुशल कारीगर की कारीगरी का वर्णन करती हैं।

प्रकृति 'जीवात्मा' के सुख के साधन के रूप में कवि द्वारा वर्णित की गयी है। प्रकृति का सौन्दर्य देखकर सचमुच उसके बनाने वाले 'ईश्वर' का ध्यान किसे नहीं होता—

नक्षत्रग्रहमण्डलेऽम्बरमणौ बिम्बे यदिन्दोर्दिवि
सौन्दर्यं प्रकृतेः समीक्ष्य सुतरां सौन्दर्यवारांनिधेः।
अद्रीन्द्रे द्रुमगतमवल्लिवलये प्राणिप्रकाण्डे भुवि

१. द्र० प्रकृतिसौन्दर्यम्, १.५
२. द्र० प्रकृतिसौन्दर्यम्, १.७

यत्तच्चेह चराचरे जगति को मुह्येन्न सौख्याम्बुधे।। [१]

अर्थात् आकाश-स्थित सूर्य मण्डल, चन्द्रबिम्ब ग्रहण एवं नक्षत्र चक्र में तथा पृथिवी पर बड़े-बड़े पहाडों, वृक्षों की लताओं एवं विभिन्न प्राणियों में फैले हुए प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर हे! सौन्दर्य सागर! सुख के भण्डार विभो! कौन मुग्ध नहीं हो जाता?

इसी प्रकार आगे भी कवि ने 'उपादानकारणरूपा' प्रकृति के अनेक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये हैं— प्रकृति अपने सौन्दर्य से सांसारिक दु:खों से पीड़ित प्राणी को ललना के समान आकृष्ट करके सुख देती रही है—

तुङ्गोर्वीन्द्रनितम्बकाननकुले स्रोत: कदम्बाकुले
सान्द्रारण्यतटीषु सुन्दरतरौ कल्लोलिनीनां तटे।
नक्षत्रद्विजराजराजिगगनेऽम्भोराशिराशौ मुदा
देवीयं प्रकृतिर्निसर्गरुचिरा नक्तन्दिवं दीव्यति।। [२]

अर्थात् सैकड़ों झरनों से युक्त उन्नत गिरि-शिखरों के वनों में, नीचे घने जंगलों में, सुन्दर वृक्षों वाली नदियों के तटों पर नक्षत्र एवं चन्द्रमण्डित गगन मण्डल में तथा विशाल सागरों के वक्षस्थलों पर रात-दिन स्वभाव सुन्दरी, प्रकृति कामिनी क्रीड़ा-कल्लोल करती ही रहती है।

वेदों में कहीं-कहीं प्रकृति के विविध ऋतुओं के सुन्दर वर्णन मिलते हैं। प्राकृतिक सुन्दरता को देखकर स्वामी दयानन्द ने भी जगत् के बनाने वाले परमात्मा की महिमा का अनेकों बार गुणगान किया है। उन्हीं के समान प्रेरणा पाकर 'कवि मेधाव्रत' जी ने भी प्रकृति के ऐसे सुन्दर चित्र खींचे हैं। चन्द्रवर्ण और राजा के वार्तालाप में शैलराज हिमालय की अपार महिमा का गान करते हुए, उसमें महान् गुणों के भण्डार वेदवेत्ता ब्रह्मानन्द निमग्न, पापहारक और ईश्वर भक्त, विद्वानों का आश्रय स्थल बतलाते हुए कहा है—

नानाकान्तपतङ्गसङ्गिनमहो सर्वर्तुशर्मप्रदं
सौन्दर्यैकनिधे: सुकौशल मयं लालित्य लीलागृहम्।
शैलेन्द्रं समवेक्ष्य सा समुचितं र त्नालयं स्वालयं

१. प्रकृतिसौन्दर्यम्, १.८
२. प्रकृतिसौन्दर्यम्, १.९

देवीयं प्रकृतिर्निसर्गरुचिरा नक्तन्दिवं दिव्यति।। [१]

अर्थात् अनेक सुन्दर पक्षिगणों से सुशोभित, सब ऋतुओं में आनन्ददायक, सौन्दर्यसागर प्रभु की उत्तम कारीगरी का कला भवन तथा रत्नों के भण्डार इस हिमालय को अपना योग्य आलय समझकर निसर्ग सुन्दरी प्रकृति देवी यहाँ रात-दिन खेला करती है।

हिमानीशुभ्रं यद् विशदशरदभ्रं हिमगिरे:
सुश्रृङ्गं भात्येतत्तरूततिनूनवृतञ्चाम्बरलिहम्।
पतन्तीनां तस्मादमलसुझरीणां जलकणा
रवेस्त्रैर्मिश्रा दधति सुरचापस्य सुरूचम्।। [२]

अर्थात्– ये कहीं शरद्ऋतु के श्वेत बादल के टुकड़ों से घिरे हुए और कहीं बर्फ के बड़े-बड़े चट्टानों से घिरे हुए और कहीं वृक्षावली से आच्छादित गननचुम्बी हिम गिरि-शिखर चमक रहे हैं। उन शिखरों पर से गिरते हुए स्वच्छ झरनों के जल-बिन्दु सूर्य किरणों से मिश्रित होकर इन्द्रधनुष की मनोहर कान्ति को धारण कर रहे हैं। स्वामी दयानन्द योगी गुरुओं की खोज में हिमालय की चोटियों और घाटियों में विचरण करते रहे हैं। इसका उन्होंने स्वयं वर्णन किया है। हिमालय के सुन्दर दृश्यों को देखकर योगिराज दयानन्द अतुल सुख दायिनी प्रकृति को जहाँ आनन्द से निहारा करते थे; वहाँ इसके रचने वाले परमात्मा का भी बारम्बार धन्यवाद किया करते थे। प्रकृति सचमुच कितनी सुखदायिनी है। इसका वर्णन तो वही कर सकता है, जिसने भव्य हिमालय के उन्मुक्त दृश्यों के आनन्द सागर में हिलोरें ली हैं। आलोच्य कवि मेधाव्रताचार्य ने स्वामी दयानन्द से प्रेरणा पाकर कहीं प्रकृति को उपादान कारण तो कहीं जगत्रूपी कार्य के रूप में देखा है। कहीं सत्त्व, रजस् और तमस् निर्मित विविध रूपा प्रकृति के कठोर और कोमल, सुख और दु:खदायी दृश्यों को देखकर परमात्मा की प्राप्ति हेतु स्वामी दयानन्द के समान ही योगाभ्यास की ओर उन्मुख वातावरण का भव्य चित्रण अपने काव्यों में किया है। प्रसंगोपात्त ऐसे कुछ चित्र आगे द्रष्टव्य हैं। प्रकृति सौन्दर्य नामक नाटक में चंद्रकवर्ण और राजा चन्द्रमौलि विमान से हिमालय् की शोभा को देखकर प्रफुल्लित होते हुए कह रहे हैं–

करिहरिहरिणानां मण्डली मण्डितायां

---

१. प्रकृतिसौन्दर्यम्, १.११
२. वही, १.१२

नवहरिततृणानां कन्दलीपण्डितायाम्।
उपलमणिविचित्रैर्धातुभिश्चित्रितायां
विलसति यतिवृन्दं सुन्दराधित्यकायाम्।। [१]

अर्थात् — हाथी, सिंह एवं हिरणों के झुण्डों से मण्डित नये-नये तृणाङ्कुरों से सुशोभित चित्रविचित्र रत्न-धातुओं से विचित्र पर्वतराज की शिखरभूमि में यतिवृन्द विराज रहे हैं। इसी प्रकार आगे भी सुन्दर वर्णन किया है, यथा—

जितषड्सदरीणां सुन्दरीणां दरीणां
पुरत इह मुनीनां बद्धपद्मासनानाम्।
नियमितकरणानां ध्यायतां देवमन्तः
किमपि किमपि पुण्यं मण्डलं राजतीदम्।। [२]

अर्थात् सुन्दर गुफाओं के प्रांगण में कामक्रोधादि छः रिपुओं को जीतने वाले पवित्र जितेन्द्रिय मुनिमण्डल पद्मासन लगाकर अन्तःकरण में ब्रह्म का ध्यान करते हुए किसी अकथनीय कान्ति को धारण कर रहे हैं।

दोनों प्रभु की वृक्षावलियों एवं कोकिलों के मधुर अलाप को देखकर और सुन्दर आनन्द से मुग्ध हैं। राजा आश्चर्य में मग्न होकर अपने मित्र 'चन्द्रवर्ण' से पूछते हैं कि हे मित्र! आम्रादि वृक्षों से मण्डित यह सुन्दर उद्यान बिना माली के किसने बनाया। इस पर 'चन्द्रवर्ण' मुस्कराते हुए उत्तर देते हैं कि हे राजन्।! यह उसी माली की रचना है, जिसने अखिल ब्रह्माण्ड की रचना की है।''[३]

इस प्रकार 'कवि मेधाव्रत' स्वामी दयानन्द के समान ही परमेश्वर को ब्रह्माण्ड का सृष्टिकर्ता मानते हैं।

मनुष्य कितने भी सजे हुए सुन्दर राजभवनों में निवास कर ले किन्तु प्रकृति की गोद जैसा उन्मुक्त आनन्द अन्यत्र नहीं मिल सकता। पर्वतराज हिमालय की शोभा निश्चय ही सैकड़ों राजभवनों से बढ़कर है, यथा—

सन्तु क्रीडदनेकर त्नरुचयः क्रीडत्पतङ्गाङ्गना
प्रासादाः स्फूति कोपलाविलचिता आहार्यशोभांचिताः।

---

१. प्रकृतिसौन्दर्यम्, १.१४
२. वही, १.१५
३. वही, गद्य भाग पृ० १३-१४.

रम्यारामसुदीर्घिकालिरुचिरा हर्म्यालयो वा पुन-
र्नारोहन्ति तुलामणु क्षितिभृतां रम्यस्थलीनामिमे।। १

सुन्दर सरोवर किसके हृदय को आकृष्ट नहीं करता। सारस,. बत्तख, राजहंस और कारण्ड्व पक्षियों का कोलाहल, परागयुक्त: सुन्दर कमल और उन पर मंडराते भौरों का भ्रंगवाद यह सब नैसर्गिक सुख मानव के सन्तप्त मन को बड़ा आनन्द देता है,

लसति सारससन्ततिशोभितं सरससारससारसरोवरम्।
इह विहङ्गविहङ्गचराकुलं यदमैल: कमलै: कमलङ्कृतम्।।
पतदमन्दमरन्दकरम्बितं जलजकेसररागपिशङ्गितम्।
लुलितनक्रकदम्बतरङ्गितं ललितवल्लरिमञ्जरिरञ्जितम्।।
तदरविन्दमिलिन्दकृतेन्दिरासुभगमन्दिरवृन्दबिडम्बनम्।
तटपलाशिसुलास्यकलापिभि: कृतमृदङ्गनिनादबिडम्बनम्।। २

प्रकृति की नैसर्गिक सुषमा को देखकर रजस् और तमस् गुण मानों नष्ट हो जाते हैं। हृदय सत्त्व गुण से ओतप्रोत हो जाता है, और चित्त आनन्द सागर में डूब जाता है, यथा—

प्रकृतिजनितां निर्वर्ण्यैतां गिरीन्द्रसुचारुतां
व्रजति सहसा सत्त्वाद्भिन्नं गुणद्वयमन्यत:।
श्रयति हृदयं सत्यं सत्त्वं गुणं लघु पश्यतां
भवति च परं चेतो मग्नं मुदम्बुधिवीचिषु।। ३

यहाँ देखा जा सकता है, कि कवि प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों से परिचित है। तमस् के तिरोभाव से सत्त्वगुण की वृद्धि और आनन्द प्राप्त होता है। यह उक्त श्लोक से स्पष्ट है।

नानारूपा प्रकृति को बनाने वाले परमात्मा का ध्यान बड़ा आनन्द देता है। प्रकृति के खुले वातावरण —पर्वत, नदी, सरोवर आदि के किनारे बैठकर परमात्मा का ध्यान लगाने पर ही सांसारिक विषय वासनाओं और अन्य दु:खों से छुटकारा मिल सकता है। कवि मेधाव्रत जी का भी यही विचार है, यथा—

---

१. प्रकृतिसौन्दर्यम्, १.१९,
२. वही, १,२७, २९.
३. वही, १.३०

संसारसागरमिमं नु तितीर्षव: किं
विश्वेश्वरस्य परमं पदमीपासवो वा।
देव्या निसर्गरुचिरप्रकृते: सुतत्त्वं
जिज्ञासवोऽथ नितरामप! मानवा: किम्।।
दुखाम्बुधेर्लहरिकाव्रुडितान्तराक्षा।
किं वा समस्तविषयाद् विनिवृत्तचित्ता:।
सौन्दर्यमीक्षितुमिदं प्रकृतेर्नु वाञ्छा
प्रश्नेन वालामिह यद् भवता चिकीर्षा।।
आगच्छाताऽऽगच्छत पश्यताऽऽध्व-
मानन्दत ध्यायत वाप्तुमीशम्।
तपोवनोर्वीरूहनीडभाज:
कीराङ्गना इत्थमिवागिरन्ति।। [१]

इसी अध्याय के द्वितीय अंक में ब्रह्मचारियों के आश्रम का वर्णन किया गया है। प्राचीन भारत में आश्रमों में ही अध्ययन-अध्यापन हुआ करता था। ब्रह्मचारीगण उन्मुक्त प्रकृति की गोद में विद्याध्ययन के साथ-साथ योगाभ्यास किया करते थे। कवि मेधाव्रत जी ने एक श्लोक में ऐसा ही प्रकृति का नैसर्गिक चित्रण किया है। उन्होंने लिखा है, कि उषाकाल में स्नान क्रिया से निवृत्त होकर पद्मासन लगाये योगिगण परम भक्ति के कारण, शुद्धान्त:करण से युक्त होकर, भव बन्धन से छूटकर मानों ब्रह्मानन्द में लीन होते हैं, यथा—

सवनकर्मनिवृत्तविनिर्मला विहितपद्मदलासनयोगिन:।
परमभक्तितयोषसि तेऽमला: कविरता विरता भवबन्धनात्।। [२]

हिमालय और गंगा का वर्णन भारतीय साहित्य में अनेकों विद्वानों ने किया है। कवि मेधाव्रत जी भी गंगा और हिमालय की प्राकृतिक शोभा को देखकर, कह उठते हैं कि हिमालय से लालित, सुन्दर शरीर वाली स्वर्ग की सीढ़ी के समान मनोहर, मुनिराजों के चरण कमलों से पवित्र तटवाली, सबकी आँखों को अत्यन्त आनन्दामृत पिलाने वाली

१. प्रकृतिसौन्दर्यम्, १,३२-३४,
२. वही, २.३,

अन्य विषयों से हटाने वाली जो सबके मनों का हरण करती है, वही यह नीलकमल माला की प्रभा से विराजित, हिलते हुए पंखों वाले राजहंसों से शोभित चंचल तरंग वाली गंगा बह रही है, यथा—

प्रभाति नीलोत्पलदामसङ्गप्रभातिरेकेणरकरम्बिताङ्ग।

प्रेङ्खत्पतङ्गप्रसरप्रसंङ्गारिङ्गत्तरंङ्ग सरिदङ्ग! गंङ्गा।। १

किसी देश की शोभा उस देश में सुचारु रूप से शिक्षा प्रदान करने वाले गुरुकुलों से हुआ करती है। प्राचीन भारत में ऐसे सम्पन्न गुरुकुल बहुलता से होते थे। स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' में गुरुकुलों का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है। कवि मेधाव्रत जी ने भी प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में ऐसे भव्य गुरुकुलों का वर्णन करते हुए लिखा है- ''मयूरों के चमकते हुए पंखों की सुन्दर कान्ति से प्रकाशित, खेलते हुए हरिणों के बच्चों से मनोहर, हिलती हुई लताओं के पत्तों वाला, ब्रह्मचारियों से सुशोभित छोटे उद्यानों से रमणीय, सूखती हुई पीली धोतियों से सुन्दर केले के स्तम्भों से अलंकृत, यज्ञशाला से युक्त चित्र-विचित्र वृक्षों से मण्डित वही यह आश्रम है, यथा—

चञ्चच्चन्द्रकिचन्द्रकालिरुचिरज्योत्स्नाप्रदीप्तान्तरा:।

संखेलन्मृगबालजाजललिता लोलल्लतापल्लवा:।

बालोद्यानलसद्बटूत्तमगणा: शुष्यत्पिशङ्गाम्बरा।

रम्भास्तम्भविशोभिहोमभवनाश्चित्रद्रुमा आश्रमा:।। २

हवन की सामग्री से यज्ञ में आश्रम का सारा वातावरण सुगन्धित हो उठता है। कवि ने भी कुछ ऐसा ही वर्णन आश्रम का किया है, यथा—

सद्ब्रह्मचारिबटुराजिविराजितानि

वेदोक्तमन्त्रगणघोषसुघोषितानि।

एतानि भान्ति वरमाश्रममन्दिराणि

होमोत्थितोत्तमसुगन्धसुगन्धितानि।। ३

प्राकृतिक रूप से धनी भारतवर्ष की भूमि प्रत्येक ऋतु में मनुष्य के लिए सुखदायक

---

१. प्रकृतिसौन्दर्यम्, २.३३,

२. वही, ३.१५.

३. वही, ३.१८

है। यह देवताओं के निवास के योग्य है। यज्ञ के लिए यह प्रकृष्ट भूमि है। पवित्रात्माओं के लिए यह कल्पवृक्ष सी है। यह सांसारिक सुख और मोक्ष प्राप्ति का साधन है। यह वेदों की प्रकाशक है। पर्वतराज हिमालय, सुन्दर वृक्षों की शाखा रूपी हाथों से पत्तों के दोंनों में सदा मीठे फलों की भेंट लेकर सेवक तुल्य उपस्थित रहती है। भारत के रंगमंच पर यह प्रकृति नटी छः ऋतुओं के सुन्दर रूप को धारण करके उपस्थित होती है और इस माता को अपने सुन्दर विलासों से प्रसन्न करती रहती है। इस प्रकार वर्णन अन्य देशभक्त कवियों ने किये हैं। स्वामी दयानन्द ने भी भारत माता की अनेकविध वन्दना की है। कवि मेधाव्रत जी ने भीस्वामी दयानन्द से प्रभावित होकर,अपने महाकाव्य 'दयानन्द-दिग्विजयम्' में प्रकृति के ऐसे ही मनोरम चित्र उपस्थित किये हैं—

फलद्रुमालंकृतसस्य देशा नाना विहगावगुंजिताश।
सर्वर्तुशर्मप्रदवायुतोया सर्वांशतो या सुरलोकसेव्या।।
वीरैकभोग्या शुभयज्ञयोग्या पुण्यात्मनां कल्पतरूपमेया।
निश्रेयसस्वभ्युदयोपलब्धौ सहायिका या सहधर्मिणीव।।
प्रकाशिका वेदरविप्रभाणां प्रभातवेलेव मुनीन्द्रवन्द्या।
विद्याकलार त्नखनिर्वरेण्या गुरुस्थली याखिललोककाम्या।।
हिमालयो रम्यमहिरुहाणां शाखाकाराग्रैर्दल सम्पुटेषु।
आदक्ष्य देव्यै सुफलोपहारान् यस्यै सदा सेवकवत् प्रदत्ते।।
पण्णामृतूनां रमणीयरूपै-रूपस्थिता भारतरंगमंचे।
स्फुरद्विलासा प्रकृतिर्नटीयम् यस्या मनो नन्दयति प्रकामम्।। [१]

इस प्रकार देखा जा सकता है, कि परमात्मा ने प्रकृति को जीवात्मा के सुखोपभोग के लिए बनाया है और इसके साथ ही मोक्ष के साधन के रूप में भी उसे प्रयुक्त किया है। आगे भी कवि ने उसी ओर नर्मदा नदियों के संगम स्थल में प्रतिष्ठित ब्रह्मचारी, श्रेष्ठ, साधु-संन्यासी एवं योग विद्या में कुशल योगी लोगों की पवित्र संगति का इस स्थल पर रहना स्वीकार किया है और कहा है, कि इस तपोवन में 'वेदान्त शास्त्र' में निष्णात, 'सांख्य' और 'योग शास्त्र' के पण्डित, 'न्याय' और वैशेषिक के धुरन्धर एवं 'मीमांसाशास्त्र' के पारगामी, स्वामी महात्मा, परमार्थदर्शी वीतराग और तपोधन

---

१. दयानन्द दिग्विजयम्— २.३-७

संन्यासी सदा निवास करते हैं,

वेदान्तशास्त्रनिष्णाता सांख्यगविदां वराः।
न्यायवैशेषिकाभिज्ञा मीमांसापारगामिनः॥
स्वामिनश्च महात्मानः परमार्थदृशः सदा।
वीतरागास्तपोवित्ता यस्यां वासं वितन्वते॥ १

स्वामी जी ने हिमालय और नर्मदा के क्षेत्र में कई योगी पुरुषों से साक्षात् कर लिया था और उनसे योगाभ्यास भी सीखा था। हिमालय के 'केदारघाट' में उनसे कुछ योगियों की भेंट हुई थी। कवि मेधाव्रत ने इस प्रसंग का 'दयानन्द दिग्विजयम्' के 'अष्टम सर्ग' में बड़ा मनोरम वर्णन किया है। यह वर्णन इस सम्पूर्ण सर्ग में विस्तृत है। सम्पूर्ण सर्ग का वर्णन देना यहाँ यद्यपि सम्भव नहीं है, तथापि कुछ श्लोक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिनसे यह भली-भाँति ज्ञात हो सकेगा कि प्रकृति जहाँ सांसारिक सुखों का 'उपादान कारण' है। वहाँ इसका 'जीवात्मा' और 'ईश्वर' से जो सम्बन्ध है, वह 'मोक्ष' की प्राप्ति का साधन भी है। जीवित अवस्था में ही मोक्ष का उपाय सम्भव है। मोक्ष भले ही मृत्यु पश्चात् मिले। इस सम्बन्ध में कुछ चयनित उद्धरण इस प्रकार हैं—

निसर्गसौन्दर्यमयीं विधातुः शिल्पोत्तमादर्शनिदर्शनीयाम्।
अनन्तशक्तेः स विलोक्य सृष्टिं व्यचिन्तयद् वैभवमीशबुद्धेः॥
समाधिनिर्धूतमलान्तरात्मा परेशभक्तिप्रवणान्तरक्षम्।
एकान्तवासी समगान्महात्मा गंगागिरिर्दैवत एनमद्रौ॥ २
अन्योन्यसम्भाषणजातहार्दौ जातौ वयस्यौ समपुण्यशीलौ।
आध्यात्मिकानन्दरसं पिबन्तौ कालं चिरं निन्यतुरात्मवन्तौ॥
आध्यात्मशुद्धाध्वनि संचरन्तौ महेशसाक्षात्करणप्रसक्तौ।
अन्योन्यसंगेन ननन्दतुस्तौ योग्यस्य योग्येन हि भाति संगः॥
मुनीन्द्रमानन्दयितुं गिरीन्द्रे प्रादुर्बभूव प्रकृतिः सुशीलाः।
मनोज्ञरूपाहृतयोगिचित्ता वित्ता नटीवेयमनिन्द्यलीला॥

---

१. द० दि० ७.९-१०.
२. वही, ८, ९-१०.

स पार्वती काञ्चनपद्मकाञ्चीं विश्वंभरां विश्वमनोहरां ताम्।
तुतोष पश्यच्छिवहर्षदात्रीमृतंभरां बुद्धिमिव प्रसन्नाम्।।
आनन्ददिव्यामृतवर्षिणीं तां संसारतापावलिनाशनिष्णाम्।
योगेन्द्रसंसिद्धिमिवाद्रिखण्डे कादम्बिनीं कौतुकवाँल्लुलोके।।
सुपक्वसस्याहितरम्यलक्ष्मीवसुन्धराऽऽभाति वसुन्धरैव।
नूनं मुने भूतशिवंकरीयं व्याजहुरेव बटुसाधुवर्याः।।
हेमन्तकाले हिमशैलभूमिः शुक्लैर्हिमैश्छन्नसरोवनान्ता।
श्वेताम्बरालङ्कृतदेहवल्लीदेवीव साध्वी रुरुचे निकामम्।। [१]

इस प्रकार स्वामी दयानन्द हिमालय के विविध पवित्र स्थानों में भ्रमण करते रहे और जीवन के यथार्थ को देखकर, मिथ्याज्ञान से मन को हटाकर ऋतम्भरा प्रज्ञा के साक्षात्कार करने में समर्थ ओ३म् स्वरूप परमात्मा के ध्यान में अन्तरात्मा को मग्न करके सर्व प्रकार की वृत्तियों के निरोध से निर्बीज समाधि साधकर 'सच्चिदाननन्द' परब्रह्म का दर्शन कर लिया।

ओ३म्रूपात्मध्यानलीनान्तरात्मा प्रज्ञानीन्द्रः सर्ववृत्तिव्रजानाम्।
रोधेनासौ साधिताबीजयोगः साक्षाच्चक्रे सच्चिदानन्दमीशम्।। [२]

स्वामी जी मन्द-मन्द पवन से मनोहर मन्दाकिनी के किनारे योगाभ्यास करते हुए आनन्द मग्न रहते थे। उन दिनों वे केवल दुग्धाहार करते थे और जीवन मुक्त परमहंस के समान रहा करते थे, यथा—

मन्दाकिन्यां मन्दमन्दानिलायां योगाभ्यासानन्दसंलीनचेताः।
दुग्धाहारो मुक्तभक्ताशनोऽयं मुक्तैर्भक्तैस्तौल्यलौल्यं बभार।। [३]

इस प्रकार प्रकृति के आश्रय रहकर भी स्वामी जी, वस्तुतः प्रकृति से मुक्त परब्रह्म के आनन्द में सदा मग्न रहते थे। नर्मदा के किनारे इसी योगाभ्यास के आनन्द में उन्होंने तीन वर्ष व्यतीत किये।[४]

स्वामी दयानन्द ने योगी पुरुष बनकर सर्वत्र भारत में 'मिथ्याज्ञान' का खण्डन तथा

---

१. द० दि० ८.११,१२,१३,३२,३५,६१,७१.
२. द० दि० ९.३८,
३. वही, ९.५५
४. वही, ९.११०.

'यथार्थज्ञान' का प्रचार अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर किया। चार्वाक् आदि आस्तिक मतों, बौद्धों, जैनियों, मुसलिमों, ईसाईयों तथा नवीन वेदान्तियों आदि से उनका 'ईश्वर', 'जीव' और 'प्रकृति' के स्वरूप एवं सम्बन्ध पर डटकर शास्त्रार्थ होता था, जिसमें वे अन्य मतावलम्बियों को हरा देते थे। कवि मेधाव्रत ने 'दयानन्द-दिग्विजय' महाकाव्य के १४ वें सर्ग में 'वेदान्तियों' के 'जगत् मिथ्या हैं', इस वाद पर जमकर शास्त्रार्थ होने का जो वर्णन किया है वह दर्शनीय है। वेदान्तियों के इस मत कि 'जगत् मिथ्या है', का खण्डन करके 'ब्रह्म', 'जीवात्मा' और 'जगत्' तीनों सत्य हैं, यह प्रतिपादित किया है। कवि ने जगत् के सत्य के इस शास्त्रार्थ का सुन्दर वर्णन किया है। जिसका वर्णन देना यहाँ उचित प्रतीत होता है। यह शास्त्रार्थ स्वामी दयानन्द और कृष्णानन्द के बीच हुआ था, जो इस प्रकार है—

वश्येन्द्रिय के सामने विवश होकर जब वह कृष्णानन्द आया, तब उसने सभापति की नियुक्ति के लिए हठ किया। स्वामी ने कहा— हे संन्यासी जी! हमारे सभापति तो शास्त्र ही है। तब वह कहीं मान गया।

उसने वेदान्तवाद का अवलम्बन करके इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा कह सुनाई— जैसे रज्जु में सर्प का और सीप में चाँदी का अभाव है वैसे ही सारा जगत् मिथ्या है। केवल एक ब्रह्म ही सत्य है।

स्वामी ने कहा— मनुष्य के हृदय में विद्यमान सर्प ज्ञान सत्य है, अन्धकार में रस्सी को देखकर, उसमें सर्प का भ्रम हो जाता है। दीपक के प्रकाश में इस रस्सी में रमा हुआ सर्प का भय नष्ट हो जाता है, वैसे ही ज्ञान होने पर जगत् का मिथ्यापन भी दूर हो जाय।

हे विद्वान्! सच्चे सर्प से उपमा दिया गया हुआ जगत् असत्य कैसे हो जावेगा? कहो जगत् के असत्य होने पर भला रज्जु की सत्ता कहाँ से मानोगे?[१]

सर्प सत्य है। रज्जु भी विद्यमान है। तभी अन्धेरे में मनुष्य के हृदय में भ्रम पैदा होता है। बिना सर्प ज्ञान के भ्रम कहाँ से हो।

"दिवाल हो तभी चित्र बन सकेगा निराधार में यह चित्र कहाँ से बनेगा? जब जगत् की सत्ता न हो, तब किसका आश्रय करके भ्रम हुआ?

इसलिए संसार में ब्रह्म सत्य, जगत् सत्य और जीव भी सत्य है। यदि ज्ञान से देखा

१. भुजङ्गमेनोपमितं जगत्तत् सत्येन मिथ्या वद कीदृशं स्यात्।
जगत्यसत्ये ननु रज्जुसत्तां कुतः प्रमाणीकुरुषे मनीषिन्।। द०दि० १४.६५

जाय तो आत्मवत् सर्व सत्य है'' तद्यथा—

द्वा सुपर्णेति मन्त्रेऽस्मिन् स्पष्टतः प्रत्यादि तत्।
ब्रह्मजीव-प्रकृत्याख्यं तत्त्वत्रयमनादि सत्।।
ब्रह्मसर्वज्ञमल्पज्ञो जीवस्तु प्रकृतिर्जडा।
साक्षि भोक्ता च भोग्येयं वेदतो युक्तितोऽप्यहो।। द०दि० १४-६९-९०

''द्वासुपर्णाः'' इस मन्त्र में स्पष्टतया प्रतिपादित किया है, कि — जीव, ईश्वर और प्रकृति ये तीनों पदार्थ अनादि हैं। उनमें ब्रह्म सर्वज्ञ और सर्वसाक्षी है। जीव अल्पज्ञ और भोक्ता है तथा प्रकृति जड़ एवं भोग्य है, इस प्रकार प्रमाण और युक्ति से तुम्हारा मत मिथ्या है तद्यथा—

ब्रह्म सत्यं जगत्सत्यं जीवास्सत्याश्च संसृतौ।
ज्ञानतो दृश्यमानं तन्निखिलं सत्यमात्मवत्।। [१]

कृष्णानन्द ने कहा— जिस प्रकार स्वप्न में देखा हुआ दृश्य जागृत होने पर मिथ्या प्रतीत होता है, उसी प्रकार दृश्य रूप होने से जगत् मिथ्या ही है।

स्वामी जी बोले—श्रीमान् जी! यदि आप दृश्य रूप होने से (जागरण में) देखी हुई वस्तुओं की स्वप्नवत् असत्यता मानते हैं तो स्वप्न की उत्पत्ति ही असम्भव है।

''जागृत अवस्था में मनुष्य अच्छी या बुरी जो-जो वस्तु देखता है, भोगता है और भय से छोड़ देता है, निश्चय से स्वप्न में भी वही वस्तु उसके सामने आती है।''

कृष्णानन्द ने कहा— स्वप्न में मनुष्य अपना कटा हुआ सिर देखकर प्रियजनों के साथ स्वयं रोता है और जागने पर कम्पित होता है, किन्तु न तो कटा हुआ सिर और न उन प्रियजनों को देखता है।

स्वामी जी ने उत्तर दिया— कभी कभी जागते हुए उस मनुष्य ने अपने से भिन्न किसी मनुष्य का कटा हुआ सिर और रोते हुए उसके प्रियजन देखें थे, जिससे निद्रा में उसका दर्शन हुआ।

स्वप्न में तमोगुण से तिरस्कृत, अतएव विवेक शून्य, मन में कभी कभी जो विपरीत दृश्य दिखायी देता है, उसमें अपनी बुद्धि का प्रमाद ही एक मात्र कारण है।

यदि ब्रह्म के बिना सब असत्य है तो दृष्टान्त रूप से स्वप्न भी मिथ्या है तथा रज्जु सीप से लेकर मृगजल तक सारे दृष्टान्त और अपना मत भी प्रमाण योग्य नहीं है।

---

१. द०दि० १४.६८.

पूजनीय जी! "आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपितत्तथा" इस कारिका के अनुसार पहले आपका मत ही न था और आगे भी नहीं रहेगा अतः वर्तमान समय में भी नहीं है। आप के ही मत से यह सत्य नहीं है, इसका मैं भी अनुमोदन करता हूँ।

हे विद्वान्! आपका यह देह भी प्रथम न था, पश्चात् भी न रहेगा तो किसलिए मधुर अन्नपान से आप उसकी रक्षा करते हैं और क्यों इसके नाश से इतने डरते हैं?

आप यदि ब्रह्म हैं तो तदतिरिक्त यह शरीर मिथ्या है। अतः इसे सचमुच अग्नि से जला देना चाहिए।" ब्रह्म ही सत्य है और देह मिथ्या है," इस मत का शरीर जलाकर आप विश्वास दिलाइये।

विशुद्ध बुद्धिरूप उत्तम चित्रकारिणी स्त्री शब्द, स्पर्श आदि विषयों का आनन्द भोगने पर मानव के मनरूपी दिवाल में अनेक वासनाओं के रंग से सुन्दर, संस्कार, रूपी चित्र बनाती है। पुनः उस-उस विषय की प्राप्ति होती है, तब संस्कार रूप तीव्र वासना के कारण वह प्रथम भोग का स्मृति, जीवात्माओं को विषयरस भोग के लिए प्रवृत्त करती है।

दार्शनिक लोग पूर्वानुभूत स्मृतिज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं इसीलिए जागृत और स्वप्न दशा में वह मन को नितान्त खिलाया करती है। क्योंकि यह जीवन स्वप्न में उन-उन विषयों को भोगता है। वह ब्रह्म तो निस्पृह है। जीवों को कर्मफल देता है, और प्रकृति के पंचतत्त्वों से सृष्टि बनाता है।

स्वा०— हे विद्वन्मणे? ब्रह्म में यह जगत् का भान किसको हुआ? कृ०—जीव को। स्वा०— वह अज्ञान किसमें और क्यों? कृ०- ब्रह्म में अज्ञान रहता है और वह अनादि है। स्वा०— ब्रह्म का क्या स्वरूप? कृ०— वह नित्य ज्ञान स्वरूप है। स्वा०— फिर ईश्वर में अज्ञान कहाँ से? कृ०— माया से। स्वा०— यह माया क्या चीज है? कृ०— वह भासमान होती हुई भी अरूप है। स्वा०— अरूप होती हुई कैसे भासती है।"

इत्यादि प्रमाण और तर्कों से तार्किक सम्राट् दयानन्द ने तीन दिन तक कृष्णानन्द के असत्य पक्ष को जनता के समाने खण्डित कर दिया।[१]

एक अन्य शास्त्रार्थ में 'स्वामी विशुद्धानन्द' को भी दयानन्द ने हराथा था जिसमें जगत् के कारण पर विचार किया गया था। स्वामी जी ने उनका यथोचित उत्तर देकर अपना वैदिक मत सिद्ध कर दिया था, यथा—

१. द०दि० १४.६२-६८.

तदा विशुद्धः पुरतो निषद्य स चकार वेदान्तसुसूत्रशङ्कनाम्।
प्रधानमेतज्जगतो न कारणं स्वतन्त्रसर्गानुपपत्तिरत्र यत्।। [१]

प्रकृति विषयक एक अन्य शास्त्रार्थ में स्वामी जी ने सिद्ध किया था कि परमेश्वर ने इस जगत् को परमाणु रूप, नित्य अनादि, अनन्त अव्यक्तरूप, मूलकारण, जड़ प्रकृति से व्यक्त रूप में बनाया है।'

''निश्चय अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि कारण गुण पूर्वक ही कार्य होता है। यदि कारण की सत्ता न मानेंगे तो उसकी तरह इस कार्य जगत् का अभाव मानना पड़ेगा। जैसे— मिट्टी का विकार घट है वैसे ही जड़ प्रकृति का यह कार्य जगत् विकार है, अत: जगत् जड़ है यदि यह माना जाये कि ईश्वर ने सृष्टि को अपने स्वरूप से रचा है तो जगत् भी ईश्वररूप ही सिद्ध हो गया।'' जैसे घड़ा मिट्टी से पृथक् नहीं हो सकता वैसे ही जगत् अरूप ईश्वर से भिन्न नहीं रहेगा। विश्व और विश्वकर्ता एक समान बन जाने से ईश्वर ही चोर, जार, कुत्ता, एवं घट पटादि बन जायेगा।'' जो मनुष्य सृष्टि के मूलकारण प्रकृति को परमेश्वर से पृथक् नहीं मानते उनका मत वेद–प्रमाण विहीन एवं युक्ति शून्य भी अवश्य माना जायेगा।[२]

जगत् प्रवाह रूप से अनादि है। इस विषय पर भी स्वामी जी का कथन है कि– ''जीवन सहित मूलकारण प्रकृति अनादि है।'' प्राणियों के अवशिष्ट कर्मफलों के भोग के लिए न्यायकारी ईश्वर प्रलय के अनन्तर सृष्टि को रचता है। जगत् रचने की शक्ति अमर प्रभु में स्वाभाविक है। चतुर पुरुष और स्त्री सुखसिद्धि से मनोहर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध कर सकें, इसलिए सृष्टिकर्ता ने आत्म शक्ति से अर्थात् संकल्प बल से प्रकृति तथा जीव के बुद्धिपूर्वक सम्मेलन द्वारा यह सृष्टि रची है। इस प्रकार समतीन्द्र महर्षि कथन कर बैठ गये। भिन्न मत वादियों ने उस कथन पर जो जो शंकाएँ कीं उस उसका मनोरंजक सुवचनों से समाधान करके महाराज ने सभ्य जनता को चकित कर दिया।[३]

निष्कर्ष–इस प्रकार कवि मेधाव्रत जी का 'प्रकृति' और जगत् का वर्णन 'दयानन्दाभिमत' दार्शनिक विचारधारा के अनुकूल है। सामान्य कवियों के समान कवि ने प्रकृति वर्णन नहीं किया है। उनकी प्रकृति जीवात्मा के चरम सुख के उपादान साधन

---

१. द०दि० १८.६९
२. द०दि० २३.३४-३८
३. द०दि० २३.४२-४५

के रूप में चित्रित हुई है। यही उनकी मौलिक विशेषता है। दयानन्द के त्रैतवाद में प्रकृति की जो सक्रिय भूमिका है उसके परिप्रेक्ष्य में ही यहाँ 'कवि मेधाव्रत' ने अपनी विचारधारा प्रस्तुत की है। उनकी प्रकृति ईश्वर और जीवात्मा इन दो चेतन तत्त्वों से सर्वथा पृथक् जड़ और परिणामी है। यही उनका यथार्थ दृष्टिकोण है, कवि मेधाव्रत ने प्रकृति और जगत् का वर्णन किंचित् कल्पनाशीलता के साथ प्रस्तुत करते हुए भी स्वामी दयानन्द की एतत् विषयक अवधारणा के पोषण का ध्यान रखा है।

चतुर्थ अध्याय

जीवात्मा

प्रस्तुत अध्याय में सर्वप्रथम विभिन्न दर्शनों में प्राप्त 'जीवात्मा' के स्वरूप पर संक्षिप्त किन्तु विशद रूप में विचार किया जायेगा, तत्पश्चात् स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित 'जीवात्मा' के स्वरूप का विवेचन करते हुए, आचार्य मेधाव्रत के ग्रन्थों में उपलब्ध 'जीवात्मा' के स्वरूप का अध्ययन किया जायेगा।

'जीवात्मा' को लेकर विविध भारतीय दर्शनों में अनेक प्रकार के विचार प्रकट किये जाते रहे हैं। चेतन तत्त्व 'जीवात्मा' को लेकर सबसे पहला प्रश्न उठता है, कि चेतन तत्त्व क्या है? इस प्रश्न के समाधान हेतु विचार करने पर प्राय: देखा जाता है, कि चेतन में स्वप्रेरित क्रिया होती है जबकि अचेतन में परप्रेरित क्रिया होती है। इसके अतिरिक्त चेतन में सुख-दु:ख आदि भाव, ज्ञान, स्मृति विचार शक्ति और कल्पना भी पायी जाती है। चेतन का एक प्रमुख गुण-संवेदना भी है। यह संवेदना एक वस्तु के ज्ञान के रूप में होती है तो दूसरी ओर सुख-दु:ख के रूप में। इन्द्रियों के माध्यम से वस्तु का संवेदन मस्तिष्क में पहुँच कर एक संस्कार उत्पन्न करता है। इस संस्कार के माध्यम से वस्तु का जो बोध होता है। उसे 'ज्ञान' कहा जाता है। यह 'ज्ञान' 'सविकल्पक' और निर्विकल्पक दोनों रूपों में होता है। यह ज्ञान बिना चेतन तत्त्व के नहीं होता।

भारतीय दर्शनों में 'चेतन तत्त्व' के लिए 'आत्मा', 'जीव' या 'पुरुष' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'चार्वाक्' चैतन्य के आधार पर भौतिक शरीर को मानता है और सामान्यत: चैतन्य विशिष्ट शरीर को ही 'आत्मा' मानता है।[१] उनके अनुसार यह शरीर 'पृथ्वी', 'जल', 'तेजस्' तथा 'वायु' इन चार भूतों से निर्मित है। इन चार भूतों के विशेष संयोजन से चैतन्य एक गुण के रूप में उत्पन्न हो गया है। यह ऐसा ही है जैसे- पान, सुपारी तथा चूने में अलग अलग लाली नहीं दिखलायी पड़ती किन्तु इनको खाने पर इनके मिश्रण से मुख में लालिमा उत्पन्न हो जाती है।[२] अथवा जैसे मन्दिरों के उत्पादक तत्त्वों में मादकता नहीं होती किन्तु मदिरा में मादकता उत्पन्न हो जाती है।[३]

---

१. सर्वदर्शनसंग्रह, अध्याय १

२. सर्वसिद्धान्तसंग्रह—२,७

३. सर्वदर्शनसंग्रह—अध्याय १

'चार्वाक्' चैतन्य तथा शरीर के सम्बन्ध को निम्नलिखित चार आधारों पर सिद्ध करते हैं।[1]

१. शरीर के रहने पर चैतन्य का उदय होता है शरीर के नष्ट होने पर चैतन्य भी नष्ट हो जाता है।

२. हमें अनुभव होता है, कि 'मैं स्थूल हूँ,' 'मैं कृश हूँ', 'मैं शान्त हूँ', 'मैं सुखी हूँ' आदि। स्थूलता आदि का अनुभव चैतन्य युक्त शरीर में ही होता है।

३. वैद्यक शास्त्र के अनुसार ब्रह्मीघृत का उपयोग करने से कुमार शरीर में प्रज्ञा की पटुता उत्पन्न होती है। इससे सिद्ध होता है, कि चैतन्य भौतिक पदार्थों से ही उत्पन्न होता है।

४. वर्षा-काल में दही में बहुत शीघ्र छोटे-छोटे कीड़े रेंगते हुए दिखाई पड़ने लगते हैं। इससे सिद्ध होता है, कि चैतन्य भौतिक पदार्थों से ही उत्पन्न होता है।

अतः सामान्यतः 'चार्वाक्' चेतना को शरीर का एक गुण मानते हैं और शरीर को ही आत्मा मानते हैं। यह चैतन्य क्योंकि शरीर से अभिन्न है, अतः शरीर के साथ ही उत्पन्न होता है और उसी के साथ नष्ट हो जाता है।

कुछ शिक्षित 'चार्वाक्' चेतन-तत्त्व (प्रमातृतत्त्व) को शरीर से पृथक् मानते हैं किन्तु यह चेतन तत्त्व भी वर्तमान शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है दूसरे शरीर में नहीं जाता।[2]

'वेदान्त' के ग्रन्थ 'वेदान्त सार' के अनुसार 'चार्वाक्' क्रमशः 'इन्द्रियों,' 'प्राणों' तथा 'मन' को 'आत्मा' मानते हैं, किन्तु इन मतों के अन्य प्रसंग प्राप्त नहीं होते। यह भी हो सकता है, कि ये मत 'वेदान्तसार' के रचयिता की कल्पना हों।[3]

इस प्रकार देखा जा सकता है, कि 'चार्वाक' मत पूर्णतया भौतिकवादी है और वास्तविक रूप में चेतन तत्त्व के स्वरूप को ज्ञात नहीं कर पाया।

'जैनाचार्य' चेतन तत्त्व के लिए 'जीव' शब्द का प्रयोग करते हैं और 'चैतन्य' को 'जीव' का लक्षण मानते हैं।[4] यह 'जीव' उनकी दृष्टि में एक प्रकार का 'द्रव्य' है, जो शरीर से नितान्त भिन्न तत्त्व है। यह नित्य है, अपने शुद्धरूप में यह अनन्तदर्शन,[5]

---

१. भारतीय दर्शन (बलदेव उपाध्याय) पृ० ८३,

२. न्यायमंजरी— पृ० ४६७.

३. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ— डॉ० महेश भारतीय, पृ० ९१.

४. षड्दर्शनसमुच्चय, कारिका ४९

५. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ— डॉ महेश भारतीय, पृ० ९२.

अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, तथा अनन्तवीर्य से युक्त है, किन्तु कुछ मुक्त जीवों को छोड़कर प्रायः सभी संसारी जीव, कर्म पुद्गल[१] से ढके रहते हैं, जिससे उनकी शुद्धता और शान्ति भी ढक जाती है। जीव अनन्त हैं, और जगत् के प्रत्येक भाग में फैले हुए हैं।

जीव वस्तुओं का ज्ञाता और कर्मों का कर्ता तथा सुख-दुःख का भोक्ता है। स्वयं प्रकाशमान् है। नित्य होने पर भी यह परिणामशील है। 'जैन दर्शन' की एक विशिष्टता यह है, कि वह जीव को मध्यम परिमाण का मानता है, जबकि 'वैष्णव वेदान्ती' आत्मा को 'अणुपरिमाण' वाला और शेष सभी दर्शन 'विभु परिमाण' वाला मानते हैं। यह माध्यम परिमाण विशिष्ट जीव शरीर में रहता है, उसके ही आकार को धारण कर लेता है। यदि यह चीटीं के शरीर में रहता है तो चीटीं के आकार को धारण कर लेता है और यदि हाथी के शरीर में रहता है तो हाथी के आकार को धारण कर लेता है। इसका यह कार्य दीपक के समान बताया गया है।[२]

'बौद्ध लोग' किसी नित्य 'आत्मा' में विश्वास नहीं करते। उनकी दृष्टि में आत्मा 'पंचस्कन्धों का सघांतमात्र है। इन 'पञ्च स्कन्धों' को भी दो भागों में बाँटा जा सकता है। 'नाम' तथा 'रूप'। जब वस्तु स्थान घेरती है और जिसमें भारीपन होता है 'रूप' कहलाती है। अतः रूप से तात्पर्य, पृथ्वी, जल, तेजस् तथा वायु, इन चारों भूतों से और इनसे निर्मित शरीर से है। जो न स्थान घेरता हो और न जिसमें भारीपन हो वह 'नाम' कहलाता है। 'नाम' के अन्तर्गत 'मन' तथा मानसिक प्रवृत्तियाँ आती हैं। आत्मा 'नाम', 'रूप' अर्थात् शरीर, मन तथा प्रवृत्तियों का समुच्चय मात्र है। 'नाम' चार प्रकार का है— 'वेदना', 'संज्ञा', तथा 'विज्ञान'। किसी वस्तु के साक्षात्कार से उत्पन्न ज्ञान 'संज्ञा' है, तज्जन्यः सुख-दुःख तथा उदासीनता का भाव 'वेदना' है। अतीत अनुभव से उत्पाद्य और स्मृति के कारण भूत सूक्ष्म मानसिक संस्कार 'संस्कार' है और चैतन्य 'विज्ञान' है। यहाँ 'विज्ञान' निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का द्योतक है और 'संज्ञा' सविकल्पक प्रत्यक्ष का।

इस प्रकार इन पाँच स्कन्धों 'रूप', 'वेदना', 'संज्ञा', 'संस्कार' तथा 'विज्ञान' के संघात का नाम 'आत्मा' है। इनमें 'रूप' शरीर है। शेष सभी मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं। इस समूह से भिन्न इनमें अवयवी के रूप में रहने वाली किसी आत्मा जैसी पृथक् वस्तु को बौद्ध दर्शन स्वीकार नहीं करता।

---

१. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ— डॉ महेश भारतीय, पृ० ९२.

२. तत्त्वाधिगमसूत्र—५.१६.

'न्याय-वैशेषिक' दर्शन में चेतन तत्त्व के लिए आत्मा शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'आत्मा' एक 'विभु' द्रव्य है। अपने शुद्ध रूप में यह ज्ञान, इच्छा प्रयत्न सभी से रहित होता है। शरीर से युक्त होने पर इसमें ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न उदित होते हैं। 'ज्ञान' आत्मा का आकस्मिक गुण है। मुक्तात्मा में सुख-दुःख दोनों का अभाव होता है। 'वैशेषिक' ग्रन्थों (वैशेषिक सूत्र, उपस्कार, प्रशस्तपाद भाष्य) और न्याय कन्दली में आत्मा के अस्तित्व के लिए निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किये गए हैं—

१. हमारे अन्दर हितकर पदार्थ के प्रति प्रवृत्ति तथा अहितकार के प्रति निवृत्ति होती है। इससे शरीर को नियन्त्रित करने वाले किसी चेतन पदार्थ की सत्ता सिद्ध होती है। जैसे-रथ का व्यापार उसके नियंत्रक सारथि का अनुमान कराता है, अपने अन्दर चेतन सत्ता का अनुमान कर हम दूसरों में भी प्रवृत्ति-निवृत्ति देखकर चेतन सत्ता का अनुमान कर लेते हैं।[१]

२. जिस प्रकार लौहार की धौंकनी का फैलना और संकुचित होना फूँकने वाले प्राणी द्वारा होता है। उसी प्रकार मनुष्य में श्वास-प्रश्वास से शरीर का फूलना और संकुचित होना किसी चेतन कर्ता का अनुमान कराता है।

३. जिस प्रकार कुएँ में मोट का गिरना तथ उठना मोट खींचने वाले के व्यापार से होता है उसी प्रकार आँख का पलक झपकना तथा खुलना (निमेष-उन्मेश) चेतन सत्ता का अनुमान कराता है।

४. शरीर में लगा घाव स्वतः भर जाता है, जो शरीर में स्थित आत्मा का अनुमान कराता है।

५. जिस प्रकार बालक गेंद को स्वेच्छा से इधर उधर फेंकता है उसी प्रकार मन के इधर उधर जाने से उस प्रेरक आत्मा का अनुमान होता है।

६. सब इन्द्रियों के अधिष्ठाता और आधार के रूप में आत्मा का अनुमान होता है। आम को देखकर हमारे मुँह में पानी भर आता है। इसका कारण है हमने पहले चक्षु द्वारा आम को देखा और रसना द्वारा उसके रस का अनुभव किया, इन दोनों की एक साथ स्मृति ही वर्तमान दशा के कारण है। यह तभी हो सकता है, जब सभी अनुभवों तथा स्मृति एक आश्रय हो। यह आश्रय ही 'आत्मा' है।

७. सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न गुण हैं, अतः इनका कोई आश्रय अवश्य होगा। शरीर इनका आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि शरीर जड़ है। चेतन आत्मा ही

---

१. प्रवृत्तिनिर्वृत्तिश्च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्रलिङ्गम्। वैशेषिक सूत्र— iii, १.१९

इसका आश्रय हो सकता है।

८. जैसे कुल्हाड़ी आदि कारण बिना कर्ता के कार्य नहीं कर सकते, ऐसे ही हमारी इन्द्रियाँ बिना कर्ता के कार्य नहीं कर सकतीं। यह कर्ता आत्मा है।

आत्मा के विषय में 'न्याय' और 'वैशेषिक' दर्शनों में एक मतभेद यह है, कि 'न्याय' आत्मा को 'प्रत्यक्ष ग्राह्य' मानता है। उसके अनुसार मन द्वारा प्रत्यक्ष होता है, किन्तु 'वैशेषिक' आत्मा को अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष ग्राह्य नहीं मानता। 'वैशेषिक' के अनुसार आत्मा अनुमेय है। इसके अनुसार आत्मा, शरीर, मन और इन्द्रियों से पृथक् द्रव्य है। इसके साथ ही आत्माएँ अनेक होती हैं।

'मीमांसा' के सम्प्रदायों 'भाट्ट' और 'प्राभाकर' के अनुसार आत्मा चेतन तत्त्व है। आत्मा शरीर इन्द्रिय एवं बुद्धि से पृथक् है। यह विभु, नित्य, निराकार, अभौतिक, एवं संसरण करने वाली है। यह ज्ञाता, भोक्ता, तथा कर्ता तीनों हैं। यह ज्ञान, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न संस्कार एवं पाप-पुण्य का आधार है। 'कुमारिल भट्ट' आत्मा को परिणामी मानते हुए भी नित्य मानते हैं। ज्ञान, आत्मा का गुण नहीं (जैसा कि नैयायिक मानते हैं) अपितु आत्मा की क्रिया है। अपने मूल रूप में आत्मा ज्ञान तथा सुख-दुःख आदि से रहित है। गहरी नींद की अवस्था में न तो किसी प्रकार ज्ञान होता है और न सुख-दुःख का अनुभव है। हम सब जब सोकर उठते हैं और गहरी नींद में किये गये आनन्द का स्मरण करते हैं, वह केवल दुःख का अभाव मात्र होता है। कोई भावात्मक आनन्द नहीं। हाँ आत्मा में ज्ञानादि का आश्रय होने की शक्ति अवश्य होती है।

'कुमारिल' के अनुसार आत्मा का 'न्याय' मत के समान मानस प्रत्यक्ष होता है, किन्तु ऐसा मानने में कठिनाई यह आती है, कि आत्मा को आत्मज्ञान का कर्ता और कर्म दोनों मानना पड़ता है। 'प्रभाकर' के अनुसार आत्मा एक साथ कर्ता और कर्म नहीं हो सकता। 'कुमारिल' के लिए आत्मा एक चेतन द्रव्य है, चेतन होने के कारण यह कर्ता है और द्रव्य होने के कारण कर्म है।[१] कुछ व्याख्याताओं के अनुसार 'कुमारिल' आत्मा को चेतन और अचेतन दोनों मानते हैं। 'ज्ञाता के रूप में चेतन', और 'विषय के रूप में अचेतन'। अचेतन आत्मा ही ज्ञान एवं सुख-दुःख आदि के रूप में परिणत हो जाती है।[२] 'प्रभाकर' के अनुसार किसी विषय के ज्ञान में एक साथ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों का ज्ञान होता है। जिसे 'त्रिपुटी-प्रत्यक्ष' कहा गया है। विषयों के ज्ञान में ही ज्ञाता के रूप में आत्मा का बोध होता है।

---

१. प्रशस्तपादभाष्य—श्रीनिव ास शास्त्री, पृ० ५९.

२. न्यायमंजरी—भाग २, पृ० ४.

'आत्मा स्वयं प्रकाश है या नहीं' इस विषय में 'कुमारिल' इसे 'स्वयं प्रकाश' मानते प्रतीत होते हैं। उनके एक कथन के अनुसार आत्मा का ज्ञान, आत्मा द्वारा ही होता है। किसी अन्य के द्वारा नहीं।[१] किन्तु 'कुमारिल' आत्मा को 'अहं-प्रत्यक्ष' का विषय भी मानते हैं जिसका तात्पर्य यह है, कि आत्मा का ज्ञान 'मानस-प्रत्यक्ष' द्वारा होता है 'कुमारिल' के अनुयायी 'पार्थसारथि मिश्र' आत्मा के स्वयं प्रकाशत्व का खण्डन करते हैं और इसको 'मानस प्रत्यक्ष' द्वारा ग्राह्य मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा स्वयं प्रकाश इसलिए नहीं मानी जा सकती क्योंकि सुषुप्ति में आत्मा का बोध नहीं होता। 'प्रभाकर' के अनुसार भी आत्मा स्वयं प्रकाश नहीं है। किन्तु 'प्रभाकर' ज्ञान को 'स्वयं प्रकाश' मानते हैं जो 'कुमारिल' नहीं मानते।[२]

'सांख्य' और 'योग' दर्शनों में चेतन तत्त्व के लिए 'पुरुष' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'सांख्य' का पुरुष शरीर, इन्द्रिय,मन, अहंकार तथा बुद्धि से भिन्न है। 'न्याय' वैशेषिक की भाँति यह कोई ऐसा द्रव्य नहीं है, जिससे चेतना (ज्ञान) गुण के रूप में उत्पन्न होती हो अपितु यह शुद्ध चैतन्य है। चैतन्य इसका स्वरूप है। 'सांख्य' के अनुसार सभी लौकिक ज्ञान बुद्धि में उत्पन्न होते हैं, पुरुष में नहीं, किन्तु पुरुष उसको प्रकाशित करता है। अतः पुरुष स्वयं ज्ञान का आधार नहीं है। 'पुरुष' प्रकृति से नितान्त भिन्न है। अतः निस्त्रैगुण्य कहा गया है। यह विभु है और कूटस्थ नित्य हैष। यह कूटस्थ नित्य होने के कारण नित्य मुक्त है। इसका बन्धन केवल प्रतीयमान है, जो कि इस अज्ञान के कारण प्रतीत होता है। कि 'पुरुष' बुद्धि आदि से अभिन्न है यह न तो उत्पन्न हुआ है, न उत्पन्न करता है। दूसरे शब्दों में यह न कारण है और न कार्य। यह दिक् काल से परे है। यह स्वयं प्रकाश है। इसका प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। इसकी ज्ञान केवल अनुमान से होता है। त्रैगुण्य रहित होने के कारण इसमें प्रकृति विरुद्ध सभी विशेषताएँ हैं और इसे साक्षी, केवल, मध्यस्थ, द्रष्टा व अकर्ता कहा गया है।[३]

सांख्य भी 'पुरुष' को स्वरूपतः आनन्द रहित मानता है। आनन्द उसकी दृष्टि से सुख से अभिन्न है, जो बुद्धि में उत्पन्न होता है। सांख्य 'पुरुषों' की अनेकता में विश्वास रखता है।

'वेदान्त दर्शन' के अद्वैत वेदान्त, 'विशिष्टाद्वैतवाद', 'द्वैतवाद', 'द्वैताद्वैतवाद' व

---

१. A History of Indian Philosophy– by J.N. Sinha Part.I. p.82

२. श्लोकवार्तिक १४२-१४३

३. सांख्यकारिका—१९

'शुद्धाद्वैतवाद' ये मत हैं। जिनमें शंकराचार्य के मत के अतिरिक्त भी मतभेद हैं। 'वेदान्त' के मूल 'बादरायण सूत्र' अन्य आस्तिक दर्शनों से मेल खाते हैं। किन्तु शंकराचार्य एवं अनेक परवर्ती वेदान्तियों का चिन्तन यथार्थ से बहुत दूर है। उपनिषदों में आत्मा के जिस स्वरूप को सरलता से व्यक्त किया गया है उसे वेदान्तियों ने अपने-अपने मत के अनुकूल व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। 'उपनिषदों' के अनुसार आत्मा चेतन, सर्वव्यापक और नित्य है। अविद्या के कारण शरीर मनादि से संयुक्त होकर यह ज्ञाता, भोक्ता और कर्ता रूप को प्राप्त करती है। संसरण करता हुआ यह सुख-दु:ख का भोग करता है। यह अपने आप में अजन्मा और अमर है। शरीर के नष्ट होने पर भी यह नष्ट नहीं होता।[१] यह कर्म के अनुसार एक शरीर के नष्ट होने पर भी यह दूसरे में चला जाता है। यह ज्ञान, कर्म और उपासना द्वारा कर्म व संस्कारों का क्षय करके मुक्त हो जाता है।

आत्मा की चार अवस्था, 'जाग्रत्', 'स्वप्न', 'सुषुप्ति' और 'प्राज्ञ' कहलाती है। 'प्राज्ञ' अवस्था में यह न तो बाह्य विषयों का अनुभव करता है और न आन्तरिक विषयों का, इसे 'तुर्या' कहा जाता है।

'अद्वैत वेदान्त' में 'शंकराचार्य' ने आत्मा के स्वरूप को अपने निजी ढंग से प्रस्तुत किया है 'अद्वैत वेदान्त', शुद्ध, चेतन सत्ता को ही इस सम्पूर्ण सृष्टि का मूल कारण मानता है। यह चेतन सत्ता अर्थात् 'ब्रह्म' अपने आप में सत् चित् और आनन्द स्वरूप है, अखण्ड है, कूटस्थ नित्य है और देश-काल से परे है। अत: वास्तव में यह सृष्टि-कारण हो ही नहीं सकता, किन्तु 'माया' 'अविद्या' या 'अज्ञान' के कारण यह विविध रूपों में प्रतीत होने लगती है। अज्ञान से आच्छन्न होकर ही 'ब्रह्म' विविध जीवात्माओं के रूप में प्रतीत होने लगता है। अनेक प्रतीत होने वाली जीवात्माएँ वास्तव में एक हैं। किन्तु भिन्न अन्त:करण और शरीरों से सम्बद्ध होने के कारण भिन्न प्रतीत होती हैं। अत: आत्मा अपने पारमार्थिक रूप में बाह्य से अभिन्न होने के कारण सत् चित् और आनन्द स्थिति में अखण्ड है, कूटस्थ नित्य है और देश-काल से परे है। किन्तु अज्ञान से आच्छन्न स्थिति में अर्थात् बद्ध दशा में यह कर्ता, भोक्ता तथा ज्ञाता प्रतीत होता है। आत्मा, अद्वैत-वेदान्त के अनुसार शुद्ध चैतन्य और स्वयं प्रकाश है।

'आत्मा' का बन्धन ही वास्तव में एक मिथ्या प्रतीति मात्र है; क्योंकि आत्मा तो नित्य मुक्त है। यह कहना भी कि आत्मा मुक्त होकर ब्रह्म हो जाती है, केवल उपचार

---

१. अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे—कठोपनिषद् १.२.१८.

है; क्योंकि वह तो सदैव ब्रह्म है। जैसे पारदर्शी मणि के पास यदि कोई लाल फूल रख दिया जाता है तो मणि लाल प्रतीत होने लगती है। जैसे रूप रहित आकाश को मूर्ख लोग धूल से ढका हुआ मलिन समझने लगते हैं। जैसे संध्या के अन्धकार में रस्सी को सर्प समझ लिया जाता है। जैसे सीपी को चाँदी समझ लिया जाता है, उसी प्रकार अद्वैत ब्रह्म ही 'जीवात्मा' के रूप में प्रतीत होने लगता है।[१]

'शंकर' के अनुसार आत्मा वास्तव में स्वतः सिद्ध है। अपने प्रत्येक अनुभव में हम आत्मा का अनुभव करते हैं। हम अन्य सब वस्तुओं का निषेध कर सकते हैं किन्तु आत्मा का नहीं। वास्तव में हम आत्मा का निषेध भी करें तो निषेध कर्ता के रूप में आत्मा की सिद्धि हो जाती है। प्रमाण आदि सकल व्यवहारों का आश्रय आत्मा ही है। अतः व्यवहारों से पूर्व आत्मा की सिद्धि होती है। प्रत्येक व्यक्ति को आत्मा के अस्तित्व में विश्वास है; क्योंकि ऐसा कोई नहीं जो यह कहता हो कि 'मैं नहीं हूँ।'[२]

आत्मा अपने आप में 'शुद्ध चैतन्य' है शुद्ध ज्ञान है। विषयानुभूति होने पर ज्ञान ही ज्ञाता के रूप में प्रतीत होने लगता है। किन्तु परम ज्ञान के आविर्भूत होने पर जब सभी विषय समाप्त हो जाते हैं तो ज्ञान का ज्ञाता रूप भी समाप्त हो जाता है और वह शुद्ध या शुद्ध चैतन्य के रूप में रह जाता है। लौकिक ज्ञान अन्तःकरणाविच्छिन्न वृत्ति मात्र है और अनित्य है। किन्तु परमज्ञान स्वयं आत्मा या ब्रह्म से अभिन्न है और नित्य है।

'विशिष्टाद्वैत' के संस्थापक 'रामानुज' ने चेतन तत्त्व को 'चित्' और अचेतन तत्त्व को 'अचित्' कहा है। 'चित्' व्यक्तिगत आत्माएँ हैं और 'अचित्' जड़ प्रकृति। उनके अनुसार 'चित्' और 'अचित्' तत्त्व ईश्वर के शरीर के रूप में हैं। ईश्वर जीवात्माओं के भी आत्मा के रूप में है और इनका अन्तर्यामी है। तत्त्वतः ईश्वर से अभिन्न होने के कारण जीवात्माएँ अपने मुक्त रूप में ईश्वर के समान अनन्त चैतन्य और अनन्त आनन्द रूप वाली हैं। ये सभी एक समान हैं, केवल संख्या में भिन्न हैं। प्रलयावस्था में शरीर रहित होकर स्थित होती हैं किन्तु कर्मों के संस्कारों से युक्त होती हैं। सृष्टि होने पर वे अपने कर्मों के अनुसार शरीर धारण कर लेती हैं। मुक्तावस्था में आत्मा कर्मों से अस्पृष्ट होती हुई शुद्ध रूप में अवस्थित होती हैं। सांसारिक दशा में यद्यपि ये अनेक प्रकार के दोषों से, जन्म-मरण, सुख-दुःख आदि से अभिभूत होती हैं। तथापि अपने वास्तविक स्वरूप में ये अपरिवर्तित रहती हैं। 'जीवात्मा' शरीर, इन्द्रिय, प्राण और ज्ञान से भिन्न

१. शारीरिकभाष्य—१.३.१९.

२. वही, १.१.१.

है, किन्तु बद्ध दशा में ये इन सब में अपने को अभिन्न समझने लगती हैं। 'रामानुज' के अनुसार आत्मा सचमुच में ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है और 'चैतन्य' आत्मा का स्वरूप है। आत्मा 'स्वयं प्रकाश' द्रव्य भी है और स्वसंवेद्य ज्ञाता भी। 'आत्मा' की अभिव्यक्ति के लिए किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। आत्मा ज्ञान द्वारा विषयों का बोध प्राप्त करती है। ज्ञान यद्यपि स्वयं प्रकाश है और विषयों को भी प्रकाशित करता है, तथापि इसमें किसी को भी जान नहीं सकता। आत्मा ही स्वयं को और अपने ज्ञान के विषय को जान सकती है।

'रामानुज' के मत में आत्मा जब मुक्त होती है तो सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं और आत्मा पुनः सर्वज्ञता को प्राप्त कर लेती है। अपने स्वरूप में आत्मा आनन्द रूप है संसार में दुःख उसका स्पर्श नहीं कर पाते। 'रामानुज तीन प्रकार की आत्माएँ मानते हैं—

१. प्रथम नित्य मुक्त आत्माएँ हैं जो कभी बन्धन में नहीं पड़ी और वैकुण्ठ में ईश्वर की सेवा में रहती हैं।

२. दूसरे प्रकार की आत्माएँ वे हैं जो बन्धन में पड़ चुकी हैं किन्तु जिन्होंने ज्ञान, कर्म और भक्ति द्वारा मुक्ति प्राप्त कर ली है।

३. तीसरे प्रकार की आत्माएँ वे हैं, जो अज्ञान और दुष्कर्मों के कारण बद्ध हैं और संसार के चक्र में फँसी हैं।

इस प्रकार यहाँ देखा जाता है, कि इस 'विशिष्टाद्वैतवाद' के सिद्धान्त के कारण जीवात्मा का यथार्थ स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो पाया है।

'वेदान्तियों' में 'माधवाचार्य'*शुद्धाद्वैतवाद' के पोषक हैं। 'माधवाचार्य' जीव को अनेक और अणु आकार वाला मानते हैं। यह स्वरूपतः चेतन और आनन्दमय है। यह शरीर, इन्द्रिय और मन आदि के संयोग के कारण दोष युक्त होता है और दुख का भोग करता है। इसका शरीर आदि के साथ सम्बन्ध इसके पूर्वकर्मों के कारण होता है। जीव नित्य हैं एवं तीन प्रकार के हैं—

१. नित्यमुक्त
२. मुक्त
३. बद्ध

यद्यपि ईश्वर अन्तर्यामी होने के कारण जीवों का आन्तरिक नियन्ता है तथापि जीव वास्तविक कर्ता और भोक्ता है और अपने कर्मों के प्रति उत्तरदायी है अर्थात् कर्म करने में स्वतंत्र है।

यहाँ भी देखा जा सकता है, कि जीवात्मा के गुण, कर्म, स्वभाव का उचित विवेचन इस मत में नहीं हो पाया।

'निम्बार्क' के प्रचलित 'द्वैताद्वैत' मत में 'जीव' ब्रह्म का अंश है और जीव तथा ब्रह्म में अंश अंशी सम्बन्ध है। यह ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी। इसीलिए इस मत को 'द्वैताद्वैत' मत या 'भेदाभेद' मत कहा जाता है। 'जीव' इस मत में 'चैतन्य स्वरूप' है। वह वास्तविक ज्ञाता, कर्ता तथा भोक्ता है। यह ईश्वर पर आश्रित है, ईश्वर उसका धारक, व्यापक और अन्तर्यामी है। जीव आकार में अणु है और संख्या में अनेक है। जीव अमर है, किन्तु कर्म तथा अविद्या के कारण शरीर धारण करने से जन्म मरण के चक्कर में पड़ जाता है। जीव को मुक्ति ज्ञान से प्राप्त होती है। ज्ञान ईश्वर की कृपा से उदित होता है और ईश्वर की कृपा भक्ति के कारण होती है।

'बल्लभ' नामक आचार्य ने 'शुद्धाद्वैतवाद' मत की स्थापना की जिनके अनुसार ब्रह्म 'सत् चित्' तथा 'आनन्दरूप' है। ब्रह्म से सृष्टि वास्तविक परिणाम द्वारा उत्पन्न हुई है। 'जीव' ब्रह्म का ही भाग है और उसी के स्वभाव का है।[१] यह ब्रह्म से 'सत्' तथा 'चित्' अंश से उत्पन्न है। ब्रह्म से इसकी उत्पत्ति ऐसी ही है जैसे अग्नि से स्फुल्लिग की उत्पत्ति। इसमें ब्रह्म में आनन्द रूप का तिरोभाव है। जीव कर्ता तथा भोक्ता दोनों हैं। यह नित्य और अनन्त चैतन्य स्वरूप है। इसका आधार अणु है, किन्तु सम्पूर्ण शरीर को अपने चैतन्य से ऐसे व्याप्त कर लेता है जैसे चन्दन की गन्ध उन स्थानों पर भी पहुँच जाती है जहाँ चन्दन नहीं है।

'बल्लभ' ने तीन प्रकार के जीव माने हैं—

१. 'शुद्ध जीव'— जो ब्रह्म के श्री अंग से उत्पन्न हुए हैं और जो कभी इस संसार में नहीं आते, अतः जो अविद्या से अस्पृष्ट हैं।

२. 'लौकिक जीव'— जो इस संसार में जन्म-मरण के चक्कर में फँसे हुए हैं।

३. 'मुक्त जीव'— जिन्होंने ईश्वर की कृपा तथा अपने प्रयत्न द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लिया है।

'जीवात्मा' शब्द को लेकर भारतीय दर्शन में जो विचार व्यक्त किये गए हैं। उनमें कई बातें ज्ञात होती हैं। कुछ विद्वानों ने चेतन तत्त्व 'जीवात्मा' को 'द्रव्य' या 'गुण' माना है। कुछ ने इसे 'भौतिक तथा अभौतिक' तत्त्व माना है। कुछ विद्वानों का विचार है, कि आत्मा 'ज्ञान' और 'आनन्द रूप' है तो कुछ इसे 'ज्ञान' और 'आनन्द रहित'

---

१. ब्रह्मसूत्र पर (बल्लभ भाष्य) १.१.१.

मानते हैं। कुछ विद्वानों के मत में यह 'स्वयं प्रकाश' है, तो कुछ लोग इसे 'परतः प्रकाश' मानते हैं। आकार की दृष्टि से भी जीवत्मा को 'अणु', 'मध्यम',या विभु रूप माना जाता है। कुछ इसे 'नित्य' समझते हैं, तो कुछ 'अनित्य' समझते हैं, कुछ ने इसे 'ब्रह्म का अंश कहा है, और वह एक है तो अन्यों का मत है, कि जीवात्मा अनेक हैं। कुछ विद्वानों ने आत्मा को 'ईश्वर' से पृथक् माना है, कुछ इसे 'ईश्वर' का अंश ही मानते हैं।

ऊपर जितने मतों का विवेचन किया गया उनमें यथार्थ रूप से जीवात्मा का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया है। स्वामी दयानन्द के दर्शन की विशेषता यह है, कि उनका चिन्तन यथार्थ पर आधारित है और 'जीवात्मा' के स्वरूप को भी उन्होंने वैदिक ग्रन्थों से उद्धरण लेकर सुपुष्ट किया है।

जीवात्मा के बन्धन और मोक्ष के विषय में 'जैन', 'चार्वाक्' और 'बौद्ध' विद्वानों ने अपने जो विचार व्यक्त किये हैं वे केवल सतही ज्ञान पर ही आधारित हैं। वस्तुतः उनका चिन्तन अधूरा है। 'न्याय-वैशेषिक', 'मीमांसा', 'वेदान्त', 'सांख्य' और 'योग' ने बन्धन और मोक्ष के विषय में जो व्यवहार व्यक्त किये हैं, वे सत्य के समीप हैं, किन्तु वेदान्त दर्शन के मन्तव्य अपेक्षाकृत अधिक उलझे हुए हैं। इन मतों से निम्नलिखित आठ बातें प्रकट होती हैं—

१. बन्धन मूलतः सांसारिक दुःख है, जो जन्म-मरण के चक्र के कारण हैं। अतः मोक्ष मूलतः सांसारिक दुःख से अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पाना है।

२. मोक्ष में दुःख से छुटकारा भी अनित्य न होकर नित्य होता है।

३. बन्धन का मूल कारण अविद्या या अज्ञान है, अतः मोक्ष का मूल साधन अज्ञान नाश और तत्त्व ज्ञान है। तत्त्व के सम्बन्ध में क्योंकि विभिन्न सम्प्रदायों के भिन्न-भिन्न मत हैं। अतः ज्ञान सम्बन्धी मत भी भिन्न-भिन्न हैं।

४. कर्म यद्यपि मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है तथापि निष्काम कर्म चित्त शुद्धि में सहायक होने के कारण मोक्ष में परोक्षतः सहायक हैं।

५. पूर्ण मोक्ष अर्थात् पूर्ण दुःख निवृत्ति यद्यपि शरीरपात के पश्चात् ही होती है तथापि उसके पहले भी ज्ञान प्राप्ति के बाद एक ऐसी स्थिति आती है। जिसमें सांसारिक दुःख होते हुए भी न होने के समान हो जाते हैं। इस स्थिति को 'जीवन्मुक्ति' कहा जाता है। 'वैष्णव' 'वेदान्ती' यद्यपि 'जीवन्मुक्ति' के विरोधी हैं तथापि उनका विरोध वस्तुतः इस स्थिति को 'मुक्ति' कहने में है, अन्यथा इस स्थिति को वे भी स्वीकार करते हैं।

६. मोक्ष सदैव व्यक्ति का होता है, समाज का नहीं।

७. व्यक्तिगत मोक्ष को सामान्यत: 'भारतीय दर्शन' में परम मूल्य माना गया है। केवल 'महायान बौद्धों' ने व्यक्तिगत मोक्ष को परम मूल्य नहीं माना अपितु सभी जीवों के दु:ख निवारण को परम मूल्य माना है।

८. भारतीय दर्शनों में नैतिक जीवन को मोक्ष के लिए आवश्यक तो माना गया है, किन्तु परम मूल्य नहीं माना गया, यह केवल मोक्ष का साधन है।

'बन्ध' और 'मोक्ष' को लेकर जो विचार बिन्दु उभर कर सामने आये हैं उनमें यद्यपि दोनों का स्वरूप प्राय: स्पष्ट हो जाता है तथापि यह समग्र ज्ञान पूर्ण तुष्टि देने में समर्थ नहीं है। अत: इस पर और अधिक तार्किक रूप से विचार करने की अपेक्षा है।

'पुनर्जन्म' के सम्बन्ध में भी भारतीय दर्शनों में पर्याप्त विचार किया गया है। प्राय: सभी दर्शन, यहाँ तक कि 'चार्वाक्' और 'बौद्ध' दर्शन भी 'पुनर्जन्म' में विश्वास करते हैं। 'पुनर्जन्म' के सिद्धान्त के अनुसार चेतन तत्त्व जीवात्मा मृत्यु के पश्चात् प्रथम शरीर को त्याग कर दूसरा शरीर धारण कर लेता है। इससे कहा जा सकता है, कि पुन: नया जन्म हो जाता है। तर्क के आधार पर यदि पुनर्जन्म की सिद्धि की जाये तो 'न्यायदर्शन' के एतत् सम्बन्धी कुछ मन्तव्यों पर विचार करना अपेक्षित जान पड़ता है। 'न्याय' के अनुसार नवजात शिशु को जो हर्ष, भय और शोक का अनुभव होता है वह केवल पहले अनुभव किये गए विषयों के स्मरण से ही हो सकता है।[१] पूर्व जन्मों के संस्कार के कारण अनुभव के योग्य वस्तुओं की स्मृति होती है। इसी स्मृति परक ज्ञान के कारण बच्चों को सजातीय विषयों के प्रति अभिलाषा उत्पन्न हुआ करती है। 'भय' के कारण भी बच्चे का पूर्वजन्म सिद्ध होता है। 'भय' और 'शोक' का जो अनुमान होता है उससे पूर्वजन्म की सिद्धि होती है। यह तभी सम्भव है जब व्यक्ति ने जन्म से पूर्व के दु:ख का अनुभव किया हो। उसी संस्कार से उत्पन्न स्मृति से ही मृत्यु का भय होता है।[२]

इसी प्रकार नवजात शिशु के स्तनपान की अभिलाषा 'पूर्वजन्म' के आहार के अभ्यास से उत्पन्न होती है। स्तनपान की इच्छा से उसका पूर्व जन्म सिद्ध होता है।[३]

इसी प्रकार राग, विषमता, प्रज्ञा, तथा मेधा के भेद आदि के द्वारा भी पुनर्जन्म की

---

१. न्यायसूत्र—३.१.१८.

२. योगसूत्र—२.३ पर व्यास भाष्य

३. न्यायसूत्र—३.१.२१.

सिद्धि होती है। यह पुनर्जन्म शरीर का होता है, आत्मा का नहीं। इस प्रकार पुनर्जन्म के सम्बन्ध में ऊपर जो विचार व्यक्त किये गये हैं, उन पर अभी और गहन शोध की आवश्यकता है।

'जीवात्मा' को लेकर स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में ज़ो विवेचन किया है, उसे प्रमुखता से दश भागों में विभक्त करके विचार किया जा सकता है।

१. जीव का स्वरूप,

२. ईश्वर, जीव, और प्रकृति का सम्बन्ध,

३. जीवात्मा अणु है।

४. जीव अनेक हैं तथा सभी समान हैं,

५. जीवों की कर्म-फल व्यवस्था

६. पुनर्जन्म,

७. जीव का बन्ध और मोक्ष

८. मोक्ष के साधन,

९. मोक्ष का स्वरूप, और

१०. मुक्ति से पुनरावृत्ति

जीव के स्वरूप पर विचार करते हुए स्वामी दयानन्द ने 'सर्वदर्शन संग्रह' के मत का निराकरण करते हुए अपना मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है। "पृथिवी, जल, वायु इन चार भूतों के परिणाम से यह शरीर बना है। इसमें इनके योग से चैतन्य उत्पन्न होता है, नष्ट हो जाता है।[१]" स्वामी जी ने इस मत का निराकरण करने के लिए इस प्रकार युक्तियाँ दी हैं—

१. पृथिव्यादि भूत जड़ हैं, उनसे चेतन की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती।

२. मद के समान चेतन की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता क्योंकि मद चेतन को होता है, जड़ को नहीं।

३. पदार्थ नष्ट अर्थात् अदृष्ट होते हैं, परन्तु अभाव किसी का नहीं होता। इसी प्रकार अदृश्य होने से जीव का भी अभाव न मानना चाहिए।[२]

'चार्वाक' के प्रति आत्मा की सिद्धि करते हुए उन्होंने 'बृहदारण्यक' उपनिषद् का वचन उद्धृत किया है और इस प्रकार युक्तियाँ दी हैं—

---

१. स०प्र० द्वादश समु० पृ० ५४७

२. वही, पृ० ५४८.

१. जब जीव शरीर से पृथक् हो जाता है तब शरीर से ज्ञान कुछ भी नहीं रहता। जिसके संयोग से चेतनता और वियोग से जड़ता होती है वह देह से पृथक् है।

२. कर्ता के बिना प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? "जैसे आँख सबको देखती है परन्तु अपने को नहीं, इसी प्रकार प्रत्यक्ष का करने वाला (अपना) अपने को ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं कर सकता।[१]" इस प्रकार 'चार्वाक्' के प्रति 'देह से भिन्न आत्मा है', यह दिखलाया गया है।

यदि जीव क्षणिक हो तो पूर्वदृष्ट या श्रुत का स्मरण न हुआ करे, किन्तु स्मरण आता है, अतः जीव क्षणिक नहीं।[२] जीव की क्षणिकता का निषेध करने वाली दूसरी युक्ति स्वामी जी ने इस प्रकार दी है— जो क्षणिकवाद ही बौद्धों का मार्ग है तो इनका मोक्ष भी क्षणभंगुर होगा।[३] विज्ञान आदि से भिन्न कोई आत्मा नहीं, इस मन्तव्य का स्वामी जी ने स्पष्टतः कहीं विरोध किया हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता। फिर भी उन्होंने 'बौद्ध' मत का निराकरण करते हुए—"सब अवयवों में अवयवी एक है"[४] यह कह है, जिससे स्पष्ट है, कि वे 'बौद्ध' के प्रति धर्म-धर्मी का भेद सिद्ध करते हैं। अतः विज्ञान आदि से भिन्न कोई आत्मा नहीं है, इस मत का भी निराकरण हो जाता है। इसके अतिरिक्त दयानन्द ने स्थूल आदि शरीरों तथा अन्नमय आदि पञ्चकोशों का स्वरूप दिखलाकर यह स्पष्ट रूप से कहा है, कि जीव इन सबसे पृथक् है—"इन सब कोश अवस्थाओं से जीव पृथक् है— क्योंकि जब मृत्यु होती है तो सब कोई कहता है, कि जीव निकल गया। यही जीव सबका प्रेरक, सबका धर्ता, साक्षी कर्ता, भोक्ता कहलाता है।"[५] अभिप्राय यह है, कि इस विषय में लौकिक तथा परीक्षक जन सहमत हैं और व्यवहार से यह भी विदित होता है, कि शरीर आदि से भिन्न 'जीवात्मा' नामक कोई तत्त्व है। कर्तृव्य, भोक्तृत्व के आधार पर भी 'शरीर' तथा 'विज्ञान' से भिन्न 'आत्मा' की सिद्धि आचार्यों ने की है। दयानन्द कहते हैं —"जो कोई ऐसा कहे कि जीव कर्ता-भोक्ता नहीं तो उसको जानों कि वह अज्ञानी-अविवेकी है; क्योंकि बिना जीव के जो ये सब जड़ पदार्थ हैं, इनको सुख-दुःख का भोग वा पाप-पुण्य कर्तृव्य कभी नहीं हो सकता।"[६]

---

१. स०प्र० द्वादश समु० पृ० ५४९
२. वही, पृ० ५५८
३. वही, पृ० ५६३
४. वही, पृ० ५५७.
५. वही, नवम, समु० पृ० ३२१.
६. वही० पृ० ३२१.

जीवात्मा के स्वरूप को बतलाते हुए 'न्यायसूत्र'[१] एवं 'वैशेषिक सूत्र'[२] उद्धृत करके दयानन्द ने बतलाया है, कि इच्छा द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख, ज्ञान एवं प्राणापान, निमेष-उन्मेष, जीवन, मनन गति तथा क्षुधा-तृषा हर्ष-शोकादि अन्तर्विकार जीवात्मा के कर्म एवं गुण हैं।[३] ये इच्छा आदि शरीर आदि के गुण नहीं क्योंकि जब तक आत्मा देह में होता है तब तक वे गुण प्रकाशित रहते हैं और जब शरीर छोड़ कर चला जाता है तब ये गुण शरीर में नहीं रहते। जिसके होने से जो हों और न होने से न हों वे गुण उसी के होते हैं।[४] यहाँ सरल भाषा में अन्वय-व्यतिरेक द्वारा यह सिद्ध किया गया है, कि ज्ञान-आदि आत्मा के गुण हैं। शरीर के नहीं। ये आत्मा के बोधक भी हैं, "इन्हीं से आत्मा की प्रतीति करनी चाहिए, वह स्थूल नहीं है— जैसे दीप और सूर्यादि के न होने से प्रकाश आदि का न होना और होने से होना है, वैसे ही जीव और परमात्मा का विज्ञान (ज्ञान) गुण द्वारा है।"[५]

यह लक्षण आत्मा का परमात्मा से भिन्न स्वरूप भी दिखलाता है— इतरव्यवछेदक है— "ये जीवात्मा के गुण परमात्मा से भिन्न हैं।"[६] कैसे? "ईश्वर के नित्य ज्ञान, आनन्द अनन्त बल आदि गुण हैं।"[७]

इस कथन में 'नित्य' शब्द को ज्ञान और आनन्द दोनों का विशेषण समझना चाहिए। जैसा कि परमात्मा के स्वरूप के विवेचन में दिखलाया जाएगा। ईश्वर में नित्य ज्ञान आदि होते हैं। इससे यह भी परिणाम निकलता है, कि जीवात्मा के ज्ञान आदि नित्य नहीं होते। कोई एक ज्ञान आदि सदा नहीं रहता अपितु ज्ञान उत्पन्न होता है, नष्ट हो जाता है, यही दयानन्द का अभिमत प्रतीत होता है। इस पर यह प्रश्न हो सकता है, कि उन्होंने अनेक स्थलों पर यह कहा है कि नित्य वस्तु के गुण, कर्म भी नित्य होते हैं।[८]

---

१. इच्छाद्वेषप्रय त्नसुखदुःख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति। न्याय सूत्र—१.१.१०
२. प्राणापाननिमेषोन्मेषजवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नश्चात्मनो लिङ्गानि। वै०सू०— ३.२.४.
३. स०प्र० तृतीय समु० पृ० ७६.७७.
४. वही, सप्तम समु० पृ० —२४९.
५. वही,—पृ० २४९.
६. वही,—पृ० २४९.
७. वही,—पृ० २४८.
८. (क) इन तीनों के गुण, कर्म, स्वभाव भी अनादि हैं। सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समु० —पृ० २७१.
(ख) जो नित्य पदार्थ हैं, उनके गुण, कर्म स्वभाव भी नित्य हैं। (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश— अनु० ६)

फिर आत्मा के ज्ञान आदि गुण भी नित्य ही होंगे। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है, कि दयानन्द ने परमेश्वर के ज्ञान को ही नित्य कहा है। जीवात्मा को सुषुप्ति दशा में ज्ञान रहित बतलाया है—"जैसे जीव सुषुप्ति और प्रलय में ज्ञान रहित हो जाते हैं वैसा परमेश्वर नहीं होता उसका ज्ञान नित्य है।"[१] इस प्रकार उनका अभिप्राय यह प्रतीत होता है, कि जीव में ज्ञान आदि की शक्ति सदा विद्यमान रहती है, इसी से उसके ज्ञान आदि गुण नित्य हैं, किन्तु उसको जो मन, इन्द्रिय आदि द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है वह नित्य नहीं होता अथवा जीव की ज्ञान प्रवाह से अनादि है, नित्य है। इसी प्रकार जीवों के कर्म भी प्रवाह से अनादि हैं।[२]

जीव अनादि-नित्य अविनाशी है तथा अल्पज्ञ है-दयानन्द ने जीव को अनेक स्थलों पर अनादि बतलाया है, यथा —"जीव उत्पन्न कभी न हुआ, अनादि है।[३]" इसी प्रकार "परमात्मा, जीव, जगत् का कल्याण तीन स्वरूप से अनादि है।[४]" जीव अजन्मा है, इसकी कभी उत्पत्ति नहीं हुई। "प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों अज (हैं), जिनका जन्म कभी नहीं होता।[५]" जीव की उत्पत्ति मानने में दो दोष हैं। एक तो यह कि यदि जीव उत्पन्न होंगे तो उनका नाश भी होगा— "जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका नाश अवश्य होता है।" दूसरा यह कि तब जीव को अनित्य मानना पड़ेगा— "जो ऐसा होवे तो जीव अनित्य हो जायें।"[६]

यदि जीव अनित्य होंगे तो कर्म-फल की व्यवस्था न बन सकेगी। वस्तुतः 'जीवात्मा' या 'पुरुष' की उत्पत्ति नहीं होती, न ही उसमें कोई परिणाम होता है—"पुरुष न किसी की प्रकृति उपादान कारण, और न किसी का कार्य।"[७]

जीव का नाश नहीं होता 'नाश रहित जीवात्मा।'[८] मृत्यु के अनन्तर जीवात्मा की प्रतीति नहीं होती किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है, कि उसका अभाव हो जाता है—

---

१. स०प्र० सप्तम समु० पृ० २६५.
२. तेषां कर्माणि, सर्वं कार्यं जगच्च प्रवाहेणैवानादीनिसन्तीति। ऋग्वेदादि० वेदोत्पत्ति०। पृ० २७९.
३. स०प्र०, सप्तम समु० पृ० २४७.
४. वही, अष्टम समु० पृ० २९३.
५. वही, अष्टम समु० पृ० २७१.
६. वही, नवम समु० पृ० ३१८.
७. वही, अष्टम समु० पृ० २७२.
८. वही, सप्तम समु० पृ० २३६.

''अदृश्य होने से जीव का भी अभाव न मानना चाहिए।''[१] इसी प्रकार प्रलय काल में भी जीवात्मा रहता है— ''जीवात्मा ब्रह्म और प्रकृति में लीन होकर वर्तमान था, अभाव न था।''[२] दयानन्द ने 'चार्वाक्' के प्रति आत्मा की अमरता दिखलाते हुए 'बृहदारण्यक' का वचन उद्धृत करके कहा है — ''आत्मा अविनाशी है, जिसके योग से शरीर चेष्टा करता है।'' इस प्रकार जीव की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता, वह नित्य है।

जीव का सामर्थ्य तथा ज्ञान आदि परिमित हैं, सीमित हैं— ''जीव का सामर्थ्य, शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं।''[३] मुक्ति से पुनरावृत्ति का निरूपण करते हुए जीव को अल्प सामर्थ्य वाला तथा अल्पज्ञ बतलाया गया है।[४] जीव का सामर्थ्य और ज्ञान भी योग आदि साधनों के द्वारा बढ़ सकता है, किन्तु कभी भी ईश्वर के समान अपरिमित और अनन्त नहीं हो सकता— ''जीव का परम अवधि तक ज्ञान बढ़े तो भी परिमित ज्ञान और सीमित सामर्थ्य वाला होगा अनन्त ज्ञान और सामर्थ्य वाला कभी नहीं हो सकता।''[५] ''जीव का स्वरूप अल्पज्ञ-अल्प अर्थात् सूक्ष्म है।''[६] 'जैन' मत में जीवों के विषय में विचार करते हुए भी जीव को अल्प तथा अल्पज्ञ बतलाया गया है।[७] 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' में कहा गया है— ''जो इच्छा द्वेष, सुख-दुःख और ज्ञानादि गुणयुक्त अल्पज्ञ नित्य है उसी को जीव मानता हूँ।'' इसी प्रकार अन्य संदर्भों में भी जीव को 'अल्पज्ञ' कहा गया है।

इस प्रकार जीव के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए जीव का प्रकृति तथा परमेश्वर के साथ क्या सम्बन्ध है ? यह भी स्पष्ट दर्शाया गया है।

ईश्वर व प्रकृति से सम्बन्ध

दयानन्द के अनुसार ईश्वर, जीव और जगत् का कारण ये तीन अनादि हैं। उन्होंने ''द्वा सुपर्णा०'' आदि वेदमन्त्र तथा ''अजामेकाम्०'' इत्यादि 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् का वचन उद्धृत करते हुए तीनों के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है। 'प्रकृति',

---

१. स०प्र० द्वादश समु० पृ० ५४८.
२. वही, अष्टम समु० पृ० ३१८.
३. वही, नवम समु० पृ० ३१८.
४. वही, नवम समु० पृ० ३१९.
५. वही, अष्टम समु० पृ० २८१.
६. वही, सप्तम समु० पृ० २५०.
७. वही, द्वादश समु० पृ० ५८५.

'जीव' और 'परमात्मा' तीनों अज हैं अर्थात् इनका जन्म कभी नहीं होता किन्तु जीव से ईश्वर और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप वाले हैं।[१] तीनों का पारस्परिक भेद संक्षेप में इस वाक्य द्वारा समझा जा सकता है—'इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फँसता है और उसमें परमात्मा न फँसता और न उसका भोग करता है।'[२] प्रकृति भोग्य है— भोगने योग्य है, जीव उसका भोग करता है और परमात्मा भोग नहीं करता। उन्होंने प्रकृति का लक्षण दिखलाते हुए स्पष्ट किया है, कि प्रकृति जड़ है, सत्त्व आदि जड़ात्मक गुणों का संघात है। वह जगत् का उपादान कारण है। जगत् के रूप में परिणत होती रहती है। इसके विपरीत जीव और परमेश्वर (पुरुष) हैं— "पुरुष न किसी की प्रकृति-उपादान कारण और न किसी का कार्य है।"[३] जैसा कि सृष्टि उत्पत्ति के संदर्भ में दिखलाया गया है, ईश्वर जगत् का प्रधान निमित्त कारण है और जीव साधारण निमित्त कारण है।[४] अतः दोनों प्रकृति से सर्वथा भिन्न हैं क्योंकि प्रकृति तो जगत् का उपादान कारण है।

जीव और ब्रह्म अर्थात् आत्मा और परमात्मा भी एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। 'नवीन वेदान्ती' के "जीवों ब्रह्मैव नापरः" वचन का दयानन्द ने प्रतिवाद किया है। इसी प्रकार 'वेदान्ती' की जो इस प्रकार की मान्यताएँ हैं कि जीव की सत्ता अविद्याकृत है, अन्तःकरणों की उपाधियों के भेद से एक ही ब्रह्म घटाकाश महाकाश के समान अज्ञानियों को पृथक् -पृथक् प्रतीत होता है या जीव 'ब्रह्म' का प्रतिबिम्ब है अथवा अन्तःकरणों में जो ब्रह्म का आभास होता है, जिसे 'चिदाभास' कहते हैं। वही 'जीव' कहलाता है। ज्ञान से अविद्या का नाश हो जाता है तथा जीव ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। इनका भी विस्तार से खण्डन किया गया है।[५]

अब प्रश्न यह है, कि 'जीव' और 'ईश्वर' भिन्न-भिन्न हैं तो दोनों में भेद किस प्रकार है। इसका उत्तर है— "परमेश्वर अनन्त स्वरूप, सामर्थ्य, गुण, कर्म व स्वभाव वाला है इसलिए वह कभी अविद्या और दुःख बन्धन में नहीं गिर सकता। -जीव मुक्त होकर भी शुद्ध स्वरूप अल्पज्ञ और परिमित गुण स्वभाव वाला रहता है, वह परमेश्वर

---

१. स०प्र० अष्टम समु० पृ० २७१.
२. वही, पृ० २७१.
३. वही, पृ० २७२.
४. वही, पृ० २७४.
५. वही, नवम समु० पृ० ३०६.-३११ एवं एकादश समु० पृ० ३८८-३९८

के सदृश कभी नहीं होगा।''[१] ''अच्छे बुरे कर्मों का कर्ता जीव सुख दुःख का भोक्ता है।''[२] परमात्मा कर्मों का साक्षी और कर्मों का फल देने वाला है।

यद्यपि 'जीव' और 'ब्रह्म' की कुछ अंशों में समानता है जैसे दोनों 'सत्' तथा 'चित्' हैं दोनों में अत्यन्त भेद हैं– ''परमेश्वर के अनन्त ज्ञान, आनन्द, बल, क्रिया, निरभ्रान्तित्त्व और व्यापकता जीव से और जीव के अल्पज्ञान, अल्पबल, अल्पस्वरूप सब, भ्रान्तित्व और परिच्छिन्नतादि गुण ब्रह्म से भिन्न होने से जीव और परमेश्वर एक नहीं हैं।''[३] इन दोनों के गुण ही भिन्न नहीं, ये स्वरूपतः ही भिन्न हैं– ''इनका स्वरूप भी (परमेश्वर अति सूक्ष्म और जीव उससे कुछ स्थूल होने से) भिन्न है।''[४]

'ब्रह्म' व्यापक है वह सभी जीवों में रहता है। इस प्रकार जीव में तथा परमेश्वर में व्याप्य-व्यापक-भाव है। इन दोनों में व्याप्य-व्यापक-भाव कैसे संभव है? यह स्पष्ट करते हुए दयानन्द ने बतलाया है– ''जीव का स्वरूप अल्पज्ञ अल्प अर्थात् सूक्ष्म है और परमेश्वर अतीव सूक्ष्मात् सूक्ष्मतर, अनन्त'' सर्वज्ञ और सर्वव्यापक स्वरूप है। इसलिए जीव और परमेश्वर का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है।''[५]इस पर शंका यह है, कि जिस स्थान में एक वस्तु होती है उस स्थान में दूसरी वस्तु नहीं रह सकती। इसका समाधान करते हुए कहा गया है– ''यह नियम समान आकार वाले पदार्थों में घट सकता है असमानाकृति में नहीं। जैसे लोहा स्थूल, अग्नि सूक्ष्म होता है, इस कारण से लोहे में विद्युत् अग्नि व्यापक होकर एक ही अवकाश में दोनों रहते हैं। वैसे जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म होने से परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है।''[६] इसीलिए ईश्वर को जीव का 'अन्यर्यामी' कहा गया है। उसे 'आत्मा का भी आत्मा' बतलाया गया है।[७] इसके अतिरिक्त 'ईश्वर' और 'जीव' का ''सेव्य-सेवक 'आधाराधेय,'' 'स्वामी-भृत्य', 'राजा-प्रजा' और 'पिता पुत्र' आदि भी सम्बन्ध है।''[८]

इस प्रकार दयानन्द के अनुसार 'जीव' और 'ईश्वर' का भिन्न-भिन्न स्वरूप गुण,

---

१. स०प्र०, नवम समु० पृ० ३१९.
२. वही, पृ० ३०७.
३. वही, सप्तम समु० पृ० २५८.
४. वही, पृ० २५८.
५. वही, पृ० २५०.
६. वही, पृ० २५०.
७. वही, पृ० २५२
८. वही, पृ० २५०

कर्म और स्वभाव है। यद्यपि दोनों चेतन स्वरूप हैं स्वभाव से पवित्र, अविनाशी तथा धार्मिक हैं तथापि परमेश्वर एक है, सृष्टि का कर्त्ता धर्ता, संहर्ता है, जीवों को कर्म फल देने वाला है, नित्यज्ञान, आनन्द, अनन्तबल, आदिगुण वाला है, व्यापक है, किन्तु जीव अनेक हैं, अच्छे बुरे कर्म करने वाले, उनका फल भोगने वाले, रागद्वेष आदि गुण वाले अणु एवं अल्पज्ञ हैं।

जीवात्मा अणु परिमाण

दयानन्द आत्मा को विभु नहीं मानते– "जीव शरीर में भिन्न विभु है वा परिछिन्न"? इस प्रश्न के उत्तर में वे कहते हैं– "परिच्छिन्न, जो विभु होता तो जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, मरण जन्म, संयोग, वियोग, जाना-आना कभी नहीं हो सकता।"[१] जीव के परिच्छिन्न होने से ही जन्म-मरण, कर्मफल भोग तथा बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था सुचारु रूप से बन सकती है। दयानन्द कहते हैं "जीव का स्वरूप अल्प होने से आवरण में आता, शरीर के साथ प्रकट होने रूप जन्म लेता, पापरूप कर्मों के फल भोगरूप बन्धन में फँसता, उसके छुड़ाने का साधन करता, दुःख से छूटने की इच्छा करता और दुःखों से छूटकर परमेश्वर को प्राप्त होकर मुक्ति को भी भोगता है।"[२] वस्तुतः आत्मा के विभुत्त्व की सिद्धि के लिए जो युक्ति दी गयी है वे विचारणीय ही हैं।

'परिच्छिन्न' शब्द का अर्थ है– विभु से भिन्न परिणाम वाला, अव्यापक। 'परिच्छिन्न' परिमाण वाली वस्तु या तो मध्यम परिमाण वाली होगी जैसे शरीर आदि है अथवा अणु परिमाण वाली होगी जैसे परमाणु आदि हैं। प्रश्न यह हो सकता है, कि यदि आत्मा को विभु न मानें तो क्या मध्यम परिमाण वाला मानें। मध्यम परिमाण वाला मानने का अभिप्राय यह है, कि उसे शरीर के आकार का माना जायें, क्योंकि समस्त शरीर में व्यापक सुख-दुःख आदि का उसे अनुभव होता है, 'मेरे सर में दर्द है' 'पैर में पीड़ा है' इस प्रकार का अनुभव सभी को होता है, यह तभी संभव है जब समस्त शरीर में जीवात्मा विद्यमान हो। 'जैन' दर्शन 'जीव' को 'मध्यम परिमाम' वाला मानता है। देह के परिमाण वाला स्वीकार करता है। भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायं में इस मत का खण्डन किया गया है। दयानन्द भी जैनमत की समीक्षा के सम्बन्ध में इन मन्तव्य की आलोचना करते हुए कहते हैं– "आर्हत लोग देह के

---

१. स०प्र० सप्तम समु० पृ० २५०

२. वही, नवम, समु० पृ० ३०६-३०७,

परिमाण से जीव का भी परिमाण मानते हैं, उनसे पूछना चाहिए कि जो ऐसा हो तो हाथी का जीव कीड़ी में और कीड़ी का जीव हाथी में कैसे समा सकेगा।"[१] इस प्रकार मध्यम परिमाण मानने में सबसे प्रबल आपत्ति यह है, कि जीव को संकोच—विकासशाली मानना पड़ेगा, जब वह चींटी के शरीर में प्रविष्ट होगा तो उसका स्वरूप संकुचित हो जाएगा और जब वह हाथी जैसे बड़े शरीर में जाएगा तो उसका स्वरूप फैल जाएगा। ऐसा मानने में जीव परिवर्तनशील होगा और अनित्य हो जाएगा। 'जैन' दर्शन के आचार्यों ने अपनी 'अनेकान्तवादी' धारणा के अनुसार इस आपत्ति का समाधान किया अवश्य है, किन्तु अन्य विद्वान् उनकी युक्तियों से संतुष्ट नहीं हैं।

दयानन्द ने जो जीव को 'परिच्छिन्न' कहा है इसका अभिप्राय 'मध्यम परिमाण'वाला नहीं है अपितु 'अणु-परिमाण' वाला है। 'जैन' मत की समीक्षा के संदर्भ में भी उन्होंने अपने अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए बतलाया है—"जीव एक सूक्ष्म पदार्थ है, जो कि एक परमाणु में भी रह सकता है।"[२] अब प्रश्न यह है, कि यदि जीव 'अणु-परिमाण' वाला है तो समस्त शरीर में चेतना का भान कैसे हो सकता है? इसका उत्तर वहीं अग्रिम पंक्ति में दिया गया है— "उसकी शक्तियां शरीर में प्राण, बिजली, और नाड़ी आदि के साथ संयुक्त होकर रहती है। उनसे सब शरीर का वर्तमान जानता है।"[३] भाव यह है, कि जीव सूक्ष्म है वह शरीर के एकदेश में रहता है और उसकी शक्ति समस्त शरीर में व्यापक रहती है इसी से वह शरीर के प्रत्येक अंग में होने वाली वेदना का अनुभव करता है और सभी अंगों का संचालन भी करता है।

जीव अनेक तथा समान हैं–

दयानन्द का मन्तव्य है, कि जीवात्मा अनेक हैं— "जीव तथा प्रकृतिस्थ तत्त्व अनेक हैं।"[४] उन्होंने "जीव शरीर में भिन्न विभु है वा परिच्छिन्न?"[५] इस प्रश्न में प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न जीव मानकर उसके परिमाण के विषय में ही प्रश्न किया है। अनेक स्थलों पर 'जीवों' इस प्रकार बहुवचन में ही जीव शब्द का प्रयोग किया है। जैसे— "अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य कर्म और साधन जीवों में नहीं।" इसी

---

१. स०प्र० द्वादश समु० पृ० ५८९.
२. वही० पृ० ५८९
३. वही० पृ० ५८९
४. वही० सप्तम समु० पृ० २५७
५. वही० पृ० २५०

प्रकार अन्य स्थलों पर भी जैसा कि आगे दिखाया जायेगा, उन्होंने अनेक युक्तियों से 'जीव' और 'ब्रह्म' का भेद सिद्ध किया है। साथ ही भिन्न-भिन्न जीवों के कर्म के अनुसार जन्म और सुख-दु:ख की प्राप्ति का विस्तार से वर्णन किया है।[१] किञ्च उन्होंने कर्मफल के सन्दर्भ में यह भी कहा है — "सब जीव स्वभाव से सुख प्राप्ति की इच्छा और दु:ख का वियोग होना चाहते हैं।"[२]

अब प्रश्न यह हो सकता है, कि क्या जीवों की संख्या अनन्त है या निश्चित है? भारतीय दर्शन के कतिपय आचार्यों ने यह स्वीकार किया है, कि जीवात्मा अनन्त हैं– अनंत संख्या वाले हैं किन्तु दयानन्द जीवों को अनन्त नहीं मानते। मुक्ति से जीव लौटता है, इस मन्तव्य का प्रतिपादन करते हुए वे कहते हैं– "जो मुक्ति में से लौटकर कोई जीव इस संसार में न आवे तो संसार का अच्छेद अर्थात् जीव निश्शेष हो जाने चाहियें।"[३] यदि उनके मत में जीव अनन्त होते तो यह कथन संगत नहीं होता। इस प्रकार जीव अनेक हैं, प्रत्येक शरीर के भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु अनन्त नहीं। ये सभी जीव स्वभाव से समान हैं। इनमें कोई भेद नहीं है, पशु, पक्षी और मानव के भीतर एक सा ही जीव है। स्त्री पुरुष और बालक वृद्ध के शरीर में समान ही आत्मा है। उन्होंने इस तथ्य को प्रश्नोत्तर द्वारा स्पष्ट किया है–

"**प्रश्न**:– मनुष्य और अन्य पश्वादि के शरीर में जीव एक सा है वा भिन्न-भिन्न जाति के?"

उत्तर– जीव एक से हैं किन्तु पाप-पुण्य के योग से मलिन और पवित्र होते हैं।

प्रश्न–मनुष्य का जीव पश्वादि में और पश्वादि का मनुष्य के शरीर में और स्त्री का पुरुष के और पुरुष का स्त्री के शरीर में जाता आता है वा नहीं?

उत्तर– हाँ, जाता-आता है।'[४]

इस कथन से यह विदित होता है, कि स्वामी दयानन्द के अनुसार सभी प्राणियों में समान रूप से आत्मा वास करती है। उनकी आत्माओं में कोई छोटे-बड़े, ऊँच-नीच का भेद नहीं है। स्त्री-पुरुष में समान रूप से ही आत्मशक्ति विद्यमान है। हाँ,कर्म के भेद से प्राणियों के रूप में भेद हो जाया करता है।

---

१. स०प्र०, नवम समु०, पृ० ३३३-३३८,

२. वही० पृ० ३३३

३. वही, नवम समु० पृ० ३१८

४. वही, पृ० ३३०

कर्म फल-व्यवस्था

परवर्ती सांख्य या वेदान्त के समान दयानन्द जीव को असंग और साक्षी मात्र नहीं मानते अपितु वस्तुत: कर्म का कर्ता और कर्मफल का भोक्ता मानते हैं— 'अच्छे बुरे कर्मों का कर्ता जीव सुख-दु:ख का भोक्ता है जीव कर्मों का साक्षी नहीं, किन्तु कर्ता भोक्ता है।'[१] यह जीव कर्म करने में स्वतंत्र है जैसा अच्छा बुरा कर्म करना चाहे कर सकता है। 'पाणिनि' आचार्य का सूत्र[२] उद्धृत करते हुए कहते हैं— "जो स्वतंत्र अर्थात् स्वाधीन है वही कर्ता है।"[३] स्वामी जी इस कथन का प्रतिवाद करते हुए कहते हैं— "परमेश्वर कर्म कराता तो कोई जीव पाप नहीं करता, क्योंकि परमेश्वर पवित्र और धार्मिक होने से किसी जीव को पाप करने में प्रेरणा नहीं करता। इसलिए जीव अपने काम करने में स्वतंत्र है।"[४]वे जीव की स्वतंत्रता में अन्य भी युक्तियाँ देते हैं जैसे—"पराधीन जीव पाप-पुण्य का भागी नहीं हो सकता।"[५] इस प्रकार उन्होंने जीव की स्वतंत्रता का बलपूर्वक प्रतिपादन किया है, जिससे यह स्पष्ट है, कि दयानन्द का दर्शन पुरुषार्थ पर विशेष बल देता है, कर्मण्यता का पोषक है।

जीव की यह स्वतंत्रता—असीमित नहीं है। वह ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है— "जब वह पाप कर चुकता है तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर पाप के फल भोगता है।"[६] कर्म के फल का भोग किस प्रकार का होता है? उसमें कैसे सुख-दु:ख आदि होते हैं? इन सब बातों का स्वामी जी ने मनुस्मृति के आधार पर विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।[७]

कर्म करने तथा कर्म फल भोगने के लिए परमेश्वर जीव को शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्त:करण आदि साधन प्रदान करता है। दयानन्द ने जीवात्मा की तीन अवस्थाओं, जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति का उल्लेख करते हुए उनके आश्रय रूप में स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण—इन तीन शरीरों का भी वर्णन किया है साथ ही तुरीय शरीर का भी। ये चार शरीर हैं— (i) एक स्थूल जो यह दिखाता है। (ii) दूसरा पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय,

---

१. स०प्र०, पृ० ३०७.
२. स्वतन्त्र: कर्ता। अष्टाध्यायी—१.४.५४.
३. सत्यार्थ-प्रकाश: सप्तम समु० पृ० २४७.
४. वही, पृ० २४८,
५. वही, पृ० २४७,
६. वही, पृ० २४७,
७. वही, नवम समु० पृ० ३३३-३३८

पाँच सूक्ष्म भूत और मन तथा बुद्धि इन सत्रह तत्त्वों का समुदाय। (iii) तीसरा कारण जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है। (iv)चौथा तुरीय शरीर वह कहलाता है, जिसमें समाधि से परमात्मा के आनन्दस्वरूप में मग्न जीव होते हैं।[१] इन शरीरों का वर्णन प्राय: 'उपनिषद्', 'वेदान्त' तथा 'सांख्य' आदि के वर्णन के समान ही है। फिर भी यहाँ कुछ भेद दिखायी देता है। जिसका आधार तुलनात्मक अध्ययन से विदित हो सकेगा।

इन शरीरों का वर्णन करते हुए दयानन्द ने अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँच कोशों का भी विवरण दिया है।[२] वह भी उपनिषद् आदि के आधार पर ही है। इन कोशों का वर्णन करके वे कहते हैं— "ये पाँच कोश कहलाते हैं इन्हीं से जीव सब प्रकार के कर्म उपासना और ज्ञानादि व्यवहारों को करता है।"[३] इन्हीं से वह कर्मफल भी भोगता है। "इनके सम्बन्ध में जीव पाप-पुण्यों का कर्ता और सुख-दु:खों का भोक्ता है।"[४]

जीवात्मा इसी जीवन में सभी भले बुरे कर्मों का फल नहीं भोगता अपितु एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करता है, पुनर्जन्म का ग्रहण करता है।

पुनर्जन्म

दयानन्द ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में वेदमंत्र की व्याख्या करते हुए 'पुनर्जन्म' का संक्षिप्त एवं स्पष्ट वर्णन किया है— "यदा जीव: पूर्वं शरीरं त्यक्त्वा वायुजलौषध्यादिषु भ्रमित्वा पितृशरीरं मातृशरीरं वा प्रविश्य पुनर्जन्म प्राप्नोति तदा स सशरीरो जीवो भवतीति विज्ञेयम्'"[५]—अर्थात् जब जीव पूर्व शरीर को छोड़कर वायु, जल, और औषधि आदि में भ्रमण करके पिता और माता के शरीर में प्रवेश करके फिर जन्म धारण करता है तब वह शरीरधारी जीव होता है। जो जीव ईश्वरीय वेदवाणी को भली भाँति जानकर धर्म का आचरण करता है वह पूर्वजन्म के समान विद्वान् का शरीर धारण करके सुख भोगता है। उससे विपरीत आचरण वाला पशु-पक्षी आदि का शरीर धारण करके दु:खभाजी होता है।[६] इस प्रकार बार-बार मृत्यु और पुनर्जन्म हुआ करता

१. स०प्र०, नवम समु० पृ० ३२१,
२. वही, पृ० ३३१,
३. वही, पृ० ३२०-३२१,
४. वही, पृ० ३२१,
५. ऋग्वेदादि० पुनर्जन्म०, पृ० ५१७
६. द्र० वही, (संस्कृत), पृ० ५१५

है यह 'वेद' तथा 'निरुक्त' के प्रमाण द्वारा दिखलाया है।[1]

'न्यायदर्शन' के "पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः", सूत्र को उद्धृत करके बताया है— "यत् पूर्वशरीरं त्यक्त्वा पुनर्द्वितीयशरीरधारणं भवति तत्प्रेत्य भावाख्यः पदार्थो भवतीति विज्ञेयम्"— जो पूर्व शरीर को छोड़कर पुनः द्वितीय शरीर धारण किया जाता है वह 'प्रेत्यभाव' कहलाता है। 'प्रेत्यभाव' शब्द की व्युत्पत्ति दिखलाते हुए उन्होंने कहा है—"प्रेत्यार्थान् मरणं प्राप्य भावोऽर्थान् पुनर्जन्म धृत्वा जीवो देहवान् भवतीत्यर्थ"[2] 'प्रेत्य' का अर्थ मृत्यु को प्राप्त होकर और भाव का अर्थ है पुनर्जन्म।

पुनर्जन्म को न मानने वालों की शंका यह है, कि हमें पुनर्जन्म का स्मरण क्यों नहीं होता। इसका समाधान करते हुए बतलाया है— "जब इसी जन्म के व्यवहारों को इसी शरीर में भूल जाते हैं तो पूर्व शरीर के व्यवहारों का कब ज्ञान रह सकता है।"[3] इसी प्रकार 'सत्यार्थप्रकाश' में भी 'पुनर्जन्म' को न मानने वालों की शंकाओं का समाधान किया गया है।[4]

'पुनर्जन्म' की सिद्धि के लिए अनेक युक्तियाँ दी गयी हैं। जैसे—

१. परमात्मा न्यायकारी है वह पूर्वजन्म के पाप-पुण्य के बिना इस जन्म में सुख-दुःख नहीं दे सकता।

२. पूर्व जन्म के पाप-पुण्य के बिना उत्तम, मध्यम, नीच शरीर कभी नहीं मिल सकते। इस प्रकार इस जन्म के सुख दुःख आदि को प्रत्यक्ष से अनुभव करके उसके कारण रूप में पूर्वजन्म के पाप-पुण्य का अनुमान किया जाता है।

३. जैसा कि 'योगसूत्र' तथा 'व्यासभाष्य' में बतलाया गया है—जातमात्र कृमि को भी मृत्यु का भय दिखायी देता है— यदि पूर्वजन्म में मृत्यु का अनुभव न होता तो उसका संस्कार भी न होता, संस्कार के बिना स्मृति भी न होती और मृत्यु के स्मरण के बिना मृत्यु से भय भी न लगता। अतः प्राणिमात्र को जो मृत्यु से भय होता है, उससे पूर्वजन्म का अनुमान किया जाता है।[5]

---

१. द्र० ऋग्वेदादि० पुनर्जन्म०, पृ० ५१६.
२. द्र० वही, पृ० ५१८.
३. द्र० वही, पृ० ५२०.
४. सत्यार्थप्रकाश, नवम समु० पृ० ३२६
दयानन्ददर्शन एक अध्ययन—श्रीनिवास शास्त्री, पृ० ७२-७३.
५. ऋग्वेदादि० पुनर्जन्म, प्र०— ५१७

'सत्यार्थप्रकाश' में पुनर्जन्म के विषय में अधिक विस्तार से विचार किया गया है। वहाँ भी यह बतलाया गया है, कि जन्म अनेक होते हैं, यदि एक ही जन्म मानें तो ईश्वर न्यायकारी न रह सकेगा। ईश्वर तो स्वभाव से पवित्र और न्यायकारी है। वह पूर्वजन्म के पाप-पुण्य के बिना किसी को सुख-दुःख नहीं दे सकता।[१] नाना प्रकार के जन्म-मरण में तब तक जीव पड़ा रहता है जब तक उत्तम कर्म, उपासना, ज्ञान को करके मुक्ति को नहीं पाता।[२] यहाँ यह भी विस्तार से बताया गया है, कि जीव किस प्रकार एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करता है।[३] 'ईसाई' तथा 'मुसलमानों' के मत की समीक्षा करते हुए भी पुनर्जन्म को मानने की अनिवार्यता दिखाई गयी है।[४] 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' में जन्म और मृत्यु का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है— "शरीर के संयोग का नाम 'जन्म' और वियोग मात्र को 'मृत्यु' कहते हैं।" वहाँ पूर्वजन्म और पर जन्म का भी उल्लेख किया गया है। "जन्म जो शरीर धारण कर प्रकट होना सो पूर्व पर और मध्य भेद से तीनों प्रकार का मानता हूँ।"[५]

वस्तुतः 'पुनर्जन्म' जीवात्मा के कर्मफल- भोग का एक मार्ग है। वेदमन्त्र की व्याख्या करते हुए दयानन्द बतलाते हैं।— "इस संसार में पाप-पुण्य का फल भोगने के लिए दो मार्ग हैं— एक पितरों अर्थात् ज्ञानियों और देवों अर्थात् विद्वानों का और दूसरा विद्या-विज्ञान आदि से रहित सामान्य जनों का। इसमें एक 'पितृयान' कहलाता है और एक 'देवयान'! जहाँ जीव माता-पिता के द्वारा देह धारण करके पाप-पुण्य के फल जो सुख-दुःख हैं उन्हें बार-बार भोगता है—पूर्व और पर जन्मों को धारण करता है— वह 'पितृयान' नाम का मार्ग है और जहाँ मोक्ष पद को प्राप्त करके जन्म-मरणरूप संसार से मुक्त हो जाता है वह द्वितीय 'देवयान' मार्ग है। इनमें से प्रथम मार्ग में पाप-पुण्य के फल को भोगकर बार-बार जन्म लेता और मरता है। दूसरे मार्ग में न जन्म लेता है और न मरता है।"[६]

'पुनर्जन्म' तथा मुक्ति का दयानन्द ने विस्तार से विवेचन किया है। भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में भी इस पर विचार किया गया है। किन्तु 'ईसाई' तथा

---

१. द्र० स० प्र० नवम, समु० पृ० —३२८
२. द्र० वही, पृ० ३३१.
३. द्र० वही, पृ० ३३१.
४. द्र० वही, त्रयोदश समु० पृ० १४
५. द्र० स्वमन्तव्यामन्त्य प्रकाश, अनु०—४४,४५.
६. ऋग्वेदादि० (संस्कृत) पुनर्जन्म, पृ० ५१७.

'इस्लाम' मत में पुनर्जन्म जैसा मन्तव्य स्वीकार नहीं किया जाता। आज का विज्ञान का युग भी इसे सन्देह की दृष्टि से देखता है। इस विषय पर विचार करके तथा निरीक्षण परीक्षण करने का भी प्रयास किया जा रहा है। स्वामी दयानन्द के अनुयायियों ने भी इस विषय पर प्रचुर साहित्य की रचना की है। फिर भी इस विषय में नवीनतम दृष्टि से विचार करने की अत्यधिक आवश्यकता है। वस्तुतः हमारा 'नैतिक', 'सामाजिक', और 'आर्थिक', दृष्टिकोण पुनर्जन्म के विश्वास पर अत्यधिक निर्भर करता है। इसके साथ 'बन्ध' और 'मोक्ष' की धारणा का भी गहन सम्बन्ध है।

बन्ध और मोक्ष–दयानन्द ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में 'वेद' 'उपनिषद्', तथा 'योग', 'न्याय', 'वेदान्त' आदि के आधार पर मुक्ति का संक्षेप में वर्णन किया है।[१] 'सत्यार्थ प्रकाश' में 'बन्ध' और 'मोक्ष' का कुछ विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। यहाँ एतद्विषयक विभिन्न मन्तव्यों की भी समीक्षा की गयी है। 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश'[२] तथा 'आर्योद्देश्यरत्नमाला'[३] में 'बन्ध' और 'मोक्ष' का वर्णन दिखलाया गया है। 'सत्यार्थप्रकाश' के निम्नलिखित संवाद में 'बन्ध' और 'मोक्ष' का सरल भाषा में निरूपण किया गया है—

''**प्रश्न**–मुक्ति किसको कहते हैं?

उत्तर– मुञ्चन्ति पृथग्भवन्ति जना यस्यां सा मुक्तिः— जिसे छूट जाना हो, उसका नाम मुक्ति है।

प्रश्न– किससे छूट जाना?

उत्तर– जिससे छूटने की इच्छा सब जीव करते हैं।

प्रश्न–किससे छूटने की इच्छा करते हैं?

उत्तर–जिससे छूटना चाहते हैं।

प्रश्न– किससे छूटना चाहते हैं?

उत्तर–दुःख से।''[४]

इससे स्पष्ट है, कि दुःख से मनुष्य छूटना चाहता है, दुःख ही 'बन्ध' है। 'सत्यार्थ

---

१. द्र० ऋग्वेदादि० मुक्तिविषय, पृ० ४८६-४९६.

२. द्र० स्वमन्तव्यामन्व्यप्रकाश, अनु० २९,३०.

३. द्र० आर्योद्देश्यर त्नमाला (मुक्ति) अनु० २९.

४. द्र० स०प्र०, नवम समु० पृ० ३११.

प्रकाश' में अन्यत्र कहा गया है— ''पापरूप कर्मों के फलभोग रूप बन्धन''[१] पापो का फल दु:ख होता है, यह ऊपर वर्णित हो चुका है। 'सांख्य'[२] के आचार्यों के समान ही स्वामी जी ने भी यह दु:ख तीन प्रकार का बतलाया हे। तथा इससे छूटने को ही मुक्ति कहा है— ''जो आध्यात्मिक अर्थात् शरीर सम्बन्धी पीड़ा आधिभौतिक— जो दूसरे प्राणियों से दुखित होना, आधिदैविक— जो अतिवृष्टि, अतिपाप, अतिशीत, मन इन्द्रियों की चंचलता से होता है, इस त्रिविध दु:ख को छुड़ाकर मुक्ति पाना अत्यन्त पुरुषार्थ है।''[३]

बन्ध हेतु-प्रश्न यह है, कि जीव बन्धन में कैसे फँस जाता है? क्या इसका बन्धन स्वाभाविक है? या किसी निमित्त से होता है? स्वामी दयानन्द बतलाते हैं कि जीव स्वभाव से पवित्र है, फिर भी अधर्म, अज्ञान से फँसकर बन्धन में फँस जाता है।

'जीव' का बन्ध और 'मोक्ष' स्वाभाविक नहीं है, दोनों ही निमित्त से होते हैं। यदि 'बन्ध' और 'मोक्ष' स्वभाव से होते तो इनकी निवृत्ति न हो सकती।[४] बन्ध सनिमित्तक अर्थात् अविद्यानिमित्त से है।[५]

'बन्धन' का निमित्त अज्ञान एवं अधर्म है। वस्तु: अज्ञान ही मुख्य निमित्त है। उससे ही अधर्माचरण में प्रवृत्ति होती है। अज्ञान को ही 'अविद्या' भी कहा गया है। किन्तु इस शब्द के प्रयोग में सतर्क रहना होगा। यहाँ 'वेदान्त' अथवा कहिये 'नवीन वेदान्त' की 'अविद्या' से तात्पर्य नहीं है, अपितु इस 'अविद्या' को 'योगशास्त्र' की 'अविद्या' कहना होगा जिसके विषय में 'योगसूत्र'[६] में कहा गया है, कि अनित्य, अशुचि, दुख: तथा अनात्मा को नित्य शुचि सुख और आत्मा समझना ही 'अविद्या' है। 'योगसूत्र' की विशद व्याख्या करके स्वामी जी ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में बतलाया है—''यह चार प्रकार की अविद्या संसार के अज्ञानी जीवों को बन्धन का हेतु होके उनको सदा नचाती रहती है।''[७] 'सत्यार्थ प्रकाश' में भी कहा है— वेत्ति यथावत्तत्त्वपदार्थस्वरूपं

१. स०प्र०, नवम समु०, पृ० ३०७

२. अथ त्रिविधदु:खात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थ:। सांख्यसूक्ष १.१. एवं स० प्र० नवम, समु० पृ० ३४०

३. स०प्र०, नवम समु० पृ० ३४०

४. वही, पृ० ३०६.

५. स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश—पृ० अनु०— ११

६. अनित्या शुचि दु:खानात्मसु नित्य शुचि सुखात्मख्यातिरविद्या। योग सूत्र—२.५,

७. ऋग्वेदादि० मुक्तिविषय, पृ० ४८८.

यया सा विद्या! यथा तत्त्वस्वरूपं न जानाति भ्रमाद् अन्यस्मिन् अन्यान् निश्चनोति यथा साऽविद्या— जिससे पदार्थों का यथार्थ रूप बोध होवे, वह 'विद्या' और जिससे तत्त्व स्वरूप न जान पड़े अन्य में अन्य बुद्धि होवे वह 'अविद्या' कहलाती है।[१] यही 'मिथ्याज्ञान' कहलाता है। इसकेकारण पापकर्म एवं ईश्वर से भिन्न देवों की उपासना में प्रवृत्ति होती है। इसी हेतु इन सबको ही 'अविद्या' के अन्तर्गत रक्खा गया है और कहा गया है— "जो-जो पाप कर्म ईश्वरभिन्नोपासना अज्ञानादि सब दुःख फल करने वाले हैं। इसलिए यह बन्धन है"[२] और वह भी अपवित्र मिथ्याभावनादि कर्म पाषाणमूर्त्यादि की उपासना और मिथ्याज्ञान से बन्ध होता है।"[३]

मोक्ष के साधन–अब मोक्ष के साधनों पर विचार किया जाता है। इस बन्ध से छूटने का नाम मोक्ष है। बन्ध का कारण 'अविद्या' है। अतः अविद्या की निवृत्ति से 'बन्ध' की निवृत्ति हो जाती है, यथा "जब विद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है तब बन्धन से छूट के जीव मुक्ति को प्राप्त होता है।"[४] जैसा अभी ऊपर बन्ध के निमित्त का निरूपण करते हुए बतलाया गया है, 'अविद्या' ही अधर्म तथा ईश्वर भिन्न उपासना की निमित्त होती है इसलिए 'अविद्या' से 'बन्ध' होता है। इस कथन का तात्पर्य दयानन्द के अनुसार यह है, कि मिथ्या ज्ञान, असत् कर्म तथा अनुचित उपासना से बन्ध होता है इसके विपरीत मुक्ति के साधन के विषय में जानना चाहिए। स्वामी जी के अनुसार ज्ञान, कर्म, उपासना तीनों मिलकर मुक्ति के साधन हैं। "नवीन वेदान्ती आदि केवल ज्ञान को ही मुक्ति का साधन मानते हैं।"[५] कुछ 'मीमांसक'[६] तथा 'श्रीधर'[७]जैसे वैशेषिक के आचार्य भी ज्ञान कर्म के समुच्चय को मुक्ति का साधन मानते हैं किन्तु दयानन्द अपनी समन्वय-भावना के अनुसार 'ज्ञान' 'कर्म' और 'उपासना' का समुच्चय स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं —"मुक्ति के साधन ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्या प्राप्ति, आप्त विद्वानों का संग, सत्य विद्या,

---

१. स० प्र०, नवम समु० पृ० ३०५.
२. स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश, अनु०, ११
३. द्र० स० प्र० नवम समु० पृ० ३०६.
४. ऋग्वेदादि० मुक्तिविषय, पृ० ४८८.
५. ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति। वेदान्तसार (पूना—१९२९) पृ० २
६. नैकस्मादपि तत् किन्तु ज्ञानकर्म समुच्यात्। प्रकरण पंचिका, (बनारस) १९६१, पृ० ३५२.
७. किं ज्ञानमात्रान्मुक्ति, उत ज्ञानकर्म समुच्यात्? ज्ञानकर्मसमुच्चयारिति वदामः। न्यायकन्दली पृ० ६८३.

सुविचार और पुरुषार्थ आदि हैं।"[१] 'सत्यार्थ-प्रकाश' में मुक्ति के साधनों का विस्तार से निरूपण किया गया है। वे साधन कुछ अंश में 'वेदान्त' के समान ही कहे जा सकते हैं किन्तु दयानन्द की व्याख्या अपनी ही है। उदाहरणार्थ—विवेक, वैराग्य, षटक्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व, जो इन चार साधनों से युक्त पुरुष होता है, वहीं मोक्ष का अधिकारी होता है।[२] किन्तु इन सभी की व्याख्या में पर्याप्त अन्तर है। 'सदानन्द' जैसे वेदान्तियों के अनुसार विवेक का अर्थ है— "नित्यानित्यवस्तुविवेक"—केवल ब्रह्म ही नित्य वस्तु है अन्य सभी अनित्य है। इस प्रकार का विवेचन। दूसरी ओर दयानन्द की दृष्टि में "जो पृथ्वी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के गुण कर्म स्वभाव से जानकर उसकी आज्ञा पालन और उपासना में तत्पर होना और उसके विरुद्ध न चलना सृष्टि से उपकार लेना-विवेक कहलाता है।"[३]

विवेक के विषय में वे अन्यत्र कहते हैं—"सत्पुरुषों के संग से विवेक अर्थात् सत्यासत्य धर्माधर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय अवश्य करें। पृथक्-पृथक् जाने और शरीर अर्थात् जीव पञ्चकोशों का विवेचन करें।"[४] इसी प्रकार अन्य साधनों की व्याख्या में ऋषि की दृष्टि यथार्थ जीवन पर रही है। उनकी दृष्टि में मोक्ष के समान संसार में यथार्थ है। इसके अनन्तर 'श्रवण' 'मनन', 'निदिध्यासन' और 'साक्षात्कार' इस श्रवणादि चतुष्टय को मुक्ति के साधन के रूप में कहा गया है। वस्तुतः इन सभी साधनों को 'ज्ञान', 'कर्म' और 'उपासना' इन तीनों के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है। किन्तु इस 'ज्ञान', 'कर्म' और 'उपासना' के विषय में भी ऋषि की अपनी दृष्टि है। 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' और 'सत्यार्थ-प्रकाश' में उसका विस्तृत विवेचन किया गया है। वेदभाष्य में यथावसर उसका निरूपण किया गया है। "विद्या चाविद्यां च" इत्यादि 'यजुर्वेद'[५] के मन्त्र की व्याख्या में बतलाया है।— "जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ ही साथ जानता है वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तर जाता है और विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।"[६] यहाँ 'अविद्या' शब्द का अर्थ 'कर्म' और 'उपासना' किया गया है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता

१. स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश, अनु०, १३
२. द्र० स०प्र० नवम समु०, पृ० ३२३.
३. वही, पृ० ३२२,
४. वही, पृ० ३२०
५. द्र० यजुर्वेत—४०. १४,
६. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश—नवम समु० पृ०-३०५.

है। कि 'अविद्या' में पर्युदास अर्थ में 'न' का विद्या शब्द के साथ समास हुआ है न+ विद्या = अविद्या। जैसे "अब्रह्माणम् आनय—अब्राह्मण को लाओ" यहाँ ब्राह्मण भिन्न किन्तु मोक्ष के साधन के रूप में विद्या के समान! फलत: 'कर्म' और 'उपासना' दोनों से अभिप्राय है। दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश' में अन्यत्र भी इस स्थल के 'अविद्या' शब्द का यही अर्थ किया है।[1] यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जो 'अविद्या' बन्ध का कारण कहीं गयी है, वह इससे भिन्न है। दोनों स्थलों में 'अविद्या' शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया गया है। इस प्रकार यह निश्चित है, कि 'ज्ञान', 'कर्म' और 'उपासना' तीनों समुदित रूप से मुक्ति के साधन हैं, किन्तु ऋषि की दृष्टि में इन तीनों का अर्थ वही नहीं है, जो मध्यकालीन परम्परा से चले आ रहे हैं। 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में वे कहते हैं— "परमेश्वर की उपासना करके अविद्या आदि क्लेश तथा अधर्माचरण आदि दुष्ट गुणों का निवारण करके शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभ गुणों के आचरण में आत्मा की उन्नति करके जीवमुक्ति को प्राप्त हो जाता है।"[2]

इस प्रकार यहाँ ज्ञान का अर्थ है शुद्ध ज्ञान या विद्या, जिसके द्वारा योग शास्त्रों में निर्दिष्ट 'अविद्या', 'अस्मिता', 'राग', 'द्वेष' तथा 'अभिनिवेश' नामक पंचक्लेशों का नाश हो जाता है। इनके नाश के बिना मोक्ष कभी नहीं हो सकता।[3] अविद्या का नाश हो जाने पर दोष नष्ट हो जाते हैं। जिससे अधर्म आदि वासना रूप प्रवृत्ति का नाश होकर फिर जन्म नहीं होता और दु:ख का अत्यन्त नाश हो जाता है।[4] इस विद्या का ज्ञान शब्द के द्वारा 'तिनके से लेकर ब्रह्म पर्यन्त के सभी उपयोगी ज्ञान का ग्रहण होता है। उपनिषद् के वचन की व्याख्या करते हुए दयानन्द कहते है— "वेदों में दो विद्या हैं एक अपरा दूसरी परा। इनमें से अपरा यह है, कि जिससे पृथिवी और तृण से लेके प्रकृति पर्यन्त-पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक-ठीक कार्य सिद्ध करना होता है और दूसरी परा जिससे सर्वशक्तिमान् 'ब्रह्म' की यथावत् प्राप्ति होती है।'[5] यहाँ कर्म का अर्थ केवल यज्ञादि परम्परा नहीं। दयानन्द की दृष्टि में वह अनेक प्रकार का है। परन्तु उसके दो भेद मुख्य हैं— एक परम पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए किया जाने वाला कर्म-सत्यभाषणादि, ईश्वर की आज्ञा पालन, जो कर्म काण्ड का प्रधान भाग है और

---

१. स०प्र०, नवम समु० पृ० ३०६
२. द्र० ऋग्वेदादि० मुक्तिविषय, पृ० ४८७.
३. द्र० वही, पृ० ४८९.
४. द्र० वही, पृ० ४९०.
५. द्र० वही, देवविषय, पृ० ३११.

दूसरा लोकव्यवहार की सिद्धि के लिए अर्थ और काम की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला कर्म। ये सभी कर्म जब केवल परमेश्वर की प्राप्ति के लिये निष्काम भाव से किये जाते हैं तो वे 'निष्काम कर्म' कहे जाते हैं, किन्तु जब लौकिक-सुख के लिये किये जाते हैं तब 'सकाम कर्म' कहलाते हैं।[१] कर्म के भीतर यज्ञादि के साथ-साथ सत्याचरण आदि सभी व्यक्तिगत धर्म आ जाते हैं। दयानन्द की दृष्टि में सत्यधर्म के अनुष्ठान से 'ब्रह्म' की प्राप्ति होती है, और 'मोक्ष' की भी।[२] इसके साथ ही परोपकार, पक्षपात रहित न्याय आदि भी मुक्ति के साधन हैं।[३] निष्काम कर्म से मोक्ष की प्राप्ति होती है और सकाम कर्म लौकिक सुख-दुःख के साधन होते हैं। कर्म के विषय में आगे विस्तारपूर्वक विचार किया जायेगा।

मुक्ति की तीसरा साधन 'उपासना' है। ऋषि ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में स्तुति, प्रार्थना और उपासना का अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया है तथा 'सत्यार्थ-प्रकाश' में भी इसके अतिरिक्त अन्य कई ग्रन्थों में इसका संक्षेप में उल्लेख है। 'आर्याभिविनय' में वेद मन्त्रों के आधार पर स्तुति और प्रार्थनाओं का स्वरूप दिखाया है। वस्तुतः 'आर्याभिविनय' एक वैदिक स्तोत्र कहा जा सकता है। जो विविध प्रार्थनाओं का आगार है।

ऋषि की अभीष्ट प्रार्थनाओं में व्यक्तिगत अभ्युदय की कामना है,[४] उनमें समाज कल्याण, सुराज्य, स्वतन्त्रता, चक्रवर्ती राज्य तथा मानव-कल्याण की भावना भी है,[५] और साथ ही ईश्वर प्राप्ति या मोक्ष प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा है।[६] उन्होंने 'उपासना' के

---

१. द्र० ऋग्वेदादि० देवविषय, पृ० ३१४-३१५.
२. वही, वेदोक्त, धर्म, पृ० ३९८
३. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश, नवम समु० पृ० ३११-३१२.
४. (क) कृपया मय्यपि शरीरबुद्धिशौर्यस्फूर्त्यादिवीर्यं पराक्रमं स्थिरं धारय—परमोत्तमं राज्यदिधन, मस्मदर्थं दधातु। ऋग्वेदादि, स्तुति प्रार्थना, पृ०-४४५.
(ख) अस्मानपि न्यायधर्मयुक्तान् कुरु। वही, पृ० ४४९.
५. (क) वेदविद्यां ब्राह्मणवर्णं च धारय। वही, पृ०-४४९.
(ख) कृपया सुराज्य—सुनियम—सुर त्नादीनि धारय। वही, पृ० ४४९.
(ग) स्वतन्त्रतया सदैव पुष्टिमातः प्रसन्नान् कुरु। वही, पृ०-४४९
(घ) चक्रवर्तिराज्यं स्थिरं स्यात्। वही, पृ० ४४८.
(ङ) सर्वमनुष्योपकारं वयं कुर्मः। वही, पृ० ४४९.
६. (क) ईश्वरप्राप्त्यर्थं सर्वं स्वकीयमायुः कल्पताम्। वहा `, पृ० ४५२.
(ख) परमानन्दं मोक्षं सर्वदा प्राप्ता भवेम। वही, पृ० ४५२,

सन्दर्भ में स्तुति, प्रार्थना और समर्पण आदि सभी का निरूपण किया है। इन सभी में 'उपासना' पूर्ण होती है। ऋषि की दृष्टि में एक परमेश्वर ही उपास्यदेव है। उसी को आत्मसमर्पण करके जीवात्मा मोक्ष-सुख प्राप्त कर सकता है, यथा– "जो मनुष्य अपनी सब चीजें परमेश्वर के अर्थ समर्पित कर देता है उसके लिये परमकारुणिक परमात्मा सब सुख देता है, इसमें सन्देह नहीं।"[१] और "सब मनुष्य अपनी आयु को ईश्वर की सेवा और आज्ञापालन में समर्पित करें।"[२]आगे कहा है– "ऐसा अभागी मनुष्य कौन है, जो सर्वज्ञ, न्यायकारी, सबके पिता एक परमेश्वर को छोड़ कर दूसरे की उपासना करे।"[३] "यह उपासना मोक्ष का प्रमुख साधन है—मुक्ति का उत्तम साधन उपासना है।"[४] उपासना की सिद्धि के लिए योगशास्त्र में निहित साधना का ऋषि ने विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। वेद मन्त्रों तथा उपनिषद् के वचनों से भी इसके स्वरूप को स्पष्ट कहा है। इस सन्दर्भ में कई स्थलों पर उन्होंने 'योगसूत्र' आदि की नवीन व्याख्या भी की है। साथ ही 'सगुण' तथा 'निर्गुण' उपासना का स्वाभिमत अर्थ भी दिखलाया है।[५]

मोक्ष का स्वरूप

मोक्ष के स्वरूप के विषय में भी भारतीय दर्शन में विविध मत दृष्टिगोचर होते हैं। दयानन्द ने उनमें से अनेक मतों की 'सत्यार्थ-प्रकाश' में समीक्षा की है।[६] यहाँ तो केवल उनके अभिमत मोक्ष-स्वरूप का निरूपण करना ही वांछनीय है। ऋषि की दृष्टि में मोक्ष परम पुरुषार्थ है। वे 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' की आरम्भिक प्रार्थना में 'धर्मार्थकाममोक्ष' इस 'पुरुषार्थचतुष्टय' की कामना करते दिखलायी देते हैं। फिर भी इन चारों में परम पुरुषार्थ तो मोक्ष ही है।

यह मोक्ष नित्यानन्द रूप है, "नित्यानन्दमोक्षप्राप्ता भवन्ति"[७]इस प्रकार 'निःश्रेयस्' का अर्थ करते हुए उन्होंने कहा है "पारमार्थिकं मोक्षसुखम्।"[८] अन्य स्थलों पर भी

---

१. ऋग्वेदादि० स्तुतिप्रार्थना, पृ०-४५३.
२. वही, पृ० ४५२.
३. वही, पृ० ४५३.
४. वही, पृ० ४५४.
५. वही, पृ० ४८३-४८६,
६. द्र० स० प्र०, नवम समु० ११,१२.
७. ऋग्वेदादि० वेदोक्तधर्म० पृ० ३९८.
८. वही, पृ०-३९९.

कहा है—"मोक्षाख्ये परमे पदे सुखिनः सन्ति"[१] "परमानन्द मोक्षम्।"[२] इसी प्रकार "जब इस मनुष्य का हृदय सब बुरें कामों से अलग हो कर शुद्ध हो जाता है तभी वह अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होकर आनन्द युक्त होता है।"[३] यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है, कि जब मुक्ति में स्थूल शरीर नहीं रहता तो जीवात्मा आनन्द या परमसुख का भोग कैसे करता है। इसके उत्तर में छान्दोग्योपनिषद् (प्र०—८.१२.१४) को उद्धृत करते हुए ऋषि ने कहा है—"वह जीव शुद्ध इन्द्रिय और शुद्ध मन से इन आनन्द रूप कामों को देखता है और भोगता (है)।"[४] यहाँ 'वेदान्त'[५] सूत्रों के आधार पर यह भी विवेचन किया गया है, कि मोक्ष में शुद्ध मन तथा इन्द्रिय रहते हैं या नहीं इस विषय में आचार्यों का मतभेद रहा है। 'बादरी' आचार्य के मत में ये नहीं रहते 'जैमिनि' के अनुसार मोक्ष में ये रहते ही हैं और 'बादरायण व्यास' के अनुसार भी मोक्ष में क्लेश अज्ञान आदि का अभाव, किन्तु परमानन्द ज्ञान, शुद्धता आदि का भाव रहता है। स्वामी जी का भी यही मन्तव्य है। उन्होंने 'सत्यार्थ-प्रकाश' में इसका विशद निरूपण किया है।[६]

मोक्ष ब्रह्मलोक की प्राप्ति है-

स्वामी जी ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' तथा 'सत्यार्थ-प्रकाश' में अनेक स्थलों पर ब्रह्म या ब्रह्मलोक की प्राप्ति को ही मोक्ष का स्वरूप बतलाया है—"स्वयं च मोक्षस्वरूप.................... सर्व प्रकाशकोऽस्ति"— वह स्वयं मोक्ष स्वरूप तथा........ सबका प्रकाशक है।[७] "जो कि आत्मा का भी अन्तर्यामी है उसी को ब्रह्म कहते हैं और वही अमृत अर्थात्—मोक्ष—स्वरूप है।"[८] ब्रह्मलोक या मोक्षपद कहीं अन्य स्थान में नहीं है—"ब्रह्म जो सर्वत्र व्यापक हो रहा है, वही मोक्ष पद कहलाता

---

१. ऋग्वेदादि० सृष्टि-विद्या, पृ० ४१९.
२. वही, स्तुतिप्रार्थना, पृ० ४५२.
३. वही, मुक्तिविषय, पृ० ४९२.
४. वही, पृ० ४९२.
५. अभावं वादरिराह ह्येवम्। भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्।। द्वादशाध्वदुभयविधं बादरायणोऽतः। ब्रह्मसूत्र—४.४., १,११,१२.
६. स०प्र०, नवम, समु० पृ० ३१२-३१५,
७. ऋग्वेदादि० सृष्टिविद्या, पृ० ४०७.
८. वही, मुक्तिविषय, पृ० ४९३.

है।''[१] तथा ''ब्रह्मलोक अर्थात् दर्शनीय परमात्मा।'' मुक्ति के समय उस ब्रह्म में जीव सर्वत्र ''बे रोक-टोक विरचरता है।'' उनका जाना-आना सब लोक-लोकान्तरों में होता है। उनके लिये कहीं रुकावट नहीं रहती।[२] ''जो ब्रह्म सर्वत्र पूर्ण है उसी में मुक्ति जीव अव्याहत गति अर्थात् उसको कहीं रुकावट नहीं, विज्ञान आनन्दपूर्वक स्वतन्त्र विचरता है।''[३]

परमेश्वर के ज्ञान या ब्रह्मज्ञान की दयानन्द ने अनेक स्थलों पर विशद व्याख्या की है, ब्रह्मप्राप्ति या ब्रह्मलोक-प्राप्ति को मोक्ष का स्वरूप भी बताया है, किन्तु ऋषि ने नवीन वेदान्तियों के समान मोक्षावस्था में ब्रह्म और जीव की एकता—'अद्वैतभाव' नहीं माना। 'वेदान्तियों' के मत का अनेक स्थलों पर खण्डन करते हुए यह स्थापना की है, कि मुक्ति में जीव का लय नहीं होता अपितु वह ब्रह्म में स्वतन्त्र रूप से विद्यमान रहता है[४] और ''जो मुक्ति में जीव का लय होता, तो मुक्ति का सुख कौन भोगता? और जो जीव के नाश ही को मुक्ति समझते हैं, वे तो महामूढ़ हैं, क्योंकि मुक्ति जीव की यह है, कि दुःखों से छूटकर आनन्दस्वरूप, सर्वव्यापक, अनन्त परमेश्वर में जीव का आनन्द में रहना।''[५] आगे वे कहते हैं—''ब्रह्म में लय होना समुद्र में डूब मरना है।''[६] जो 'नवीन वेदान्त' में 'बादरायण' के ''सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् (ब्रह्मसूत्र—४.४.१) आदि के आधार पर मोक्ष में जीवात्मा की ब्रह्मरूपता मानी गयी है। इसका ऋषि ने यह कहते हुए निराकरण कर दिया है, कि इन सूत्रों का अर्थ इस प्रकार नहीं है।''[७]साथ ही उन सूत्रों का स्वाभिमत अर्थ भी स्पष्ट कर दिया है।[८] इस विषय में वे कहते हैं कि— ''जीव मुक्त होकर भी शुद्ध स्वरूप अल्पज्ञ और परिमित गुण, कर्म, स्वभाव वाला रहता है, वह परमेश्वर के सदृश कभी नहीं होता।''[९] ''अहं ब्रह्मास्मि'', ''अयमात्मा ब्रह्म'' इत्यादि जो ब्राह्मण के वचन हैं। वहाँ तातस्थ्योपाधि है, यथा—''जीव को ब्रह्म

---

१. ऋग्वेदादि० मुक्तिविषय, पृ० ४९२.
२. स०प्र०, नवम समु० पृ० ३१५.
३. स०प्र०, नवम समु०, पृ० ३१२.
४. वही, ३१३.
५. वही, ३१९.
६. वही, एकादश समु० पृ० ३९५.
७. वही, पृ० ३९५, ३९६.
८. वही, नवम समु० पृ० ३१९
९. वही, सप्तम समु०, पृ० २५१.

का ज्ञान (होता है) और मुक्ति में वह ब्रह्म के साक्षात् सम्बन्ध में रहता है। इसलिए जीव ब्रह्म के साथ-ताटस्थ्य (है) वा तत्सहचरितोपाधि (है) अर्थात् ब्रह्म का सहचारी जीव है। इसमें जीव और ब्रह्म एक नहीं।'' हाँ, जो जीव समाधिस्थ परेश्वर में प्रेमबद्ध होकर निमग्न होता है, वह कह सकता है, कि मैं और ब्रह्म अर्थात् अविरोधी, एक अवकाशस्थ है। इसी प्रकार 'जो जीव परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल अपने गुण, कर्म स्वभाव करता है, वही साधर्म्य से ब्रह्म के साथ एकता कह सकता है।'[१]

इस प्रकार ''मुक्त जीवात्मा ब्रह्म में रहता है, उसको सांसारिक दु:ख सुख का स्पर्श भी नहीं होता किन्तु सदा आनन्द में रहता है।''[२]

स्वामी दयानन्द मुक्ति के आनन्द को अनन्त नहीं मानते। उन्होंने 'सत्यार्थ-प्रकाश' में युक्ति और प्रमाणों के आधार पर यही प्रतिपादित किया है, कि मुक्ति से जीव लौटता है—पुन: जन्म लेता है।

मुक्ति से पुनरावृत्ति

भारतीय विचारकों की सामान्य रूप से यही धारणा रही है, कि मोक्ष प्राप्त करने के पश्चात् जीव पुन: जन्म-मरण-रूपी संसार में नहीं आता। 'छान्दोग्योपनिषद्' (प्र० ८.१५) में कहा गया है, कि ''न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते।'' ब्रह्मसूत्र (४.४.३३) में ''अनावृत्ति: शब्दादनावृत्ति: शब्दात्'' इत्यादि कहा गया है और 'भगवद्गीता (१५.६) में भी स्पष्ट किया गया है, कि ''यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम''— जहाँ से नहीं लौटते यह मेरा परम धाम है। इस प्रकार के वचनों से विदित होता है, कि मुक्ति वही है, जिससे लौटकर पुन: संसार में कभी नहीं आता।[३]

स्वामी दयानन्द कहते हैं कि — ''यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि वेद में इस बात का निषेध किया है।''[४] उन्होंने 'ऋग्वेद'[५] के मन्त्रों के आधार पर यह स्थापना की है, कि वह परमात्मा ''हम को मुक्ति में आनन्द भोग कराकर पृथिवी में पुन: माता-पिता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता-पिता का दर्शन कराता है।''[६]

---

१. स०प्र०, सप्तम समु०, पृ० २५१.
२. वही, नवम, समु०, पृ० ३१५.
३. स०प्र० नवम समु० पृ० ३१६.
४. वही, पृ० ३१६.
५, ऋग्वेद १,२४.१-२.
६. स०प्र० नवम, समु० पृ० ३१६.

मुक्ति से पुनरावृत्ति होती है। इस मन्तव्य की वेदमन्त्रों के आधार पर स्थापना करके दयानन्द ने 'इदानीमिवसर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः'[१] इस 'सांख्यसूत्र' को अपने मन्तव्य के समर्थन के लिए उद्धृत किया है और कहा है— "जैसे इस समय बन्ध मुक्त जीव हैं, वैसे ही सर्वदा रहते हैं। अत्यन्त विच्छेद बन्ध मुक्त का कभी नहीं होता, किन्तु बन्ध और मुक्ति सदा नहीं रहती।"[२]

इस पर शंका होती है, कि 'न्यायसूत्र' (१.१.२२) में तो "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" अर्थात् जो दुःख का अत्यन्त विच्छेद होता है वही मुक्ति कहलाती है ऐसा कहा गयाहै फिर मुक्ति से आवृत्ति कैसे मानी जा सकती है? इसके उत्तर में स्वामी जी कहते हैं कि 'अत्यन्त' शब्द का अर्थ केवल अत्यन्ताभाव ही नहीं होता, अपितु अत्यधिक (बहुत) भी होता है। यहाँ अत्यन्त शब्द का यही अर्थ जानना चाहिए।[३]

इस मन्तव्य के समर्थन में स्वामी दयानन्द ने इस प्रकार की युक्तियाँ दी हैं—

१. जीव का सामर्थ्य-शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित है, अतः न तो उसके साधनों का फल अनन्त हो सकता है और न ही वह अनन्त सुख को भोग सकता है।

२. जिसके साधन अनित्य हैं, उसका फल नित्य कभी नहीं हो सकता।

३. यदि मुक्ति से लौट कर कोई जीव इस संसार में न आवे तो संसार का उच्छेद हो जावे। यह ऊपर वर्णित हो चुका है, कि दयानन्द की दृष्टि में जीव अनेक तो हैं, अनन्त नहीं हैं और जीव नित्य हैं, नये उत्पन्न नहीं होते। यदि जीवों की उत्पत्ति मानी जाये तो मुक्ति भी अनित्य ही होगी[४] और जो परमेश्वर नये जीव उत्पन्न करता है तो जिस कारण से उत्पन्न होते हैं वह निवृत्त हो जायेगा।[५]

४. दुःख के अनुभव के बिना सुख कुछ भी नहीं हो सकता।[६] जैसे — कोई मनुष्य मीठा = मधुर की खाता पीता जाय उसको वैसा सुख नहीं होता जैसा सब प्रकार के रसों को भोगने वाले को होता है।[७] अतः मुक्ति का आकर्षण इसी में है, कि जीव दुःख के बाद सुख और सुख के बाद दुःख-सुख भोगता रहे। यह तभी संभव है, कि मुक्ति

---

१. सांख्यसूत्र, १.१.५९,
२. स०प्र० नवम, समु० पृ० ३१५-३१७.
३. वही, पृ०-३१७.
४. वही, पृ०-३१८.
५. वही, पृ०-३१९.
६. वही, पृ०-३१८.
७. वही, पृ० ३१८

के पश्चात् पुनर्जन्म माना जाये। यदि जीव मुक्ति से न लौटेगा तो संसार के दुःखों से पीड़ित होकर भी मुक्ति की कामना न करेगा। जैसे कोई स्वल्पकालीन कारागार से बचकर आजीवन कारावास की सजा या फाँसी की सजा भोगना नहीं चाहता।[१]

५. जो ईश्वर अन्त वाले कर्मों का अनन्त फल देवे तो उसका न्याय नष्ट हो जाये।[२] साथ ही ईश्वर की बुद्धिमत्ता और सर्वज्ञता के भी यह प्रतिकूल होगा क्योंकि अल्पज्ञ अल्प सामर्थ्य वाले जीव पर अनन्त सुख का भार धरना ईश्वर के लिए ठीक नहीं।[३]

स्वामी दयानन्द ने 'मुण्डकोपनिषद्' का वचन प्रस्तुत करते हुए यह भी बताया है, कि ब्रह्मलोक में 'परान्तकाल' पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोगकर जीव पुनः संसार में आते हैं। इस 'परान्तकाल' की गणना भी उन्होंने दिखलायी है और अन्त में इस शंका का समाधान करते हुए कहा है, कि ऐसी तो मुक्ति भी जन्म-मरण के सदृश है, इसलिए श्रम करना व्यर्थ है। वे आगे कहते हैं— "उतने समय पर्यन्त जीवों को मुक्ति में आनन्द में रहना दुःख का न होना क्या छोटी बात है और जब क्षुधा, तृषा, क्षुद्रधन, राज्य प्रतिष्ठा, स्त्री, सन्तान आदि के लिए उपाय करना आवश्यक है।"[४] तो मुक्ति के लिए क्यों न करना? जैसे मरना अवश्य है, तो भी जीवन का उपाय किया जाता है वैसे ही मुक्ति से लौटकर जन्म में आना है तथापि उसका उपाय करना आवश्यक है।

इस प्रकार यहाँ स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित 'जीवात्मा' के 'स्वरूप', 'सांख्य' 'कर्मस्वातन्त्र्य', 'कर्मफलभोक्ता', 'पुनर्जन्म', 'बन्धमोक्ष', 'ईश्वर' एवं 'प्रकृति' से सम्बन्ध पर विशदता के साथ विवेचन प्रस्तुत किया गया। यहाँ यह बात भली प्रकार से उभर कर सामने आती है, कि स्वामी दयानन्द के विचार में भारतीय दर्शनों के समान भ्रम, शंका या सन्देह के लिए कोई अवसर शेष नहीं रहता है। स्वामी दयानन्द के विचार यथार्थ और तर्कसंगत हैं। प्राचीन 'भारतीय दर्शनों' से उन्होंने अपने विचारों की पुष्टि हेतु बहुत से उद्धरण ग्रहण किये हैं। उनके कुछ विचार मौलिक भी हैं। कुछ विचारों को प्राचीन दर्शनों से ग्रहण करके भी अपनी निजी ज्ञानधारा और अनुभव के आधार पर उनको आवश्यक विस्तार प्रदान किया है। कई बार तो प्रश्नोत्तर शैली में विषय को सुव्यक्त करने का प्रयास किया गया है। जीवात्मा के स्वरूप पर अभी तक

---

१. वही, स०प्र० नवम, समु० पृ० ३१८-३१९
२. वही, पृ० ३१८-३१९
३. वही, पृ० ३१९
४. वही, पृ० ३२०

इतनी पूर्णता के साथ एकाग्र रूप में समग्र चिन्तन स्वामी दयानन्द को छोड़कर अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। उनके विचार स्वानुभूत हैं जिनका पाठक पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। 'पं० मेधाव्रताचार्य' ने स्वामी जी के ग्रन्थों का अनेकों बार गहन अध्ययन किया है। उनके विचारों पर स्वामी दयानन्द की छाप गहन रूप से पड़ी है। अपने ग्रन्थों में स्वामी दयानन्द के मन्तव्यों को पूर्णता के साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न वहाँ है। उन्होंने जो भी रचनाएँ रचीं उस पर दयानन्द की विचारधारा की झलक साफ-साफ दिखालायी पड़ती है। 'मेधाव्रताचार्य' जी के ग्रन्थों में 'जीवात्मा परक' जो विचार सरिणी उपलब्ध होती है। आगे उसी का क्रमिक विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। सर्वप्रथम 'दयानन्ददिग्विजय' पर विचार किया जा रहा है। मोक्ष की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। स्वामी दयानन्द ने 'अभ्युदय और मोक्ष मार्ग दिखलाया था। इसका प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं कि इस महान् ''संन्यासी दयालु हृदय ने मतमतान्तरों की खाइयों में पड़े लोगों को सदुपदेश की सीढ़ियों द्वारा बाहर निकाला और दुःख मार्ग से हटाकर अभ्युदय और मोक्ष के महान् मार्ग पर ला खड़ा किया,'' यथा—

अबोधगर्त्ते पतितानयं जनान् सुबोधसोपानपरम्परां दिशन्।
यतिर्दयोर्द्रेण हृदा य आपदां पथोऽतयन्मुक्तिसमृद्धिसत्पथम्।। [१]

स्वामी जी ने समाज के सुधार हेतु वेद के मार्ग पर चलने का उपदेश दिया। इस पर कवि लिखते हैं कि जैसे मनोहर मेघमण्डल महासागर में से जल ग्रहण कर गर्मी से तपे भूतल को अपनी सुन्दर वर्षा से आह्लादित करते हैं वैसे ही जगद्गुरु दयानन्द ने वेदों के उपदेशामृत लेकर त्रिविध उग्रतापों से तपे जगत् को अपनी मधुर वाणी रूपी वर्षा से आनन्दित किया, यथा—

महोग्रतापत्रयतापितं जगज्जगद्गुरुर्वेदमहार्णवोदरात्।
निपीय बोधामृतम्बु वर्षणैरहर्षयद्योऽम्बुधरो मनोहरः।। [२]

जीवन के चरम लक्ष्य 'मोक्ष' की प्राप्ति हेतु भारत में आश्रम व्यवस्था प्रचलन में थी। उस समय आश्रम तेजस्वी ब्रह्मचारियों से दीप्त रहते थे, यथा—

सुभोगमोक्षो भयसौख्यभोगिनां, समग्रसंसारहितैषिणां सताम्।
पदे पदे तेगृहमेधिनामभुः सुवर्णवर्णीन्द्रविराजिताश्रमाः।। [३]

---

१. द०दि० १.१०.
२. द०दि० १.११.
३. द०दि० १.१४.

'सत्यार्थ-प्रकाश' और 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' में स्वामी जी ने वैदिक आश्रम व्यवस्था का सुन्दर वर्णन किया है। भारत भूमि वैदिककाल में हरे भरे वृक्षों और फल-फूलों तथा अन्न से भरे खेतों से लहलहाती रहती थी। इहलोक और परलोक का सुख यहाँ के निवासी लूटते रहते थे। कवि का विचार है कि इसका उपभोग वीर ही कर सकते हैं, यज्ञ के लिए प्रशस्त भूमि है, पवित्र आत्मा के लिए यह कल्प वृक्ष सी है। सांसारिक सुख और मोक्ष प्राप्ति में यह अर्धाङ्गिनी की तरह रक्षा करती है।[१]

सत्य ज्ञान पाने के लिए यहाँ के लोग निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। आधुनिक युग में स्वामी दयानन्द ने वैदिक मार्ग को पुनः प्रशस्त किया है। स्वामी जी के जीवन को चूहे की घटना ने हिला कर रख दिया था। वे सच्चे शिव के अन्वेषण में लगे थे। इस घटना का कवि ने जो अनूठा वर्णन किया है उसमें से निदर्शन रूप में कुछ श्लोक उद्धृत हैं। कवि का कथन है, जो महेश्वर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाले हैं, जो तेजस्वरूप अभ्युदय और मोक्ष के देने वाले हैं। जो उग्र और शान्त रूप हैं, वे चूहे का तिरस्कार कैसे सह सकते हैं यथा—

यः सर्गसर्गस्थितिनाशकारी भर्गोऽपवर्गाभ्युदयाधिकारी।
प्रशान्तरुद्रोभयपुण्यमूर्तिः क्षुद्रापकृत्यं स कथं सहेत।। [२]

स्वामी जी मूर्तिपूजा के घोर विरोधी थे। चूहे के द्वारा नैवेद्य खा जाने पर 'शिव' की मूर्ति चूहे का कुछ भी न बिगाड़ सकी तो जड़पूजा के सत्य को समझकर उन्होंने मूर्तिपूजा से विरक्ति पा ली और जीवन पर्यन्त उसका खण्डन करते रहे यथा— उनका विचार था कि जीवात्मा तो हमेशा ज्ञानाभिलाषी है और मूर्ति जड़ है अतः मूर्ति उसके ज्ञान की वृद्धि में किंचित भी सहायता नहीं करती है। इसलिए इस मूर्ति की पूजा से मुक्ति एवं परमात्मा प्राप्ति क्योंकि संभव है—

जीवात्मनां ज्ञानजुषां कृते या, जडार्चना नैव फलं प्रसूते।
तत्सेवया कः परमार्थलाभः शिवोपलब्धिश्च कथं भवेन्नु।। [३]

शंकर दर्शन के लिए उत्कण्ठित इस ब्रह्मचारी ने अपने पवित्र अंतःकरण रूप दर्पण में जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाने के लिए विषय वासनाओं के त्याग को ही एकमात्र उपाय देखा। उसने निश्चय किया कि — मैं जब तक मरणकाल के दुःख की

---

१. द० दि० २.४.
२. द० दि० ४.५७.
३. द० दि० ४.६९

पीड़ा से बचाने वाली और अक्षय आनन्द को सिद्ध कराने वाली मंगल कारक-मुक्ति को प्राप्त न कर लूँगा, तब तक तपश्चरण ही करता रहूँगा।[१]

पिता उन्हें सांसारिक बन्धनों में बाँधना चाहते थे किन्तु वे तो 'ईश्वर' को पाने के इच्छुक थे। अत: विवाह का प्रस्ताव त्याग कर वे घर छोड़ने को विवश हो गये। ये मृत्यु के भय से व्याकुल हो उठे थे, इसलिए विषय को त्याग देने का निश्चय कर लिया था। जब विवाह की पूरी तैयारी देखी, तब वे घर छोड़ने को जल्दी ही विवश हो गये।[२]

कुछ दिन पश्चात् घर से निकलकर उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया और वे 'शुद्ध चैतन्य' नाम से पुकारे जाने लगे। वे 'ब्रह्म' के आनन्द में लीन होना चाहते थे। अत: कुछ धूर्त लोगों ने उनके उत्तम वस्त्र भी उतरवा लिये। इसीलिए ये उन लोगों से बचकर रहने लगें। 'शुद्ध चैतन्य' के शरीर पर वस्त्र थे। इससे वे महान् धूर्त इनका उपहास करने लगे थे। किन्तु ब्रह्मचारी 'शुद्ध चैतन्य' तो सांसारिक सब बन्धनों से मुक्त होकर ब्रह्मानन्द में लीन होना चाह रहे थे, यथा–

इति विमृश्य तत: पृथगावसन्नयमजस्त्रमहासि महाशठै:।
परिदधान उदंशुकमङ्गके कविरतो विरतो भवबन्धनात्।। [३]

इधर चैतन्य ब्रह्मचारी को तो परम मुक्ति की लालसा थी इसीलिए ये अनेक साधुओं और महापुरुषों के पास भक्ति से विनम्र होकर बैठा करते थे, और कल्याणकाली योग की चर्चा किया करते थे। गजराज समान 'शुद्ध चैतन्य' पवित्र मोक्षरूपी सरोवर में आने का अभिलाषी था। उसे पिता के बनाये हुए विवाहरूपी कच्चे धागे का बन्धन कैसे नियंत्रित कर सकता था, यथा–

विमलमोक्षमहाकमलाकरं जिगमिषोर्नु यतीश्वरदन्तिन:।
परिणयाम्बुजतन्तुनियन्त्रणं विफलदं न पितृप्रतियोजितम्।। [४]

'शुद्ध चैतन्य' विवाह के मायाजाल से बच निकले और उन्होंने प्रभु से प्रार्थना की–

हे प्रभो! मैं विषयों के उपभोग-सुख की कामना नहीं करता क्योंकि भोग रोगों का आगार है। इसलिए जन्म-मरण और बुढ़ापे की पीड़ा को हरने वाले तेरे परमानन्द पद को ही चाहता हूँ–

---

१. द० दि० ५.४४-४५.
२. द० दि० ६.३
३. द० दि० ६.२५
४. द० दि० ६.५८

विषयभोगसुखं न हि कामये, विपुलरोगकरं सततं प्रभो।

जनिजरामणार्त्तिहरं परं, परमसौख्यपदं तव चार्थये।। [1]

उन्होंने प्रभु से प्रार्थना की कि— रात दिन मैं आपके सकल मंगलमूल निरंजन पद को पाने के लिए व्याकुल हो रहा हूँ। आप मुझे अपना मंगलमय दर्शन दें क्योंकि यदि मुझे हठी पिताजी घर ले जायेंगे तो अवश्य ही मेरा विवाह करा देंगे और मुझे सांसारिक बन्धनों से जकड़ देंगे।[2]

तत्पश्चात् उन्होंने 'पूर्णानन्द सरस्वती' नामक संन्यासी से विधिवत् रूप से संन्यास की दीक्षा ग्रहण कर ली। उन्होंने उनको उपदेश देते हुए कहा—

हे कल्याण के इच्छुक! मृत्यु को जीतने वाले, तपश्चरण से संसार में मृत्युञ्जय बनो। मोक्ष प्राप्ति के लिए तुम्हारी मति कल्याण कारक हो।[3] ऐसा उपदेश देकर और उनका नाम 'दयानन्द सरस्वती' रखकर 'पूर्णानन्द' ने 'दयानन्दसरस्वती' को संसार को पूर्णानन्द प्रदान करने के लिए, संसार के बंधनों से छुड़ा दिया, यथा—

पूर्णानन्दसरस्वत्या दयानन्दसरस्वती।

पूर्णानन्दाय लोकानां मोचितो भवबन्धनात्।। [4]

इसके पश्चात् स्वामी दयानन्द 'हिमालय' और 'गंगा' के किनारे योगियों के अन्वेषण में लगे रहे। जिसके किनारे निवास करते हुए वीतराग महात्मा संन्यासी संसार बंधन से मुक्त होकर सदा मोक्ष के लिए यत्न करते हैं—

यस्यास्तीरे महात्मानो वीतरागा यतीश्वराः।

भवबन्धननिर्मुक्ता यतन्ते मुक्तये सदा।। [5]

सच्चे योगियों को पाने हेतु स्वामी जी ने बड़े कष्ट सहे। 'जीवात्मा' अपने आराध्य 'ईश्वर' को जब तक न पा ले तब तक उसे सुख कहाँ। इसी प्रयास में इन्होंने योगी 'मधुकरों' से योग विद्या सीखी। इसका कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है—

"महात्मा दयानन्द क्लिष्ट और अक्लिष्ट नामक पाँच प्रकार की वृत्तियों को रोककर सब विषयों से उपरत होकर शुद्ध सत्त्व हो गये, और मैत्री करुणादि की भावनाओं से चित्त

---

१. द० दि० ६.६१

२. द० दि० ६.६२-६३

३. द० दि० ७.५२

४. द० दि० ७.५७

५. द० दि० ७.८७

की प्रसन्नता को प्राप्त कर निरन्तर द्रष्टा, बुद्धि, आत्मा एवं परमात्मा के स्वरूप में स्थित हो गये''—

क्लिष्टाक्लिष्टान् पंचवृत्तिप्रकारान्, रोधं रोधं शुद्ध सत्त्वो विरक्तः।
मैत्रीमुख्यैर्लब्धचित्तिप्रसादोद्रष्टृ रूपे नित्यमस्थान्महात्मा।। [१]

वे इन्द्रियों के सम्पूर्ण दोषों को प्राणायाम से जलाकर, धारणावृत्ति से पाप का क्षय कर चुके थे। अतः श्रीदयानन्द जी ने प्रत्यग्ज्योति आत्मा के दर्शन जन्य आनन्द से तृप्त होकर दिव्यानन्द की प्राप्ति कर ली थी—

प्राणायामौरिन्द्रियाणां प्रदोषान् दाहं दाहं धारणाध्वस्तपापः।
प्रत्यग् ज्योतिर्दर्शनानन्दतृप्तो दिव्यानन्दं श्रीदयानन्द आप्नोत्।। [२]

ऋतम्भरा प्रज्ञा के साक्षात्कार करने वालों में श्रेष्ठ स्वामी जी ने ओ३म् स्वरूप परमात्मा के ध्यान में अन्तरात्मा को मग्न कर, सर्व प्रकार की वृत्तियों के विरोध से निर्बीज समाधि लगाकर सच्चिदानन्द परब्रह्म का दर्शन कर लिया—

ओ३मूरूपात्मध्यानलीनान्तरात्मा प्रज्ञानीन्द्रः सर्ववृत्तिव्रजानाम्।
रोधेनासौ साधिताबीजयोगः साक्षाच्चक्रे सच्चिदानन्दमीशम्।। [३]

इस महापुरुष के पास योगबीजादि धार्मिक 'ग्रन्थ' थे, ये उनका सर्वदा स्वाध्याय करते थे। मुमुक्षु प्रायः सत्यज्ञान प्राप्ति के इच्छुक होते हैं। उन्होने दैवयोग से गंगा में बहाकर आते हुए एक शव को चीरकर उक्त ग्रन्थों के अनुसार नाड़ीचक्र न पाकर उन ग्रन्थों को फाड़कर शव के साथ ही नदी में बहा दिया।[४] वे पुनः सच्चे गुरु के अन्वेषण में लग गये। सौभाग्य से उन्हें 'मथुरा' में 'स्वामी विरजानन्द जी' जैसे श्रेष्ठ गुरु की प्राप्ति हो गयी। माता-पिता तो जन्म देकर केवल देह का ही पालन पोषण करते हैं, किन्तु आत्म कल्याणकारी ब्रह्मदाता गुरुदेव तो विद्याओं को प्रदान कर आत्मा की सर्वाङ्गीण उन्नति करते हैं। मेरा आत्मारूपी चन्द्र ज्ञान के सूर्य समान गुरु के शास्त्र रूपी किरणों को पाकर जगदानन्ददायिनी मुक्तिचन्द्रिका को पा चुका है, ऐसा जानकर वे बड़े प्रसन्न हुए।[५] उन्होंने उनसे अन्य विद्याओं के साथ-साथ योगविद्या भी सीखी जिसका

---

१. द० दि० ९.३६
२. द० दि० ९.३७
३. द० दि० ९.३८
४. द० दि० ९.४६-५०
५. द० दि० ११.७०-७३.

कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है—

"अष्टांगयोग का पालन करने से मन की अशुद्धियों का नाश करके आत्मानन्द से मस्त योगी सत्पुरुष उत्तरोत्तर ज्ञान की वृद्धि से सर्वव्यापक विष्णु परमात्मा का स्वरूप जानने के लिये शक्तिमान् होते हैं।"[१]

वैष्णव लीलाओं की कड़ी आलोचना करते हुए उन्होंने शास्त्रार्थ में हराकर मूक कर दिया। उन्होंने तर्क दिया कि शंख, चक्र, गदा और पद्मों के आकार के बने हुए ताम्बे के पदार्थों को अग्नि में तपाकर शरीर को दाग देने से जीवात्मा परमात्मा की प्राप्ति कैसे कर सकता है।[२] माला, तिलक और नाम के धारण करने से एवं केवल जप से यदि विष्णु की प्राप्ति हो, तो सत्य, अंहिसा आदि व्रतों और अनुष्ठानों की क्या आवश्यकता है?[३] अतप्ततनू: आदि पवित्र मन्त्रों के सत्यार्थ के विज्ञान के पराङ्मुख होकर, ब्रह्मचर्यादि तपों को त्यागकर मुक्ति के लिये शरीर पर दागने का विधान से पराङ्मुख होकर ब्रह्मचर्यादि तपों को त्यागकर मुक्ति के लिये शरीर पर दागने का विधान शास्त्रविरुद्ध है। शास्त्र में तो 'सत्यं तप: ऋतं तप:' आदि कहा है। पवित्र आचरण द्वारा ही जीवात्मा शम, दम, तितिक्षा, उपरति आदि मोक्ष-साधनों से अपने को पाकर मुक्ति के योग्य होता है।[४] मुनिवर दयानन्द ने इस प्रकार वैष्णव सम्प्रदाय के ग्रन्थों में से अनेक उद्धरणों द्वारा उनकी लीलाओं की कड़ी आलोचना की और वैष्णव विद्वानों को हराकर मूक कर दिया।[५]

इस प्रकार स्वामी दयानन्द वैदिक सत्य के प्रचार और प्रसार में लगे रहे साथ ही योगाभ्यास द्वारा मुक्ति की साधना भी करते रहे। 'दयानन्द दिग्विजय' महाकाव्य के 'उत्तरार्द्ध' में भी कवि मेधाव्रत ने 'आत्मा' के स्वरूप का निरूपण विशदता के साथ किया है। स्वामी दयानन्द ने 'त्रैतवाद' का प्रतिपादन करते हुए कई स्थानों पर 'जीवात्मा' के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। कवि द्वारा वर्णित कुछ उद्धरण इस सन्दर्भ में इस प्रकार हैं—

विद्वान् लोग ब्रह्म और अब्रह्म के विवेचन में मूढ़ होकर कौवें के समान आचरण करते थे और ऋषि दयानन्द 'ब्रह्म', 'जीव' और प्रकृति के परीक्षण में हंस समान थे।

---

१. द० दि० ११.१११

२. द० दि० ११.११२

३. द० दि० ११.११३

४. द० दि० ११.११४

५. द० दि० ११.११५

हंस मोती खाता है और दूध पीता है उस समय दयानन्द निराहार रहकर दूध पीते थे। हंस दूध और जल को पृथक् करता है और दयानन्द ब्रह्म जीवात्मा और प्रकृति को अलग करते थे—

काकायन्ते पुरा मुग्धा ब्रह्माब्रह्मविवेचने।

हंसायते स्म योगीन्द्रो मुक्ताशः क्षीरपो बुधः।। [१]

स्वामी जी मूर्तिपूजा को व्यर्थ समझते थे। सच्ची पूजा तो माता, पिता, गुरु और अतिथियों आदि की ही होती है। उसी से सच्चे सुख की प्राप्ति होती है। अतः कहा गया है—

''वेद में उस प्रकार की पूजा नहीं कही है, किन्तु देवसंज्ञक माता, पिता, आचार्य, विद्वान् अतिथि और सत्पुरुषों की पूजा (सत्कार) कही है, जिससे आत्मा की सदा उन्नति होती है—

न देवपूजा गदितेदृशी श्रुतौ परं गुरुणां विदुषां सतां नृणाम्।

प्रसूपितृणाञ्च सुदेवसंज्ञिनां सदर्चनात्मोन्नतिदा सनातनी।। [२]

वेदान्त के झूठे मन्तव्यों में स्वामी जी को श्रद्धा न थी। ''ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या'' का खण्डन करते हुए उन्होंने 'ब्रह्म' 'जगत्' और 'जीव' तीनों को सत्य माना है। इस पर कवि का कथन है, कि संसार में ब्रह्म सत्य, जगत् सत्य, और जीव भी सत् है। यदि ज्ञान से देखा जाय तो आत्मवत् सर्वसत्य है—

ब्रह्मसत्यं जगत्सत्यं जीवास्सत्याश्च संसृतौ।

ज्ञानतो दृश्यमानं तन्निखिलं सत्यमात्मवत्।। [३]

'वेदान्त मत' का खण्डन करते हुए वे कहते हैं कि ''द्वासुपर्णा०'' इस मन्त्र में स्पष्टतया प्रतिपादित किया है कि— 'जीव', 'ईश्वर' और 'प्रकृति' ये तीनों पदार्थ अनादि हैं। उनमें 'ब्रह्म' सर्वज्ञ और सर्वसाक्षी है। 'जीव' अल्पज्ञ और भोक्ता है तथा 'प्रकृति' जड़ एवं भोग्य है। इस प्रकार प्रमाण और युक्ति से तुम्हारा मत मिथ्या है—

द्वासुपर्णेति मन्त्रेऽस्मिन् स्पष्टतः प्रत्यपादि तत्।

ब्रह्मजीवप्रकृत्याख्या तत्त्वत्रयमनादि सत्।।

---

१. द० दि० १३.२६

२. द० दि० १४.३७

३. द० दि० १४.६८

ब्रह्मसर्वज्ञमल्पज्ञो जीवस्तु प्रकृतिर्जडा।

साक्षि भोक्ता च भोग्येयं वेदतो युक्तितोऽप्यहो।। [१]

जीव ब्रह्म के सम्बन्ध और उनके कर्त्तव्यों पर प्रकाश डालते हुए आगे कहा गया है, कि यह जीव स्वप्न में उन-उन विषयों को भोगता है। यह ब्रह्म तो निस्पृह है। जीवों को कर्मफल देता है और प्रकृति के पंचतत्त्वों से सृष्टि बनाता है—

जीवो ह्यसौ तद्विषयोपभोक्ता स्वप्नेऽपि न ब्रह्म विनिस्स्पृहं तत्।

जीवात्मने कर्मफलप्रदातृ ब्रह्माण्डकर्तृ प्रकृतेः सुतत्त्वैः।। [२]

मूर्तिपूजा से परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस पर विचार करते हुए स्वामी जी कहते हैं कि परमेश्वर प्राप्ति और मुक्ति के लिये वेद मन्त्र का यह प्रमाण है— ''वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्०'' का भाव यह है, कि अज्ञान अधंकार से रहित, सूर्यसम प्रकाशक उस महान् पुरुष परमात्मा को यथार्थरूप से जानकर ही उपासक योगी मृत्यु से तर जाता है और प्रभु को प्राप्त करता है। परमात्मा ज्ञान सिवाय मुक्ति का दूसरा मार्ग नहीं है।[३]

मुक्ति का उपाय 'अष्टांग योग' ही है। जीवात्मा अष्टांगयोगानुष्ठान से चित्त को विषयविमुख एवं एकाग्र बनाकर परब्रह्म के साक्षात्कार को पाकर उत्तम आनन्द का उपभोग करता है।[४] ''ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'' ज्ञान के सिवाय मनुष्य की मुक्ति नहीं है। सारे शास्त्र निश्चय से यही प्रतिपादन करते हैं, बिना कर्म के ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, अतः यथार्थ ज्ञान उपार्जन करना चाहिये—

ज्ञानादृते नैव मनुष्य मुक्तिः, शास्त्राणि चैवं हि समामनन्ति।

ज्ञानं बिना कर्म च नैव लभ्यं सत्यं ततो ज्ञानमुपार्जनीयम्।। [५]

यथार्थ ज्ञान के बिना मुक्ति प्राप्त नहीं होती, अतः मनुष्य को जीवात्मा, परमात्मा तथा प्रकृति इन तीनों का भिन्न स्वरूप तत्त्व रूप से जानना चाहिए।। यथार्थ बोध होने पर ही सत्यभक्ति अर्थात् श्रद्धा उत्पन्न होती है; क्योंकि सच्ची भक्ति से ही ईश्वर की उपासना सरलता से होती है—

---

१. द० दि० १४.६९-७०

२. द० दि० १४.८४

३. द० दि० १४.१३४

४. द० दि० १४.१३७

५. द० दि० १४.८२

जीवेश्वरप्रकृतितत्त्वं रूपं भिन्नस्वरूपं त्रयमेव वेद्यम्।
यथार्थबोधे सति सत्यभक्तिर्भक्त्या ह्युपास्तिः सुकरेश्वरस्य।। [१]

'ज्ञान' और 'कर्म' के साथ साथ परमात्मा की 'उपासना' भी मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक है। अतः स्वामी जी सत्संग के लिए आये हुए जनों के समक्ष ईश्वर की सच्ची उपासना करते हुए कहते हैं—

हे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के करने वाले, सुख के सागर, दयामय, दीनबन्धु, देवाधिदेव! आप ही जीवों को कर्मफल प्रदान करते हैं, आप ही चराचर जगत् के स्वामी हैं, आप ही हमारे रक्षक पिता हैं इसीलिए हे भगवान्! हमें वेदशास्त्र को जानने वाली मेधा प्रदान कीजिये और हमें ऐसी निर्मल बुद्धि प्रदान करें, जो कल्याण मार्ग की ओर ले जाने वाली हो। हे शक्तिस्वरूप! हमें शारीरिक और मानसिक बल प्रदान कीजिए, जिसके द्वारा हम अपने आत्मिक तेज को धारण कर सदा आपकी भक्ति करते रहें, जिससे हमारे भवबन्धन कट जायें।[२]

'मोक्ष' के आनन्द की प्राप्ति 'जीवात्मा' को कैसे हो सकती है, इस पर स्वामी जी का विचार है, कि वह परमात्मा आकाश के समान ब्रह्माण्ड में व्यापक है। उसकी अनन्त शक्तियां सब ओर फैली हुई हैं। वह अजन्मा, महान्, इन्द्र, योगयुक्त आत्मा से ही अनुभव करने योग्य है। अतः इन्द्रियगण और इनके स्वामी मन को आत्मा में लीन करके योग कला से परमात्म देव साक्षात्कार कर उपासक, आत्मा और परमात्मा के संगतिजन्य आनन्द को भोगे।[३]

इसी विषय को आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं कि वह सर्वज्ञ और शक्तिमान् अमर ईश्वर आकाश से भी बड़ा है और परमाणु से भी अति सूक्ष्म है। वह निराकार, अनन्त, अनादि उज्ज्वल स्वरूप है। उस हृदयस्थ ब्रह्म की आत्मा द्वारा ही उपासना करनी चाहिये—

सर्वज्ञमीशममरं बृहदन्तरिक्षात् सूक्ष्मातिसूक्ष्मपरमाणुमतीत्य वर्ति।
आकारनिर्गतमनन्तमनादि शुक्रं ब्रह्मात्मनैव हृदयस्थमुपासनीयम्।। [४]

गंगा माहात्म्य आदि तो गण्य मात्र हैं। ये तो पौराणिकों के वेद विरुद्ध वचन हैं।

---

१. द० दि० १४.१३६
२. द० दि० १५.५-६
३. द० दि० १५.३२
४. द० दि० १५.३३

पाप का नाश और मोक्ष का लाभ तो वेदोक्त पुण्यकर्म करने से ही होता है, यथा—

माहात्म्यमेतदखिलं खुल गप्यवृत्तं श्लोका इमे विरचिता मतवादिलोकैः।
तर्काच्च वेदवचनाच्च विरुद्धरूपावेदोक्तपुण्यकरणैरघनाशमोक्षो।। १

'आत्मा अमर है', इसका प्रतिपादन करते हुए कहा गया है, कि आत्मा को आयुधगण काट नहीं सकते। इसे अग्नि जला नहीं सकता। न इस अमर आत्मा को पानी भिगो सकता है और न ही पवन इसे सुखा सकता है—

नात्मानमायुधगणः प्रभुरेव भेत्तुं नैतं प्रदग्धुमनलः प्रभवेन्नितान्तम्।
न क्लेदयन्त्यमरमेनमहो! जलानि नालञ्च शोषयितुमेनमयं समीरः।। २

ईश्वर में अटूट विश्वास, वेदों का ज्ञान और योगाभ्यास ही स्वामी जी का बल था, जिसमें निमग्न रहकर वे परमात्मा का साक्षात्कार किया करते थे। स्वामी जी प्राणों को मनोभूमि में, मन को विज्ञानमय कोश में और विज्ञान को आनन्दमय कोश में लगाकर सदा हृदय मन्दिर में विराजमान ब्रह्म ज्योति का साक्षात्कार किया करते थे।[३]

'जीव' और 'ईश्वर' की एकता के सम्बन्ध में भी उनके व्याख्यान हुए। 'नरदौलि' जाकर स्वामी जी ने 'जीव' और 'ईश्वर' की एकता पर एक 'यति' से शास्त्रार्थ कर उसे जीत लिया—

जीवेश्वरैक्ये यतिमेकमार्यो वादे विजिग्ये नरदौलिमेत्य।
गोस्वामिनैकेन निशम्यसूक्तिं क्षिप्तास्य मूर्त्तिर्द्युसरित्तरङ्गे।। ४

'जीवात्मा' से जब तक मिथ्या ज्ञान का बन्धन न कट जाये तब तक 'मोक्ष' सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं है। स्वामी जी योगाभ्यास से न केवल अपने बन्धन काटते थे अपितु समग्र मानव जाति के उद्धार में लगे रहते थे। विभिन्न मतमतान्तरों के अज्ञान को दूर करने में उन्होंने सारी शक्ति लगा दी थी। पौराणिकों की नगरी 'काशी' में भी उन्होंने जाकर शास्त्रार्थ किया। काशी के विद्वान् उनकी प्रतिभा को जानकर उनके सम्मुख आने से घबराते थे। काशी नरेश भी इस बात को जानता था। उसने सब राजपंडितों को उनके साथ शास्त्रार्थ करने के लिए पुकारा। एक ओर वे शास्त्रार्थ की तैयारी कर रहे थे

---

१. द० दि० १५.७९
२. द० दि० १५.११६
३. द० दि० १६.३
४. द० दि० १६.३६

तो दूसरी ओर स्वामी को गुण्डों से पिटवाकर भयभीत करना चाहते थे। इस प्रकार मूर्तिपूजा के विरोध में काशी के सब पोपदल और खलमण्डली स्वामी जी को हराने के प्रयास में लगी थी।[१] स्वामी जी के निवास बाग को ही काशी नरेश ने सभास्थल निश्चित किया 'प० रघुनाथ प्रसाद थानेदार' शान्तिरक्षा के लिए पुलिस सहित वहाँ उपस्थित हुए। दयानन्द अकेला था। उसकी पीठ पर न कोई राजा था न कोई धनाढ्य पुरुष था। उसके पास ईश्वर विश्वास, सत्य पर श्रद्धा, साहस और धैर्य था। उसको भय नहीं था भक्त 'बलदेव प्रसाद' इस दशा से भयभीत था। उसने स्वामी जी से इस पर प्रश्न किया? स्वामी जी ने उत्तर दिया— बलदेव प्रसाद! तुम चिन्ता मत करो। एक मैं हूँ अर्थात् आत्मा हूँ, एक ईश्वर है और एक धर्म है। ये तीनों पदार्थ संसार में स्थिर हैं, अमर हैं तो फिर दूसरा कौन सा पदार्थ है, कि जिससे भय किया जाये?[२]

सत्ताइस पंडितों— 'स्वामी विशुद्धानन्द', 'बालशास्त्री' 'माधवाचार्य', 'वामनाचार्य', 'पं० ताराचरण', 'जयनारायण', 'तर्कवाचस्पति', 'राधामोहन तर्कवागीश' आदि से यह शास्त्रार्थ चला।[३] स्वामी जी ने जमकर इन पण्डितों को हरा दिया। वे झगड़े पर उतारू हो गये। पुलिस बल ने किसी प्रकार शान्ति स्थापित की । प्रथम मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ हुआ जिसमें 'पं० रघुनाथ', 'पं० ताराचरण' और 'विशुद्धानन्द' हार गये।[४] इसके पश्चात् 'धर्म को लेकर वाद हुआ जिसमें 'बालशास्त्री', 'माधवाचार्य' व 'विशुद्धानन्द' आदि को हारना पड़ा।[५] इस प्रकार स्वामी निडर होकर वेदज्ञान के प्रचार और प्रसार में लगे रहें। 'मूर्तिपूजा' जैसे 'मिथ्याज्ञान' को उन्होंने बलपूर्वक दूर किया। अज्ञान का अंधेरा जब तक दूर न हो, ज्ञान का प्रकाश आत्मा में कैसे आ सकता है। समाज सुधार का ऐसा आध्यात्मिक प्रयास कदाचित् ही अन्य ने किया होगा। आत्मबल और यथार्थ ज्ञान के द्वारा ही वे वैदिक विज्ञान की धारा बहाने में समर्थ हुए।

पुरुषार्थ चतुष्टय को आत्मिक उन्नति का साधन माना जाता है। इसी प्रयोजन हेतु परमात्मा ने यह सृष्टि रची है। स्वामी दयानन्द के इस मत का कवि ने भी समर्थन किया है वे कहते है, कि ''चतुर पुरुष और स्त्री सुखसिद्धि से मनोहर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध कर सकें, इसलिए सृष्टिकर्ता ने आत्मशक्ति से अर्थात् संकल्प बल

१. द० दि० १८.२१-३४
२. द० दि० १८.३६-४५
३. द० दि० १८.५३-१००
४. द० दि० १८.६१-७२
५. द० दि० १८.१२-१००

से प्रकृति तथा जीव के बुद्धिपूर्वक सम्मेलन द्वारा यह सृष्टि रची है।''[१]

स्वामी जी के मतानुसार कवि ने मुक्ति और उसके साधनों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, कि यह जीवात्मा जन्म-मरण की विपत्ति के महान् चक्र में से छूटकर प्रभुवर को प्राप्त करके आनन्द सागर, ज्ञान, स्वरूप परमात्मा में जिससे लीन हो जाता है। उसको ही निश्चय से 'मुक्ति' कहते हैं।

मुक्ति का पहला साधन सत्याचरण है। सर्वान्तर्यामी ईश्वर को साक्षी रखकर मुमुक्षु जन जिस कार्य में भय, शंका और लज्जा प्रतीत हो ऐसा न करके आनन्द, उत्साह और निर्भयता को देने वाला कल्याणकारी पुण्याचरण करें।

दूसरा साधन वेद विद्या ठीक रीति से लाभ करना और सत्य का पालन करना है। तीसरा— सत्पुरुषों और ज्ञानी जनों का सत्संग करना। चौथा—योगाभ्यास द्वारा अपनी इन्द्रियों और आत्मा को असत्य मार्ग से रोककर सत्य में स्थापन करना।

पाँचवाँ—ज्ञान को उद्दीपन करने वाली अजन्मा ईश्वर की कथा सुनना, उसके अनन्त गुणों का वर्णन करना और जगदीश्वर परम-पिता की कृपा पूर्ण कीर्ति का भजन करना, और छठा साधन प्रार्थना है।

आगे वे लिखते हैं कि— प्रार्थना इस प्रकार करनी चाहिए— 'हे दयालु! आदित्य सम तेजस्वी 'गुरुदेव!' शान्ति रूपभगवन्! मुझे अज्ञानान्धकार से पृथक् करके ज्ञान प्रकाश में ले जाइये, जन्म-मरण रूप संसार-चक्र से मुक्त कर शीघ्र अपनी परमानन्द दायिनी गोद में बिठा कर आनन्द प्रदान कीजिए। उपर्युक्त साधनों से यदि भक्त जन उस पूजनीय परमदेव की सर्वस्व समर्पण द्वारा पूजा करता है तो वह परमात्मा संकटमग्न प्रिय बालक को माता जैसे— उठा लेती है; ठीक उसी प्रकार वह संकट-मग्न भक्त को अपनी कृपा हस्त से उठा लेते हैं। करुणासागर परमेश्वर दिव्य शक्ति रूप सहस्र हाथों से सच्चे योगीजन को अपनी दृष्टि से स्वीकार करके अपने आनन्द स्वरूप को भोक्ता बना देता है।'[२]

स्वामी जी वही उपदेश दूसरों को देते थे जो स्वानुभूत होता था। योगाभ्यास तो वे रात दिन यथावसर करते रहते थे जो मुक्ति का परम साधन था।

'सहजानन्द' ने उनसे दीक्षा लेकर योगाभ्यास सीखा। कवि लिखता है—रात्रि दिन सद्गुरु की संगति से इसने ब्रह्मज्ञानी के शील की कान्ति प्राप्त की बारंबार आदर्श

---

१. द० दि० २३.४४.

२. द० दि० २३.४०-५६.

योगीश्वर की योग विभूति देखकर इसने अपने आत्मा को विशुद्ध बना लिया।[१]

अधिक जिज्ञासा करने पर तथा योगविभूति में सन्देह होने पर स्वामी जी ने 'उदयपुर' के महाराणा को आकाश गमन की सिद्धि इस प्रकार दिखलायी। ''योगीश्वर शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम कर और हलके रुई के फोये में संयम द्वारा होकर राज-मन्दिर के चबूतरे से धीरे-धीरे ऊपर उठते हुए महल के शिखर पर गए और उसके चारों और उन्होंने एक परिक्रमा की,''यथा—

कायाभ्रयोः संयमनाल्लघुत्वं तूलेन तुल्यं समवाप्य योगी।

वेद्या उदञ्चन्नृपमन्दिराग्रं प्रगम्यविष्वक्क्रमशोऽभ्रमत्सः।।

आगम्य तस्या पुनरेव वेद्यां संकल्पगामी कमलासनस्थः।

रेजेऽपनीय भ्रममस्य राज्ञो विभूतियाथार्थ्यनिरीक्षकस्य।। [२]

पद्मासनस्थ, संकल्पगामी स्वामी जी फिर उसी चबूतरे पर उतर कर सुशोभित हुए और विभूति की सत्यता के निरीक्षक मेवाड़ सम्राट् का भ्रम इन्होंने दूर किया। 'जोधपुर' में ब्रह्मचारियों और जनता को योगीश्वर ने ब्रह्म परमात्मा, जीवात्मा एवं प्रकृति के स्वरूप का गुण,कर्म और स्वभाव का क्रमशः वर्णन कर उनमें वेद-प्रमाण से तथा तर्क से भी भेद जनता को समझाया।[३] आत्मवेत्ता की वाणी से सचमुच, मनुष्यों का ज्ञाननेत्र खुल गया; और काम, क्रोध आदि छः मगरमच्छों से भंयकर संसार सागर से तर जाने का क्लेश-हर मोक्ष-मार्ग उनको दिखायीदेने लगा। प्रजागण नित्य नये-नये रुचिकर, हितकारक, आत्मिक भोजन का स्वाद लेकर आनन्द गंगा में हृदय को स्नान करा कर अपना जन्म सफल मानने लगे।[४] महर्षि के विषपान के पश्चात् मृत्यु शैय्या पर भयंकर रूप से रुग्ण होने पर एकबार प्रिय भक्तों ने ईश्वरपरायण महर्षि से प्रश्न किया कि— महाराज! आप के चित्त की कैसी दशा है? स्वामी जी ने कहा— मेरी स्थिति उत्तम है। तेज और अंधकार का अंतिम सम्मेलन है। अर्थात् मुक्तिरूपी उषा प्रकट हो रही है; जिससे तमः रूपिणी पंच तत्त्वमयी-प्रकृति निशा का तिरोभाव नाश एवं ब्रह्मानन्द-रस-प्रकाशक मोक्ष दिवस का प्रादुर्भाव हो रहा है।[५]

---

१. द० दि० २५.४६.

२. द० दि० २५.६९.

३. द० दि० २५.५४

४. द० दि० २५.५५-५६.

५. द० दि० २७.९१.

परमपद को पधारने वाले योगीश्वर की उस परम प्रभुभक्ति को देखकर नास्तिक 'गुरुदत्त विद्यार्थी' का चित्त दर्पण सृष्टिकर्ता प्रभु की विद्यमानता की प्रभा से अन्त: प्रकाशित हो गया अर्थात् वे आस्तिक बन गये। ऐसी बाणी बोलकर समाधिस्थ हो योगीन्द्र प्राणावरोध करके प्रणवनादगुंजित प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र मार्ग से बाहर निकाल कर परमपदारूढ़ हुआ।[१] यह उनका समग्र जीवन की सिद्धि का फल था। अन्ततः उन्होंने 'मोक्ष' पा ही लिया।

'कवि मेधाव्रत' ने स्वामी जी के जीवन का इतना सजीव क्रियाशील और यथार्थ वर्णन किया है, कि अन्यत्र देखने में नहीं आता। 'ईश्वर', 'जीवात्मा' और 'प्रकृति' के 'त्रैतवाद' और इनके स्वरूप तथा सम्बन्ध का कवि ने सर्वांगसुन्दर वर्णन किया है, जिसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

इसके अतिरिक्त उनके ग्रन्थ 'ब्रह्मचर्य-महत्त्वम्' में भी 'जीवात्मा' के स्वरूप का वर्णन प्राप्त होता है,यथा—

''मृत्युञ्जय ओ३म्'' जीर्ण शरीर को छीनकर, आत्मा के लिए नवीन शरीर देता है, क्योंकि आत्मा अनादि है। तद्यथा—

जीर्णं शरीरमाहृत्य मृत्युरूपो यथेश्वरः।
नवीनं देहिने दत्ते वर्णिने गुरुराट् तथा।। [२]

दीप्यमान ब्रह्मचारी अपनी पवित्र आत्मा के द्वारा व्यापक कर्म की वर्षा करता है और संयमी आत्मा उन्हीं का घृतरूप होता है।[३] '''कर्म' और 'ज्ञान' की योग्यता के अनुसार स्थूलभूतों के अधिपति, स्वरूप, शारीरिक ब्रह्मचर्य के पालक, आन्तरिक प्राणों के अधिपति आत्मिक शक्तियों से आनन्द को धारण करता है।''[४] परब्रह्म रूपी दिव्य अग्नि में आत्मा की आहुति देकर दिव्यज्ञान, ब्रह्मज्ञान, मोक्षानुभूति सम्पादित करके आत्मा की सब प्रकार की शक्तियों को बढ़ाता है तथा ज्ञान से लाभान्वित होकर मरणशील विद्वान् अमर पद को प्राप्त कर लेते हैं।[५]

इसके साथ-साथ उनकी अन्य रचनाओं 'दयानन्द लहरी', 'दिव्यानन्द लहरी', एवं

---

१. द० दि० २७.९९-१०४.

२. ब्र०म०—श्लोक ७५.

३. वही, श्लोक—६७-६८.

४. वही, श्लोक—३६.

५. वही, श्लोक—२२,२६,२८,२९,४२.

'विरजानन्द चरितम्' में आत्मा का स्वरूप स्पष्ट होता है, यथा— वह 'परमात्मा', 'मन' और 'आत्मा' को पवित्र बनाकर, उन्हें अमृत पिलाने वाला है। यथा—

भवातपनिपीडितान्तरविलोचनानन्दनो,
लसद्गुणकलः सुकर्मकुमुदावलीमोदनः।
सदाऽखिलजनान् सुवेदवचनामृतं पाययन्
मुदं वितनुतान्मुनीन्द्र! तव सद्यशश्चन्द्रमाः।। [1]

अद्भुत शक्तिशाली, सब श्रेष्ठ साधनों से रहित, दीन, नेत्रहीन, और दया के पात्र, बालक 'विरजानन्द' ने आत्मिक बल से कान्ति की।[2] तथा योगीजन नूतन ज्ञान की प्राप्ति से अपनी आत्मा में आनन्द का अनुभव करते हैं।[3] प्रशान्त चित्तवाले उन योगावलम्बियों को पुनर्जन्म लेने के आनन्द को प्रदान करते हैं, यथा—

यः प्रेयस्सुखरम्यपुष्पसुरभिं दत्ते श्रितो भोगिने
श्रेयस्सौख्यफलं प्रयच्छति पुनः शान्तात्मने योगिने।
सोऽयं वैदिकधर्मकल्पविटपी स्वच्छायया देहिनाम्
सन्तापं हरतामुनीन्द्र! भवता य त्वाम्बुभिर्जीवितः।। [4]

योगियों से योग और विभिन्न सम्पूर्ण अत्यन्त पवित्र रहस्यों को जाना, यह उनका आचरण परब्रह्म प्राप्ति के लिए अपरिमित उत्सुकता को प्रकट करता है।[5] आगे भी कवि करते हैं कि—हे मानव! तू जीवात्मा रथ का स्वामी है और शरीर रथ, यह प्रजा सारथि, यह मन रासों एवं इन्द्रियाँ अश्व, इन्द्रियों के विषय मार्ग हैं। हे सम्पूर्ण भोगों के भोक्ता आत्मन्! तेरा अन्तिम महान् लक्ष्य परब्रह्म परमेश्वर है।[6]

इसी प्रकार आगे वर्णित है— हे मृदु आत्मन्! इस जन्म-मरण रूपी चक्र को शीघ्र यदि त्यागना चाहता है तो उत्तम चरित्र वाले ब्रह्मचारियों एवं योगियों से सेवित, वेदज्ञ मुनिवरों से कथित, निर्दोषमंगलकारी, प्रभु-प्राप्ति के मार्ग को सुन।[7] यह सुनकर उसने

---

१. दयानन्द लहरी—श्लोक—४८.
२. वि० च०—श्लोक—२.२२
३. वि० च०—श्लोक—६.३
४. दयानन्द लहरी—श्लोक—४९.
५. दयानन्द लहरी—श्लोक—१३.
६. दि० लहरी—श्लोक—८
७. वही, श्लोक—२९.

परमेश्वर के प्रार्थना की कि मैं मोक्षाभिलाषी, ओ३म् सच्चिदानन्द के आनन्द को पान करने का इच्छुक समस्त भूमण्डलों के संचालक ईश्वर को पाने के लिए आतुर तथा सर्वव्यापक विष्णु से उस मोक्ष-धाम को चाहता हूँ। मैं अब प्रभु की शरण में जाता हूँ।[१]

निष्कर्ष–इस प्रकार देखा जा सकता है, कि आचार्य मेधाव्रत की साहित्यिक रचनाओं में उपलब्ध जीवात्मा का स्वरूप दयानन्दाभिमत और भारतीय दर्शनों के अनुकूल ही है। दयानन्द के अनुसार जीवात्मा का स्वरूप और उनकी संख्या का निर्देश, जीव की कर्म स्वातन्त्र्यता तथा फल प्राप्ति में ईश्वर के आधीन होना यह विषय विशिष्ट रूप से वर्णित है। पुनर्जन्म, बन्ध और मोक्ष के सम्बन्ध में आचार्य मेधाव्रत ने जितने भी श्लोक रचे हैं, वे महर्षि दयानन्द की विचारधारा का ही मुख्यतः प्रतिपादन करते हैं। तथा साथ ही साथ जीवात्मा, ईश्वर और प्रकृति से सम्बन्ध भी महर्षि दयानन्द की विचारधारा से पूर्णतया युक्तियुक्त रूप से उनकी रचनाओं में पदे-पदे परिलक्षित होता है।

न्याय वैशेषिक मीमांसा वेदान्त, सांख्य और योग ने बंधन और मोक्ष के विषय में जो विचार व्यक्त किये हैं वो सत्य के अधिक समीप हैं, किन्तु नवीन वेदान्त के मन्तव्य अपेक्षाकृत अधिक उलझे हुए हैं, जो व्यावहारिक प्रतीत नहीं होते। ऐसा कविरत्न का विचार है।

---

१. दि० लहरी—श्लोक—४८.

पंचम अध्याय

ईश्वर

'ईश्वर' तत्त्व को लेकर प्राचीन काल से ही दार्शनिक चिन्तन करते रहे हैं। विविधरूपा सृष्टि को देख कर मन में यह अनायास ही विचार उठता है, कि सृष्टि की रचना करने वाला कोई चेतन तत्त्व अवश्य है। निश्चय ही सम्पूर्ण विश्व का रचयिता, पालनकर्ता, तथा संहारक कोई सर्वशक्तिमान् तत्त्व है, जिसे 'ईश्वर' कहा जाता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है, कि क्या ईश्वर है? और यदि है तो उसका स्वरूप क्या है? कार्य कारण परम्परा द्वारा यदि इस प्रश्न का समाधान करने का प्रयास किया जाय और इस सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त की जाय, तो पता चलता है, कि संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' में इस सम्बन्ध में कुछ विचार प्राप्त होते हैं। वहाँ 'एकेश्वरवाद' 'ऋत्' और 'सत्य', 'प्रजापति', 'विश्वकर्मा', 'परमपुरुष', 'हिरण्यगर्भ' और 'क' आदि के वर्णन के रूप में 'ईश्वर' तत्त्व के सम्बन्ध में विचार प्राप्त होते हैं। 'प्रजापति' को 'हिरण्यगर्भ' या 'क' भी कहा गया है, जो उत्पन्न जगत् से पूर्व सबके अधिपति हैं और उन्होंने आकाश तथा पृथिवी को धारण किया है।[१] विश्वकर्मा को भी सम्पूर्ण विश्व का रचयिता माना गया है। वही पृथ्वी और आकाश की रचना करता है। वह सबका निरीक्षण करता है। वह सर्वत्र देखता है, वह अद्वितीय देव है।[२] 'ऋग्वेद' के 'पुरुषसूक्त' (१०/९०) में सृष्टि के मूलकारण 'पुरुष' का यथार्थ चित्रण हुआ है। 'ऋग्वेद' के 'नासदीय सूक्त' (१०/१२९) में भी सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करने वाले परमेश्वर का वर्णन किया गया है। वही परमेश्वर इस जगत् का मूलकारण है। उसी के 'निमित्त कारण' से जगत् की उत्पत्ति हुई है। वही एक और अद्वितीय है। उसी को 'इन्द्र', 'मित्र', 'वरुण', 'अग्नि', 'गरुत्मान', 'यम' और 'मातरिश्वन्' आदि नामों से पुकारा जाता है। तद्यथा—

इन्द्र मित्रं वरुणमग्निराहुरथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः।। [३]

---

१. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम, ऋ० १०.१२१.१

२. ऋ० १०.८१.२-४.

३. ऋ० १.१६-४६

अन्य संहिताओं और ब्राह्मण, आरण्यक-ग्रन्थों में भी ईश्वर के सम्बन्ध में इसी प्रकार के विचार प्राप्त होते हैं। उपनिषदों में ईश्वर तत्त्व पर अपेक्षाकृत अधिक विशद विवेचन किया गया है। ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' में उसे 'विश्वकृत' और सबका 'कर्ता' कहा गया है। समस्त लोक-लोकान्तर उसी के आश्रित हैं।[१] 'ऐतरेयोपनिषद्' में कहा है, कि सृष्टि रचना के पूर्व वही एक मात्र 'ईश्वर' विराजमान था। उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। उसने कामना की और बहुरूप सृष्टि उत्पन्न हो गयी।[२] 'छान्दोग्य उपनिषद्' में कहा गया है, कि सृष्टि के पूर्व वही एकमात्र अद्वितीय विराजमान था। उसने कामना कि मैं बहुत हो जाऊँ। अनेक रूपों में सृष्टि को उत्पन्न करूँ। तब उसने तेज की सृष्टि की।[३]

इस प्रकार देखा जा सकता है, कि ईश्वर तत्त्व के सम्बन्ध में उपनिषदों में व्यापक विचार हुआ है।

'गीता' में भी ईश्वर तत्त्व को लेकर बहुत विचार प्राप्त होते हैं। उसके अनुसार इस सम्पूर्ण विश्व का स्वामी इसके उद्भव विकास एवं संहार का एकमात्र कारण है। वह इस जगत् का पिता, माता, धाता, पितामह, गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण तथा सुहृत् है। वही इसका उत्पत्ति, स्थान, प्रलय स्थान, निधान तथा अविनाशी बीज है।[४] जड़ पदार्थों को यहाँ 'क्षर' कहा गया है तथा चेतन जीवों को 'अक्षर' कहा गया है। वह जड़ पदार्थों तथा चेतन जीवों से भिन्न है। वह इन दोनों से परे और उत्तम अतः परमात्मा पुरुषोत्तम है। यही तीनों लोकों में प्रवेश कर उनको धारण करता है।[५]

गीता के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय आस्तिक और नास्तिक दार्शनिक सम्प्रदायों में भी ईश्वर तत्त्व पर विचार किया गया है। नास्तिक सम्प्रदायों ने 'चार्वाक्', 'बौद्ध' और 'जैन' ईश्वर में विश्वास नहीं करते। शेष आस्तिक षड्दर्शनों में ईश्वर तत्त्व पर पर्याप्त विचार किया गया है। 'शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त' अन्य 'नवीन' वेदान्तियों 'शैव', 'शाक्तों' और 'वैष्णव' सम्प्रदायों में भी ईश्वर तत्त्व के सम्बन्ध में विविध विचार प्राप्त होते हैं। ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में सबसे अधिक भिन्नता 'वेदान्त' के विभिन्न सम्प्रदायों में प्राप्त होती है। इस भिन्नता का मूलस्रोत 'शंकराचार्य' का निजी 'वेदान्त' दर्शन है। जो 'बादरायण व्यास' के मूल 'वेदान्त' दर्शन से अनेक स्थानों पर पूर्णतया

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद्—४.४.१३.
२. ऐ० उ०—१.१
३. छा०उप०—६.२.१-३.
४. भगवद्गीता—९.१७-१८.
५. वही, १५.१६-१८.

भिन्न है। ईश्वर तत्त्व को लेकर सबसे अधिक विवाद की स्थिति इसी नवीन 'वेदान्त' में उत्पन्न होती है। अत: प्रथम संक्षिप्त किन्तु विशद रूप से इस पर यहाँ विचार करना अपेक्षित जान पड़ता है। 'वेदान्त' के अग्रलिखित अवान्तर सम्प्रदाय प्राप्त होते हैं—

'शंकराचार्य' का 'अद्वैतवाद', 'रामानुज' का 'विशिष्टाद्वैतवात', 'मध्व' का 'द्वैतवाद', 'बल्लभाचार्य' का 'शुद्धाद्वैतवाद' तथा 'निम्बार्काचार्य' का 'द्वैताद्वैतवाद।'

'शंकराचार्य' द्वारा प्रतिपादित 'ईश्वर का स्वरूप हमें 'ब्रह्मसूत्र (१,१,२) 'जन्माद्यस्यत: ' की व्याख्या से प्राप्त होता है। इस सूत्र में 'ब्रह्म का सूत्र बताते हुए कहा गया है, कि 'ब्रह्म' वह है, जिससे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है।' स्पष्टत: यह सगुण 'ब्रह्म' अर्थात् 'ईश्वर' है। 'शंकराचार्य' उपनिषदों का अनुसरण करते हुए 'पर-ब्रह्म' तथा 'अपर-ब्रह्म' को स्वीकार करते हैं। 'परब्रह्म' निर्गुण तथा 'कूटस्थ' नित्य होने के कारण नहीं हो सकता। वह माया से आच्छन्न होकर 'अपर' या 'सगुण ब्रह्म' होता है।

'ईश्वर' सर्वव्यापक है, किन्तु सृष्टि से परे भी है। वह 'अन्तर्यामिन्' के रूप में सभी में विद्यमान है। वह 'सर्वज्ञ' और 'सर्वशक्तिमान्' है। 'सर्वशक्तिमान्' होते हुए भी वह संसार की बुराइयों का, सुख-दु:ख का मूल नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह इसके माध्यम से जीवों को कर्म फल के भोग का अवसर मात्र देता है।

'अद्वैत-वेदान्त' का 'ब्रह्म' सृष्टि का निमित्त कारण भी है। तथा उपादान कारण भी है। जिस प्रकार मकड़ी तन्तु रूपी कार्य के प्रति अपने शरीर की दृष्टि से उपादान कारण होती है तथा स्वयं (चेतना) की दृष्टि से निमित्त कारण होती है उसी प्रकार 'ईश्वर' माया की दृष्टि से उपादान कारण और स्वयं अपनी चैतन्य की दृष्टि से निमित्त कारण है।

'माया' (जिसे अविद्या तथा अज्ञान भी कहा जाता है) 'ब्रह्म' की शक्ति है, किन्तु 'अद्वैत वेदान्त' में माया की परमार्थिक सत्ता नहीं है। उसे न 'सत्' कहा जा सकता है, क्योंकि ज्ञान होने पर उसका बाध हो जाता है, न 'असत्' कहा जा सकता है; क्योंकि उसकी प्रतीति होती है। अत: माया 'अनिर्वचनीय' है, क्योंकि ईश्वर माया से उपहित ब्रह्म है, और माया पारमार्थिक सत्ता नहीं है। अत: वेदान्त में ईश्वर को भी पारमार्थिक सत्ता नहीं कहा जा सकता। वह भी सम्पूर्ण सृष्टि की भाँति प्रतीति मात्र ही सिद्ध होता है। पारमार्थिक सत्ता केवल एक 'पर-ब्रह्म' है, जो अपने आप सृष्टि रचना में समर्थ नहीं है।

'ईश्वर' सृष्टि क्यों करता है? इस प्रश्न को 'शंकराचार्य' ने उठाया। वह तो 'सर्वकाम' है अर्थात् उसकी सभी इच्छाएँ पूर्ण हैं। अतः सृष्टि में उसका कोई स्वार्थ सम्भव नहीं है। अतः उसका सृष्टि व्यापार 'लीला' मात्र है। जैसे लोक में सकल मनोरथों की सिद्धि वाले पुरुष के सभी व्यापार निष्प्रयोजन लीला मात्र होते हैं उसी प्रकार सर्वकाम तथा सर्वज्ञ ईश्वर का व्यापार लीलामात्र है। 'जीव' तथा 'ईश्वर' में अन्तर क्या है? एक आचार्य के अपने अनुसार चैतन्य का वह प्रतिबिम्बि जो माया या अविद्या में पड़ता है 'ईश्वर-चैतन्य' है और जो अन्तःकरण में पड़ता है 'जीव चैतन्य'है। किन्तु इस मत से ईश्वर में अविद्या उत्पन्न दोषों की संभावना बनी रहती है। अतः दूसरे आचार्य के मत में स्वयं ईश्वर चैतन्य बिम्ब स्थानीय है, जीव चैतन्य उसका प्रतिबिम्ब है। ईश्वर-चैतन्य विम्ब-स्थानीय होने से ईश्वर उपाधियों के दूषण से मुक्त रहता है।[१]

रामानुज के 'विशिष्टाद्वैतवाद' में 'ईश्वर', 'चित्' तथा 'अचित्' तीन मूल तत्त्व स्वीकार किये गये हैं। 'चित्' जीव-तत्त्व हैं। 'अचित्' जड़ तत्त्व हैं और 'ईश्वर' इन दोनों का अन्तर्यामी है। जिस प्रकार किसी मनुष्य में दो भाग होते हैं— शरीर और आत्मा उसी प्रकार 'रामानुज' के ब्रह्म में भी ईश्वर, आत्मा स्थानीय हैं, तथा 'चित्' एवं 'अचित्' शरीर स्थानीय हैं। 'रामानुज' ने 'ब्रह्म' में 'अद्वैत' अवश्य माना है, किन्तु यह 'अद्वैत' शंकराचार्य जैसा नहीं है। 'शंकर', 'ब्रह्म' को विजातीय, सजातीय तथा स्वगत तीनों प्रकार के भेदों से रहित मानते हैं।[२] किन्तु स्वगत भेद से युक्त हैं। 'ईश्वर', 'चित्' और 'अचित्' एक ही 'ब्रह्म' के तीन अंग हैं। यहाँ 'ईश्वर'को 'चित्' तथा 'अचित्' से विशिष्ट कहा जा सकता है, इसलिए इस मत का नाम 'विशिष्टाद्वैतवाद' है। उनके अनुसार ईश्वर 'सगुण' और 'सविशेष' है। वह कल्याण गुणों का आकार, अनन्तज्ञान, आनन्दरूप, शक्तिसम्पन्न, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कर्ता है। उनका ब्रह्म 'सगुण' ही होता है, निर्गुण नहीं। उनका अन्तर्यामी ईश्वर 'निमित्त' कारण है तथा 'चित्' एवं 'अचित्' 'उपादान कारण' है।

'ईश्वर' और 'जीव' के सम्बन्ध में इस मत में शरीर और आत्मा जैसा सम्बन्ध है। 'ईश्वर' 'चित्' व 'अचित्' को आश्रित करके कार्य में प्रवृत्त करता है। वह नियामक है और 'विशेष्य' कहलाता है। ईश्वर यद्यपि 'ब्रह्म का आन्तरिक रूप है तथा 'विशेष्य'

---

१. भारतीय दर्शन— बलदेव उपाध्याय पृ० ३६३.

२. भारतीयदर्शन की प्रमुख समस्याएँ- डॉ महेश भारतीय पृ० ४३.

होने के कारण उसे भी राग द्वेषादि से विशिष्ट माना जाता है। यही उनका 'विशिष्टाद्वैतवाद' है।

'मध्वाचार्य' के 'द्वैतवाद' के अनुसार 'ब्रह्म' 'जीव' और 'जगत्' तीनों भिन्न सत्ताएँ हैं। तीनों वास्तविक और नित्य हैं, किन्तु 'ब्रह्म' निरपेक्ष है जबकि 'जीव' और 'जगत्' सापेक्ष है। इसी निरपेक्ष और सापेक्ष सत्ता के कारण यह मत 'द्वैतवाद' कहलाता है, इस मत में 'ब्रह्म' ही 'ईश्वर' है,वही 'विष्णु' भी कहलाता है। वह 'सगुण' है। निर्गुण का अर्थ 'माध्वाचार्य' इन्द्रियातीत लेते हैं।[१] सत्त्व, रजस् और तमस्- इन तीन गुणों से रहित होने के कारण भी 'ब्रह्म' को निर्गुण कहा जाता है। विष्णु के रूप में ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, और प्रलय करता है (कुछ जीवों को वह दण्ड देता है और कुछ को मोक्ष प्रदान करता है। कुछ जीवों के कर्मों का ध्यान रखता है, किन्तु उन पर निर्भर नहीं रहता। 'ब्रह्म' का शरीर दिव्य है, वह सर्वव्यापी है, और जीवों का अन्तर्यामी है।[२] वह प्राय: विभिन्न रूपों में अवतार ग्रहण करता है। पवित्र मूर्तियों में गुप्त रूप से निवास करता है।

'मध्व' के अनुसार 'ब्रह्म' जगत् का केवल 'निमित्त' कारण है जगत् का 'उपादान कारण' प्रकृति है। जगत् ब्रह्म का कार्य नहीं है, जैसा कि 'रामानुज' मानते हैं और न ब्रह्म पर अध्यारोप है, जैसा 'शंकर' मानते हैं।

'निम्बार्क' का मत 'द्वैताद्वैतवाद' या 'भेदाभेदवाद' कहलाता है। उनके अनुसार जीव, जगत् और ब्रह्म में न तो अत्यन्त भेद है, न अत्यन्त अभेद। जीव एवं जगत् का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध, निम्बार्क के अनुसार ऐसा ही है, जैसा लहरों का समुद्र के साथ होता है। लहरें तो समुद्र से पूर्णत: भिन्न होती हैं, न पूर्णत: अभिन्न। एक दृष्टि से यह कहा जा सकता है, कि लहरें समुद्र से अभिन्न हैं, क्योंकि उनका समुद्र से पृथक् अस्तित्त्व नहीं है। जिस प्रकार लहरों में और समुद्र में 'भेद' और 'अभेद' दोनों हैं।

'निम्बार्क' भी 'ब्रह्म' के 'निर्गुणत्व' का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार श्रुति इस बात की स्थापना करती है, कि ज्ञान, क्रिया आदि ब्रह्म के स्वाभाविक गुण हैं। ब्रह्म सद्गुणों का भण्डार है और अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष आदि दुर्गुणों से रहित है। 'निम्बार्क' परमात्मा अर्थात् ब्रह्म और कृष्ण को एक ही मानते हैं। ब्रह्म अपने को अवतारों के रूप में प्रकट करता है। यह जगत् का उपादान तथा निमित्त दोनों प्रकार

---

१. द्र० ब्रह्मसूत्र, २.१.३६ तथा ३.२३९-४२ पर मध्वभाष्य।

२. द्र० ब्रह्मसूत्र —१.२.१३.

का कारण है।[१] 'रामानुज' ने जिसे ब्रह्म का शरीर कहा है 'निम्बार्क' उसे ब्रह्म की शक्ति मानते हैं। 'निम्बार्क' के अनुसार ब्रह्म को जगत् के निर्माण के लिए द्रव्य की आवश्यकता नहीं है। ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है और इच्छा मात्र से ही जगत् की रचना कर सकता है।[२] उसकी कोई अतृप्त इच्छा नहीं है। अत: सृष्टि केवल उसकी लीला है। ब्रह्म की लीला होने के कारण जगत् मिथ्या नहीं है। ब्रह्म जगत् के अणु-अणु में व्याप्त है। वह जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है। वह कर्म के अनुसार प्राणियों को फल वितरण करता है।

'शुद्धद्वैतवादी' 'बल्लभाचार्य' माया को स्वीकार नहीं करते और 'जीव' तथा 'जगत्' को ब्रह्म से अभिन्न मानते हैं। उनके अनुसार जीव तथा जगत् ब्रह्म के कार्य है और कार्य कारण में अभेद होता है, यही उनका 'शुद्धद्वैतवाद' है। उनके अनुसार ब्रह्म तीन प्रकार का होता है।

१. आधिदैविक = परब्रह्म।

२. आध्यात्मिक = अक्षर ब्रह्म।

३. आधिभौतिक = जगत्।

पर ब्रह्म ही 'श्री कृष्ण' 'पुरुषोत्तम' या 'ईश्वर' है। वह सर्व धर्म विशिष्ट है। विरुद्ध धर्म भी उसमें स्वाभाविक रूप से विद्यमान हैं।

वह अनेक रूप होकर भी एक है, स्वतन्त्र होकर भी भक्ताधीन है। जगत् के आविर्भाव तथा तिरोभाव का एकमात्र कारण है। उसका जगत् -कर्तृत्त्व वास्तविक है, मायाकृत नहीं। यह उसकी 'लीला' है, जिसके कारण वह जगत् का आविर्भाव एवं तिरोभाव करता है। परब्रह्म सच्चिदानन्द रूप है। उसमें 'सत्', 'चित्' तथा 'आनन्द' तीनों गुण उसके स्वभाव के रूप में विद्यमान हैं। 'जीव' और 'जगत्' में भी 'शुद्ध-ब्रह्म' का रूप है। उनकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होता, केवल आविर्भाव और तिरोभाव होता है। वे ब्रह्म से ही प्रकट होते हैं और ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। अत: जगत् का 'ब्रह्म' ही 'निमित्त' और 'उपादान' दोनों प्रकार का कारण है। 'बल्लभाचार्य' के अनुसार भगवान् प्राय: अवतार लेते हैं ऐसा वे जीवों पर अनुग्रह करने के लिये करते हैं जीवों को मुक्ति प्रदान करना उनका उद्देश्य है। भक्ति के द्वारा ही पूर्ण मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

---

१. वेदान्तपारिजातसौरभ—२.३.४२.

२. वही, १.१.१९.

ऊपर के समग्र विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। कि 'मध्वाचार्य' को छोड़कर शेष सभी 'वेदान्ती' 'ब्रह्म' को जगत् का 'निमित्त' और 'उपादान' दोनों प्रकार का कारण मानते हैं किन्तु उनमें 'शंकर' जगत् को ब्रह्म का विवर्त्त मानते हैं जबकि 'रामानुज', 'निम्बार्क' और 'बल्लभ' परिणाम मानते हैं। 'शंकर' का 'ब्रह्म' भी ईश्वर नहीं है; क्योंकि वह बिना माया से उपहित हुए सृष्टि नहीं कर सकता। माया से उपहित होकर ही वह ईश्वर बनता है, क्योंकि माया पारमार्थिक सत्ता नहीं है अत: ईश्वर को भी पारमार्थिक सत्ता नहीं कहा जा सकता। शेष सभी वेदान्तियों का 'ब्रह्म' ही ईश्वर है। 'मध्व' 'द्वैतवाद' के पोषक होने के कारण 'जीव' और 'जगत्' को ईश्वर से भिन्न मानते हैं। 'मध्व' के मत में ईश्वर या ब्रह्म सृष्टि का केवल 'निमित्त' कारण है, 'उपादान' कारण नहीं। 'शंकर' ब्रह्म को निर्गुण मानते है, शेष सभी सगुण मानते हैं जबकि अन्य वेदान्तियों का ब्रह्म स्वभाव से ही सगुण है।

'सांख्य' दर्शन में 'ईश्वराऽसिद्धेः' (१/९२) सूत्र देखकर बहुत से विद्वानों ने यह भ्रम पाल लिया कि 'सांख्य' दर्शन निरीश्वरवादी या 'नास्तिक' है, किन्तु इस सूत्र के पूर्वापर प्रसंग को देखने से ज्ञात होता है, कि 'सांख्य' में जो ईश्वर की असिद्धि का वर्णन है। वह जगत् के उपादान भूत ईश्वर की असिद्धि का वर्णन है। इस रूप में ईश्वर का निर्वचन नहीं किया जा सकता। वह सच्चिदानन्द स्वरूप है और सृष्टि का निमित्त कारण है। चेतन परमात्मा जगत् या नियन्ता और अधिष्ठाता है। 'विज्ञानभिक्षु' के अनुसार कर्तृत्त्व शक्ति सम्पन्न ईश्वर की सिद्धि भले न हो परन्तु ईश्वर जगत् का साक्षी है, जिसकी सन्निधि मात्र से प्रकृति जगत् के व्यापार में निरत होती है और परिणाम धारण कर जगत् की रचना में प्रवृत्त होती है। यह उसी प्रकार है जैसे चुम्बक अपने सानिध्य से लोहे में गति प्रदान करता है।[१] अत: ईश्वर का अस्तित्व है।

'योगदर्शन' में ईश्वर की सिद्धि 'श्रुति' एवं 'शास्त्रों' के आधार पर की गयी है। प्रकृति जड़ है सृष्टि काल में पुरुष के साथ उसका संयोग तथा प्रलय काल में उसका वियोग स्वत: नहीं हो सकता। वह 'शक्तिमान्', सर्वज्ञ, ईश्वर ही है। जो प्रत्येक पुरुष के कर्मों को जानता है और उनके अनुसार प्रकृति पुरुष का संयोग कराता है। तथा प्रलय काल में वियोग कराता है। 'पातञ्जल योगदर्शन' में ईश्वर के अस्तित्त्व को स्वीकार किया गया है। समाधि सिद्धि के लिए ईश्वर के वाचक पद प्रणव के जाप का ही प्रमुखता से वहाँ उपपादन हुआ है। 'योग' के आठ अंगों में 'नियम' नामक अंग के

---

१. तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्, सांख्यसूत्र—१.९६.

पाँच अवयवों में अन्तिम अवयव 'ईश्वर प्रणिधान' हैं। 'योगसूत्र' (१.२४) में कहा गया है, कि ईश्वर एक पुरुष (आत्मा) है, जो क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशय से अस्पृष्ट है। ईश्वर के सृष्टि रचयिता आदि का स्वरूप 'व्यासभाष्य' तथा 'वाचस्पति मिश्र' की 'तत्त्व वैशारदी' में प्राप्त होता है।[१] जिनके अनुसार ईश्वर नित्यमुक्त, ऐश्वर्यवान्, एक सर्वज्ञ, अनुकम्पाशील, सृष्टि का रचयिता और कर्मफल प्रदाता है। 'योग' के ईश्वर का स्वरूप 'न्याय वैशेषिक' के ईश्वर के स्वरूप से भिन्न नहीं है। 'न्याय' के समान योग भी ईश्वर को सृष्टि का निमित्त कारण मानता है।

'मीमांसा-दर्शन' में भी 'ईश्वर' तत्त्व पर विचार हुआ है। वेद को अपौरुषेय मानने वाले 'जैमिनी' और 'शबर स्वामी' कर्मफल प्राप्ति हेतु 'ईश्वर' की आवश्यकता नहीं समझते। उनके अनुसार तो फल कर्म (यज्ञ) से मिलता है। ईश्वर का इसमें कोई हस्तक्षेप ही नहीं है। वे तो संख्या के समान जगत् की सृष्टि को प्राकृतिक मानते हैं। ईश्वर सृजक नहीं है परन्तु उत्तर कालीन मीमांसकों ने ईश्वर को 'यज्ञपति' के रूप में स्वीकार किया है इसीलिए 'वेदान्तदेशिक' ने 'सेश्वरमीमांसा' ग्रन्थ की रचना की। 'लौगाक्षिभास्कर' ने गीता को श्रुतिमूलक मानकर 'मोक्षार्थ शुभाशुभ कर्म फल समर्पण' को ईश्वर के लिए निर्दिष्ट किया है।

'प्रभाकर-विजय' के कर्ता ने ईश्वर के विषय में किये गये अनुमान का खण्डन तो किया है परन्तु ईश्वर की सिद्धि को स्पष्टतः अंगीकार किया है।[२] प्रभाकर उस ईश्वर को मानते हैं जो श्रुति वाक्यों के द्वारा प्रमाणित किया गया है, अनुमान-गम्य ईश्वर को नहीं।

'न्याय' और 'वैशेषिक' में 'ईश्वर' की सिद्धि के लिए आठ युक्तियां दी गयी हैं जो 'उदयन' की 'न्यायकुसुमाञ्जलि' पर आधारित हैं—

१. पृथिवी आदि का कोई कर्ता है; क्योंकि ये कार्य हैं।[३] यह वही युक्ति है, जो 'वाचस्पति' मिश्र दे चुके हैं। यहाँ पर पूर्व पक्षी शंका उठाता है, कि संसार में कर्त्ता हमें सदैव शरीर-विशिष्ट दिखलायी पड़ता है। ईश्वर शरीर रहित है अर्थात् वह पृथ्वी आदि का कर्त्ता कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न को लेकर एक लम्बा विवाद चलता है।

२. प्रत्येक सृष्टि में परमाणु मिलकर द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि बनते हैं। किन्तु परमाणु

---

१. तत्त्ववैशारदी—४.३

२. भारतीय दर्शन—आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० ३३३.

३. क्षित्यादि कर्तृपूर्वकं कार्यत्वात्—५. पृ० १.

अचेतन होने के कारण स्वयं द्व्यणुक आदि कार्यों को उत्पन्न नहीं कर सकते उनको क्रिया में प्रवृत्त करने के लिए किसी चेतन कर्त्ता की आवश्यकता नहीं है। यह चेतन कर्त्ता ईश्वर है। इस उक्ति को 'उद्योतकर' प्रस्तुत कर चुके हैं।

३. जगत् को धारण करने के लिए अर्थात् उसे गिरने आदि से रोकने के लिए तथा उसके संहार के लिए किसी दिव्य पुरुष के प्रयत्न की आवश्यकता है। यह दिव्य पुरुष ही ईश्वर है।

४. प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य सभी प्रकार के शिल्पों में अनभिज्ञ होते हैं। उन्हें शिक्षित करने के लिए ईश्वर समय समय पर शरीर धारण कर उन्हें शिक्षित करता है और अपनी विभूति को अभिव्यक्त करता है। शिल्पों में न्यूनाधिक मात्रा दृष्टिगोचर होती है। इनकी सर्वाधिक मात्रा ईश्वर में है। वही सबसे बड़ा और आदि शिल्पी है। यह युक्ति योग से गृहीत है।

५. वेदों में प्रामाणिक ज्ञान है। ज्ञान की प्रामाणिकता उसके कारण से आती है। वेदों की प्रामाणिकता का भी कोई कारण होना चाहिए इस प्रामाणिकता का कारण ईश्वर है। ईश्वर जो सर्वज्ञ है, इनका रचयिता है।

६. वेद किसी सर्वज्ञ की रचना है; क्योंकि वे वेद हैं, जो किसी सर्वज्ञ द्वारा रचित नहीं होते वे वेद नहीं होते, जैसे मनुष्यों द्वारा उच्चरित वाक्य। वेदों में इन्द्रियातीत विषयों का वर्णन है, जिनसे मनुष्य अनभिज्ञ हैं, अतः ईश्वर के अतिरिक्त किसी और की रचना नहीं हो सकते।

७. वेद वाक्यात्मक हैं अतः वे किसी पुरुष की रचना हैं जैसे कोई जुलाहा धागों को वस्त्र के रूप में आयोजित करता है, वैसे ईश्वर शब्दों को वेद के रूप में आयोजित करता है। जैसे एक पर्वत का आयोजन घट के आयोजन से भिन्न है, वैसे ही वेदों का आयोजन मानवीय आयोजन से भिन्न है।

८. अन्तिम युक्ति वैशेषिक की विशिष्ट मान्यता पर आधारित है। 'न्याय' के अनुसार एक से अधिक दिव्य आदि संख्या के लिए अपेक्षा बुद्धि का होना आवश्यक है अर्थात् वस्तुओं में दो-तीन संख्याएँ तभी रह सकती हैं जब उन्हें कोई देखे और उसमें अपेक्षा बुद्धि उत्पन्न हो। अपेक्षा बुद्धि किसी चेतन में ही उत्पन्न हो सकती है, परमाणुओं में अणु परिमाण है, जो मनुष्य के लिए प्रत्यक्ष-ग्राह्य नहीं है। सृष्टि के आदि में दो परमाणु मिलकर एक द्व्यणुक बनाते हैं और तीन द्व्यणुक मिलकर एक त्रयणुक बनाते हैं। द्व्यणुक का परिणाम भी अणु परिमाण है; क्योंकि अणु परिमाण युक्त वस्तुओं के

मिलने से महत् परिमाण हो जाता है; क्योंकि 'तीन' में 'बहुत्व' है। 'न्याय' के अनुसार यहाँ 'महत्परिमाण' बहुत संख्या के कारण आता है। द्वित्व और त्रित्व आदि संख्याएँ भी उत्पन्न हो सकती हैं जब इनको देखने वाला चेतन 'पुरुष' हो और उसमें अपेक्षा बुद्धि उत्पन्न हो सकती हो। आदि में मनुष्य तो था ही नहीं अत: यह अपेक्षा बुद्धि ईश्वर में ही उत्पन्न हो सकती है। यदि ईश्वर को न माना जाये तो परमाणुओं द्वारा द्व्यणुकों आदि में संख्या उत्पन्न नहीं हो सकती जिसके बिना सृष्टि का निर्माण नहीं हो सकता।

"किन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती का मन्तव्य सत्यार्थ-प्रकाश समुल्लास अष्टम भी द्रष्टव्य है"—

सबसे बड़ा सूक्ष्म टुकड़ा अर्थात् जो काटा नहीं जाता उसका नाम परमाणु,साठ परमाणुओं के मिले हुए नाम अणु, दो अणु का एक द्व्यणुक जो स्थूल वायु है तीन द्व्यणुक का अग्नि, चार द्व्यणुक काजल, पाँच द्व्यणुक का पृथिवी। अर्थात् तीन द्व्यणुक का त्रसरेणु और उसका दूना होने से पृथ्वी आदि दृश्य पदार्थ होते हैं। इसी प्रकार क्रम से मिलकर भूगोलादि परमात्मा ने बनाये हैं।[१]

इस प्रकार यहाँ सभी 'भारतीय-दर्शन' के ईश्वर तत्त्व के स्वरूप के सम्बन्ध में विवेचन प्रस्तुत किया। यह विवेचन इसलिए भी आवश्यक है, जिससे कि तुलनात्माक रूप से यह सुस्पष्ट हो सके कि ईश्वर के यथार्थ स्वरूप तक किस-किस दर्शन की वास्तविक पहुँच हो सकी है। इसके साथ ही कार्य-कारण के सिद्धान्त के द्वारा यह भी जाना जा सके कि ईश्वर जगत् की उपादान अथवा निमित्त कारण है। आस्तिव दर्शनों में 'न्याय वैशेषिक' ने ईश्वर के स्वरूप पर गहनता से विचार किया है। 'सांख्य' भी ईश्वरवादी है, किन्तु उसकी अपेक्षा 'योगदर्शन' में आकर 'ईश्वर' का स्वरूप अधिक स्पष्ट हुआ है। मूलवेदान्त में 'त्रैतवाद' का प्रतिपादन करते हुए ईश्वर का स्वरूप अन्य आस्तिक दर्शनों जैसा ही है किन्तु नवीन वेदान्त और उसके अवान्तर मतों में उसका वास्तविक स्वरूप उलझकर रह गया है। यह उलझाव इतना अधिक है, कि सामान्य अध्ययनशील व्यक्ति की बात तो जाने दीजिये गम्भीर विशेषज्ञ की बुद्धि भी चकरा जाती है। 'शंकर' को भ्रम मकड़ी के मायाजाल में उलझकर ईश्वर के वास्तिक स्वरूप को नहीं समझा पाता। वास्तविकता तो यह है, कि जड़ और चेतन दोनों तत्त्वों का पृथक् अस्तित्त्व है। कोई भी समझदार व्यक्ति इन्हें एक नहीं मान सकता और फिर गुण, कर्म, स्वभाव एवं कार्य-कारण परम्परा भी इनको एक सिद्ध नहीं कर पाती है।

१. द्र० सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास, पृ० ३५५.

अत: 'परमात्मा', 'जीवात्मा', और 'प्रकृति' इन तीन नित्य तत्त्वों का आस्तित्त्व पृथक् ही स्वीकारना होगा।

'ईश्वर तत्त्व' को लेकर स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों 'सत्यार्थ प्रकाश' और 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' आदि ग्रन्थों में बड़ा यथार्थ वर्णन किया है। स्वामी दयानन्द ने प्राय: सभी भारतीय दर्शन का गहन अध्ययन किया है और ईश्वर तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का तर्कसंगत और न्याय पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और उसके द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के सम्बन्ध में गहन विश्लेषण किया है। स्वामी दयानन्द की दृष्टि बड़ी व्यापक है। जीवात्मा से जगत् के सम्बन्ध पर भी उन्होंने विचार किया है। स्वामी दयानन्द एक योगी पुरुष थे। वे यथार्थ के धरातल पर स्थिर होकर बड़े विस्तार के साथ 'ईश्वर चिन्तन' प्रस्तुत करते हैं। अभी तक कोई ऐसा अन्य विद्वान् नहीं हुआ है, जिसने इतने विस्तार से ईश्वर के स्वरूप पर विचार किया हो। अत: उनके विचारों का और अधिक महत्त्व बढ़ जाता है। उनके विचारों को एक समग्र दृष्टि से 'दयानन्द-दर्शन' का नाम दिया जा सकता है। इस 'दयानन्द-दर्शन' के अनुसार ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए निम्नांकित छ: बिन्दुओं पर भली -भाँति विचार करना अपेक्षित होगा। वे छ: बिन्दु हैं—

१. ईश्वर के विविध नाम,
२. अनीश्वरवाद का निराकरण,
३. ईश्वर की सिद्धि में प्रमाण
४. ईश्वर की स्वीकृति में षड्दर्शन का विरोध नहीं,
५. ईश्वर का स्वरूप,
६. ईश्वर के गुण, कर्म व स्वभाव

ईश्वर के विविध नाम– ईश्वर के विविध नामों के बारे में वेद और उपनिषदों में पर्याप्त चिन्तन किया गया है। दयानन्द ने इन नामों का अपने वेद भाष्यों 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' तथा 'सत्यार्थ-प्रकाश' में उल्लेख किया है। 'सत्यार्थ प्रकाश' के प्रथम समुल्लास में ईश्वर के १०८ नामों की विशद व्याख्या की गयी है। ईश्वर के लिए 'अग्नि' शब्द बहुलता से प्रयुक्त हुआ है। 'ओ३म्' यह तो केवल परमात्मा का ही मुख्य नाम है और 'अग्नि' आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण का नियम कारक है।[१] उदाहणार्थ वि उपसर्ग पूर्वक 'राजृ दीप्तौ' इसधातु से क्विप् प्रत्यय करने से 'विराट्' विविध अर्थात् जो बहु प्रकार से जगत् को प्रकाशित करे इससे

१. द्र० सत्यार्थप्रकाश, प्रथम समुल्लास, पृ० १४.

'विराट्' नाम से परमेश्वर का ग्रहण होता है।[१] किन्तु "ततो विराडजायत" 'पुरुषसूक्त' के स्थल पर 'विराट्' शब्द का अर्थ परमेश्वर नहीं होता। क्यों? यहाँ 'अजायत' (उत्पन्न हुआ) शब्द के द्वारा 'विराट्' की उत्पत्ति (जन्म) दिखलायी गयी है। परमेश्वर का जन्म-मरण कभी नहीं होता। फलत: जहाँ प्रकरण और विशेषण अनुकूल हो वहाँ 'विराट्' आदि नामों से परमेश्वर का ग्रहण करना उचित है।

स्वामी जी ने 'ब्राह्मण', 'निरुक्त' व 'व्याकरण' आदि के आधार पर इस प्रकार के शब्दों को ईश्वर का नाम स्वीकार किया है। वे कहते हैं — "जैसा कि व्याकरण, निरुक्त, ब्राह्मण सूत्रादि ऋषि मुनियों के व्याख्यानों से परमेश्वर का ग्रहण देखने में आता है वैसा ग्रहण करना सबको योग्य है।"[२] 'ब्रह्मसूत्र' तथा उसके विविध भाष्यों में भी उपनिषदों में प्रयुक्त अनेक नामों का ब्रह्म में तात्पर्य दिखलाया गया है। दयानन्द-कृत ईश्वर के नामों की व्याख्या के साथ उन सभी का तुलनात्मक अनुशीलन महत्त्वपूर्ण हो सकता है। साथ ही यह भी विवेचनीय है, कि वेद में विराट् आदि शब्द का कहाँ ईश्वर में तात्पर्य है कहाँ ईश्वर तथा किसी अन्य पदार्थ दोनों में और कहाँ केवल किसी अन्य पदार्थ में तात्पर्य है।

२. अनीश्वरवाद के निराकरण- दयानन्द ने युक्ति तथा प्रमाणों के आधार पर अनीश्वरवाद का निराकरण किया है। 'जैनमत' की समीक्षा करते हुए 'प्रकरणरत्नाकर' नामक जैन-ग्रन्थ के आधार पर नास्तिक और आस्तिक का संवाद प्रस्तुत करके उन्होंने अनेक युक्तियाँ दी हैं जिसका सार यह है—

अनीश्वरवादी (नास्तिक) का विचार है, कि इस जगत् का कर्त्ता कोई नहीं, किन्तु जगत् स्वयं सिद्ध है। यदि ईश्वर को माना जाए तो यह कहना कठिन है, कि सृष्टि रचना में ईश्वर का क्या प्रयोजन? यदि ईश्वर को जगत् का कर्त्ता और कर्मों के फलों का दाता माना जाए तो ईश्वर प्रपञ्ची होकर दु:खी हो जाएगा। यदि ईश्वर की रचना से सृष्टि होती तो माता-पिता आदि का क्या काम? किञ्च, ईश्वर की इच्छा से कुछ नहीं होता, जो कुछ होता है कर्म से होता है।[३]

इसके उत्तर में आस्तिकवादी की युक्तियाँ हैं— कोई कार्य बिना कर्त्ता के नहीं होता; यह जगत् भी कार्यरूप है, अत: बिना कर्त्ता के यह विविध जगत् और रचना कैसे बन

---

१. सत्यार्थप्रकाश, प्रथम समुल्लास, पृ० १५.

२. वही, पृ० १४,

३. वही, द्वादश समुल्लास—पृ० ५७३.

सकती है? जड़ में स्वयं बनने का सामर्थ्य नही स्वभाव से सृष्टि नहीं बन सकती और न ही जगत् बनाने का जीव में सामर्थ्य है। अतः सृष्टिकर्त्ता के रूप में 'ईश्वर' को मानना अनिवार्य है।[१] यद्यपि ईश्वर का जगत् के बनाने में कोई स्वहित नहीं है। तथा उसका अनन्त सामर्थ्य जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और व्यवस्था करने ही से सफल है। जैसे नेत्र का स्वाभाविक गुण देखना है वैसे परमेश्वर का स्वाभाविक गुण जगत् की उत्पत्ति करके सब जीवों को असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है।[२] जब अनेक कर्मों के फलों का दाता, धार्मिक, न्यायाधीश विद्वान् कर्मों में नहीं फंसता न प्रपञ्ची होता है तो परमेश्वर अनन्त सामर्थ्य वाला (होकर भी)प्रपञ्ची और दुःखी क्यों कर होगा?[३] ऐश्वरी सृष्टि का ईश्वर कर्ता है जैवी सृष्टि का नहीं। जो जीवों के कर्त्तव्य कर्म हैं उनको ईश्वर नहीं करता, किन्तु जीव ही करता है........ पुत्रादि की उत्पत्ति करना जीव का कर्त्तव्य काम है।[४] अतः ईश्वर सृष्टि की रचना करता है फिर भी माता-पिता का कर्त्तव्य शेष रह जाता है। और 'जैसे परमात्मा परमाणुओं से सृष्टि करता है वैसे माता-पिता रूप निमित्त कारण से भी उत्पत्ति का प्रबन्ध नियम उसी ने किया है।[५] ईश्वर व्यापक है, यह आगे सिद्ध किया जायेगा। ''ईश्वर अक्रिय नहीं किन्तु सक्रिय है। जब चेतन है कर्त्ता क्यों नहीं? और जो कर्त्ता है तो वह क्रिया से पृथक् कभी नहीं हो सकता।''[६] ''जैसे मनुष्यों में कर्त्ता के बिना कोई कार्य नहीं होता वैसे ही इस महत् कार्य का कर्त्ता के बिना होना सर्वथा असंभव है।''[७] इसलिए सृष्टि का कर्त्ता 'ईश्वर' ही है, यह मानना चाहिए। इसी प्रकार अन्य युक्तियों से भी अनीश्वरवाद का निराकरण करते हुए दयानन्द ने प्रमाणों द्वारा ईश्वर की सिद्धि की है।

३. ईश्वर की सिद्धि में प्रमाण

इस विषय में ऋषि की निराली सूझ है, रोचक उद्भावनाएँ हैं यथा—

प्रश्न– आप ईश्वर-ईश्वर कहते हो परन्तु उसकी सिद्धि किस प्रकार करते हो?

---

१. द्र० वही, पृ० ५७७.
२. वही, अष्टम समु० पृ० २७७
३. वही, द्वादश समु० पृ० ५७८
४. वही, पृ० ५७५,
५. वही, पृ० ५७५,
६. वही, पृ० ५९३,
७. वही, सप्तम, पृ० २२४

उत्तर–सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से।[१]

किन्तु प्रश्न यह है, कि क्या ईश्वर का प्रत्यक्ष संभव है। भारतीय दर्शनों के ईश्वरवादी तार्किक अनुमान आदि प्रमाणों के आधार पर ही ईश्वर सिद्धि करते हैं। हाँ, किन्हीं आचार्यों ने योगज प्रत्यक्ष द्वारा ईश्वर का प्रत्यक्ष अवश्य स्वीकार किया है फिर भी आलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा तो ईश्वर का साक्षात्कार संभव ही नहीं है।

ऋषि दयानन्द अपनी अद्भुत प्रतिभा द्वारा एक नवीन उद्भावना करते हुए ईश्वर का लौकिक प्रत्यक्ष भी स्वीकार करते हैं। 'न्यायसूत्र' में कथित प्रत्यक्ष का लक्षण दिखलाते हुए वे कहते हैं "अब विचारना चाहिए कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणों का नहीं। जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथ्वी उसका आत्मा युक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है, वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना विशेष आदि अनादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है।"[२]

इस मन्तव्य को 'जैनों' के प्रति ईश्वर की सिद्धि में भी लगभग इसी प्रकार के शब्दों में दिखलाया गया है। यहाँ मनोवैज्ञानिक तथा प्रमाण विद्या की दृष्टि से दो बातें विशेष अनुशीलन की अपेक्षा रखती हैं एक तो यह कि "पृथिवी आदि गुणों का आत्मा युक्त मन से प्रत्यक्ष होता है", दूसरी ओर यह कि "इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं।" द्रव्य के प्रत्यक्ष के विक्षय में भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में मतभेद हैं। एक ही सम्प्रदाय में भी कुछ अवान्तर वैमत्य है, जैसे कुछ नैयायिक केवल उद्भूत रूपवद् द्रव्य का ही इन्द्रिय प्रत्यक्ष मानते हैं।[३] इसी प्रकार मानस प्रत्यक्ष के विषय में भी मतभेद हैं। कुछ आचार्यों के मतानुसार आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, अन्य आचार्य आत्मा का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण नहीं मानते, आत्मा को केवल अनुमान का विषय मानते हैं।[४] फिर भी यह सभी मतभेद लौकिक प्रत्यक्ष के विषय में हैं। योगज प्रत्यक्ष या योगि–प्रत्यक्ष का क्षेत्र तो अत्यन्त विस्तृत माना गया है।

उपर्युक्त स्थल में बाह्य इन्द्रियों द्वारा गुण का ग्रहण किए जाने पर आत्मायुक्त मन से ईश्वर का प्रत्यक्ष कहा गया है। साथ ही ईश्वर के लौकिक, प्रत्यक्ष का एक अन्य भी

१. सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृ० २२९,
२. सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास पृ० २२९
३. द्र० प्रशस्तापाद भाष्य तथा न्यायकन्दली (वायु) पृ० ११५–११६
४. तत्र प्रत्यक्षमात्मानमोपवर्षा (प्रयेदिरे),
प्रत्ययगम्यत्वात्स्वयूथ्या अपि केचन ११ न्यायमञ्जरी, भाग–२.पृ० ३,

प्रकार ऋषि ने बतलाया है:— "जो पापाचरणेच्छा समय में भय, शंका, लज्जा उत्पन्न होती हैं, वह अन्तर्यामी परमात्मा की ओर से है इससे भी परमात्मा प्रत्यक्ष होता है।"[१] इस प्रकार के आन्तिरक संवेदन में परमात्मा का ही प्रत्यक्ष होता है, इस मन्तव्य को अन्य स्थल पर कुछ विस्तार से रखा गया है— "जब आत्मा, मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता या चोरी आदि बुरी व परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है उससमय जीव की इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाता है। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शंका और लज्ञा तथा अच्छे काम के करने में अभय, निशंका और आनन्दोत्साह उठता है, वह जीवात्मा की ओर से नहीं किन्तु परमात्मा की ओर से हैं।"[२] परमात्मा का यह प्रत्यक्ष केवल आत्मायुक्त मन से होता है। इसमें बाह्य इन्द्रियाँ कारण नहीं होती। किञ्च, इस प्रकार के शंका और उत्साह आदि को हम अन्तर चेतना की और से समझते हैं ऋषि की दृष्टि में वे ईश्वर की ओर ही होते हैं या कहिये जो हमारा अन्तरात्मा है, आत्मा की भी आत्मा है, वही 'ईश्वर' है।

इसके अतिरिक्त परमात्मा का योगज प्रत्यक्ष भी होता है— 'जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं।'[३] इन शब्दों में परमात्मा के योगज प्रत्यक्ष का कथन किया गया है। यद्यपि यहाँ ऐसे किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया गया फिर भी 'जैनमत' की समीक्षा के संदर्भ में जो परमात्मा का प्रत्यक्ष दिखलाया गया है, उसके साथ सामंजस्य करने से यही तथ्य प्रतीत होता है। वहाँ बतलाया गया है कि शुद्धान्त:करण विद्या और योगाभ्यास से पवित्र आत्मा परमात्मा को प्रत्यक्ष देखता है, जैसे बिना पढ़े विद्या के प्रयोजनों की प्राप्ति नहीं होती वैसे ही योगाभ्यास और विज्ञान के बिना परमात्मा भी नहीं दीख पड़ता है।[४]

प्रश्न– परमात्मा के योगज प्रत्यक्ष का वेद-उपनिषद् तथा वैदिक दर्शनों में किस रूप में निरूपण किया गया है?

उत्तर– ऋषि का कथन है, कि "जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है तो अनुमानादि से परमेश्वर के ज्ञान होने में क्या सन्देह है।'[५] उन्होंने कई स्थलों पर ईश्वर साधक,

---

१. सत्यार्थप्रकाश, द्वादश समु०—पृ० ५७१
२. वही, पृ० २३०
३. वही, पृ० २३०
४. स०प्र० द्वादश समु० पृ० ५७०.
५. वही, सप्तम समु० पृ० २३०.

अनुमान प्रस्तुत किये हैं जिनमें से कुछ का निदर्शन ही पर्याप्त होगा—

(१) "कार्य को देख के कारण का अनुमान होता है"[१] इसकी व्याख्या एक अन्य स्थल पर इस प्रकार की गयी है "जब कोई किसी पदार्थ को देखता है तो दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है और जैसा वह पदार्थ है और दूसरा उसमें रचना देखकर बनाने वाले का ज्ञान है। जैसे किसी पुरुष ने सुन्दर आभूषण जंगल में पाया, देखा तो विदित हुआ कि यह सुवर्ण का है और किसी बुद्धिमान् कारीगर ने बनाया है। इसी प्रकार यह नाना प्रकार की सृष्टि में विविध रचना बनाने वाले परमेश्वर को सिद्ध करती हैं"[२]

यहाँ 'सृष्टि के विविध प्रकार की रचना' से 'ईश्वर' का अनुमान बतलाया गया है। ऊपर 'रचना-विशेष' नामक गुण के बाह्य प्रत्यक्ष द्वारा आत्मा युक्त मन में ईश्वर का प्रत्यक्ष कहा गया था। इन दोनों स्थलों पर विचार करने से यह शंका होती है क्या 'विविध रचना' और 'रचना विशेष' में कोई अन्तर है। अथवा स्वामी जी ने दो स्थलों पर दो प्रकार के परस्पर विरुद्ध विचार प्रकट किये हैं? इस शंका का समाधान इस रूप में किया जा सकता है— शुद्ध आत्मा वाले व्यक्ति रचना विशेष आदि गुणों का प्रत्यक्ष करके आत्मा युक्त शुद्ध अन्तःकरण से गुणी जो परमात्मा है उसका प्रत्यक्ष कर सकते हैं, सभी नहीं। इस प्रकार का प्रत्यक्ष शुद्ध अन्तःकरण और विद्या से ही संभव है। शेष जन तो तर्क के आधार पर विविध रचना को देखकर उसके कर्ता का अनुमान ही कर सकते हैं। इस प्रकार स्वामी जी के दोनों कथनों में विरोध नहीं है।

(ii) ईश्वर की सिद्धि में 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' प्रमाण दिखलाकर दयानन्द कहते हैं— 'प्रत्यक्ष तथा अनुमान के होने से आगम प्रमाण भी नित्य, अनादि, सर्वज्ञ ईश्वर का बोधक होता है। इसलिए 'शब्द' प्रमाण भी ईश्वर में है।'[३] वस्तुतः जैसा 'व्यासभाष्य' में कहा गया है[४] अनुमान से सामान्य रूप में किसी-किसी शक्ति का बोध होता है, जो सर्वज्ञ और परमेश्वर्यवान् है उसके ओंकार (प्रणव) आदि नाम हैं, इस प्रकार का ज्ञान तो शास्त्रों द्वारा ही संभव है। 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका'[५] तथा 'सत्यार्थप्रकाश'[६] में ईश्वर का प्रतिपादन करने वाले अनेक वेदमन्त्र उद्धृत किए गए हैं। साथ ही 'वेदान्त'

---

१. सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समु० पृ० २३०.
२. वही, अष्टम समु० पृ० २९१-२९२.
३. वही, द्वादश समु० पृ० ५७१
४. द्र० योगसूत्र व्यासभाष्य—१.२५.
५. ऋग्वेदादि, ब्रह्मविद्याविषय, पृ० ३६७-३७१.
६. सत्यार्थप्रकाश, एकम,सप्तम समु०,

आदि दर्शनों के प्रमाण भी प्रस्तुत किए गए हैं। 'वेदान्त' के 'शास्त्रयोनित्वात्' (१.१.३) सूत्र और उसके 'शांकरभाष्य' को उद्धृत करते हुए दयानन्द कहते हैं– "न हीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यः संभवोऽस्ति" सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई जीव सर्वज्ञगुणयुक्त इन वेदों को बना सके ऐसा सम्भव कभी नहीं हो सकता।[१] जिस प्रकार जगत् के कर्त्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है उसी प्रकार शास्त्र के कर्त्ता के रूप में भी। दयानन्द ने अनेक युक्तियों के आधार पर यह सिद्ध किया है, कि स्वाभाविक ज्ञान के विकास मात्र से ही मनुष्य को उत्कृष्ट कोटि का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। वह तभी होता है जब उसे ईश्वरीय ज्ञान मिलता है। वह ईश्वरीय ज्ञान वेद ही है। अतः वेद के कर्ता के रूप में भी ईश्वर की सिद्धि होती है।[२] इस मन्तव्य के विषय में प्रतिपक्षियों ने अनेक आक्षेप किए हैं जिनका स्वामी जी ने 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' (वेदोत्पत्ति०) तथा 'सत्यार्थप्रकाश' (समु०) में युक्ति तथा प्रमाणों के आधार पर निराकरण किया है।

(iii) 'जैनमत' समीक्षा के संदर्भ में उन्होंने यह भी बतलाया है, कि रोगादि दोषों से मुक्त होकर भी कोई जीव सर्वज्ञ नहीं हो सकता तथा वह सभी पदार्थों का यथावत् वक्ता नहीं हो सकता। "क्योंकि जीव का स्वरूप एक देशी और परिमित गुण, कर्म, स्वभाव वाला होता है। वह सब विद्याओं में सब प्रकार यथार्थ वक्ता नहीं हो सकता।"[३] उन्होंने 'योगसूत्र' एवं 'व्यासभाष्य' को उद्धृत करते हुए 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' में यह स्पष्ट किया है, कि जहाँ ज्ञान की पराकाष्ठा है, ऐश्वर्य की पराकाष्ठा है वह ईश्वर है। वह सदा ही मुक्त है, सदा ही ईश्वर है। उसकी सिद्धि शास्त्र से होती है और शास्त्र की प्रामाणिकता इसलिए है, कि वह ईश्वरकृत है। इन दोनों का सम्बन्ध शाश्वत है, अनादि है, अतः कोई अन्योन्याश्रय आदि दोष भी नहीं होता।[४]

४. ईश्वर की स्वीकृति में षड्दर्शन का विरोध नहीं–ऋषि के विचार में केवल 'वेदान्त' तथा 'योग' ही ईश्वर का प्रतिपादन नहीं करते अपितु सभी वैदिक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं। वे ईश्वरवादी हैं। 'न्याय-वैशेषिक' में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गयी है और इनके उत्तरकालीन साहित्य में अनेक युक्तियों और तर्कों के आधार पर ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है तथा प्रतिपक्षियों के आक्षेपों का निराकरण

---

१. ऋग्वेदादि, वेदनित्यता०, पृ० ३००-३०१.

२. वही, वेदोत्पति० पृ० २७२-२७६.

३. स०प्र०,द्वादश, समु०, पृ० ५७०.

४. वही, द्वादश समु० पृ० ५७२.

भी, यह विद्वानों को विदित ही है। 'वेदान्त' तथा 'योगशास्त्र' में सूत्रों के युग से ही ईश्वर का स्पष्ट निरूपण किया गया है। 'वेदान्त' सूत्रों का आरम्भ ही "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्र से होता है। 'ब्रह्म' का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करना ही इस शास्त्र का लक्ष्य है। 'योग' यद्यपि साधनापरक शास्त्र है; तथापि यहाँ एक विस्तृत प्रकरण में ईश्वर का स्वरूप दिखलाते हुए उसका कैवल्य प्राप्त पुरुषों से अन्तर दिखलाया गया है और ईश्वर की सिद्धि से प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं। हाँ,विद्वानों को भी यह शंका है, कि 'सांख्य' तथा 'पूर्वमीमांसा' में ईश्वर को नहीं स्वीकारा गया। 'सांख्य' सम्प्रदाय निरीश्वरवादी 'सांख्य' के नाम से प्रसिद्ध है और 'पूर्वमीमांसा' के विषय में यह प्रसिद्ध है, कि वह कर्म को ही फलप्रदान में सफल मानता है "कर्मेति मीमांसका:"। ऋषि दयानन्द ने इस शंका का भी समाधान किया है।

'सांख्य' के "ईश्वराऽसिद्धेः" (१.९२) "प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः" (५.१०), "सम्बन्धाभावान्नानुमानतः" ५.११) अर्थात् ईश्वर की सिद्धि नहीं होती क्योंकि उसकी सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है और व्याप्ति सम्बन्ध न होने से अनुमान भी नहीं है। इन तीन सूत्रों के आधार पर पूर्वपक्षी की स्थापना है, कि 'सांख्य' में 'ईश्वर' का निषेध किया गया है। उत्तरवर्ती व्याख्याओं से भी पूर्वपक्षी के मत की पुष्टि होती है। 'वाचस्पति मिश्र' ने 'ईश्वरकृष्ण' की 'सांख्यकारिका' की 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' नामक व्याख्या में ईश्वर की सत्ता का निषेध किया है।[१] 'शंकराचार्य' ने भी 'सांख्य' को 'निरीश्वरवादी' मानकर उसका खण्डन किया है।[२]

जैसाकि जगत् की उत्पत्ति के प्रसंग में कहा गया है, दयानन्द षड्दर्शन का समन्वय करते हैं। उनके मत में षड्दर्शनों का विषय भेद है, मतभेद नहीं। ईश्वर के विषयमें भी यही बात है। उनकी सृष्टि से ऊपर चर्चित सूत्रों में केवल दो बातों का निषेध किया गया है—

१. ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं, और

२. न ईश्वर जगत् का उपादान कारण है।

स्वामी दयानन्द अपने मन्तव्य को पूर्वापरप्रसंग के आधार पर सिद्ध करते हुए बतलाते हैं— इसी प्रकरण में अन्य तीन सूत्रों द्वारा यह स्पष्टतः कहा गया है, कि जगत्

---

१. सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका, ५६,५७

२. ब्रह्मसूत्र पर शांकरभाष्य, २.२.२-११

का उपादान कारण प्रकृति है परमेश्वर नहीं।[१] अन्त में "सांख्य ईश्वरवादी है" इस मन्तव्य पर बल देते हुए कहते हैं– "इसलिए जो कोई कपिलाचार्य को अनीश्वरवादी कहता है जानों वही अनीश्वरवादी है, कपिलाचार्य नहीं।"[२]

"सांख्य ईश्वरवादी दर्शन है", यह बात 'विज्ञानभिक्षु' ने भी स्वीकार की थी। 'सांख्य-कारिका' की प्राचीन व्याख्या 'माठरवृत्ति' से भी 'सांख्य' का ईश्वरवादी होना सिद्ध होता है।[३] आधुनिक युग में कतिपय विद्वानों नें 'सांख्य सूत्रों' का सूक्ष्मता से अनुशीलन करके यह परिणाम निकाला है, कि सांख्य में प्रकृति के अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर को स्वीकार किया गया है।[४]

जहाँ तक 'मीमांसा' का प्रश्न है, स्वामी दयानन्द का कथन है– तथा मीमांसा का धर्म-धर्मी से ईश्वर से 'वैशेषिक' और 'न्याय' शब्द भी आत्मा से अनीश्वरवादी नहीं, क्योंकि सर्वज्ञत्वादि धर्मयुक्त और "अतति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा" जो सर्वत्र व्यापक और सर्वज्ञादि धर्मयुक्त सब जीवों का आत्मा है, उसको 'मीमांसा', 'वैशेषिक' और 'न्याय' ईश्वर मानते हैं।[५]

इस प्रकार दयानन्द का दृढ़ विश्वास है, कि षड्दर्शन में ईश्वर की स्वीकृति के विषय में कोई विरोध नहीं है। आज का विद्वत्समाज 'सांख्य' और 'मीमांसा' का अनीश्वरवादी प्रस्थान मानता है। 'विज्ञानभिक्षु' जैसे 'सांख्य' के आचार्यों ने भी जो 'सांख्य' में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की थी, उसे भी प्रौढ़िवादमात्र समझता है। अत: इस विषय में और अध्ययन अपेक्षित है।

५. ईश्वर का स्वरूप

युक्तियों तथा प्रमाणों के द्वारा ईश्वर की सिद्धि करके दयानन्द ने वेद आदि के आधार पर ईश्वर के स्वरूप तथा गुणों का भी निरूपण किया है। 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' तथा 'सत्यार्थ-प्रकाश' में ईश्वर का दार्शनिक विवेचन उपलब्ध होता है। 'स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश', 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' तथा 'आर्यसमाज' के प्रथम नियम में ऋषि के अभिमत ईश्वर का संक्षिप्त विवरण है। 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' में वे

१. सत्यार्थ-प्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृ० २४३.
२. वही, पृ० २४४.
३. सांख्य सिद्धान्त (उदयवीर शास्त्री) पृ० ३०७.
४. सांख्य सिद्धान्त (उदयवीर शास्त्री) पृ० ४०-६०.
५. सत्यार्थ-प्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृ० २४४.

लिखते हैं– जिसके ब्रह्म, परमात्मा आदि नाम हैं जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है, जिसके गुण कर्म, स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्ता, धर्ता, हर्ता सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त है उसी को परमेश्वर मानता हूँ।[१]

ईश्वर ही ब्रह्म एवं परमात्मा है-दयानन्द ने अथर्ववेद के मन्त्रों को उद्धृत करते हुए 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में कहा है– जो भूत, भविष्यत्, वर्तमान कालों का और समस्त जगत् का अधिष्ठाता है तथा काल से परे भी विद्यमान रहता है, जिसका केवल विकार रहित सुख ही स्वरूप है, जिसमें दुःख लेशमात्र भी नहीं है, जो आनन्दघन ब्रह्म है, उस सर्वोत्कृष्ट महान् ब्रह्म के लिए नमस्कार हो।[२]

ब्रह्म-'सत्यार्थप्रकाश' में 'तैत्तिरीय-उपनिषद्' के "नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो" इत्यादि वचन की व्याख्या के संदर्भ में 'ब्रह्म' शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थ इस प्रकार किया गया है– "बृह बृहि वृद्धौ" इन धातुओं से 'ब्रह्म' सिद्ध होता है। जो सबके ऊपर विराजमान, सबसे बड़ा अनन्तबलयुक्त परमात्मा है। उस ब्रह्म को हम नमस्कार करते हैं।[३] इस प्रकार के सन्दर्भों से यह स्पष्ट है, कि दयानन्द की दृष्टि में ईश्वर के जो सहस्रों नाम हैं, जिनमें शताधिक नामों की ऋषि ने 'सत्यार्थ-प्रकाश' में व्याख्या की है उनमें 'ब्रह्म' भी एक है। जैसा 'नवीन वेदान्त' स्वीकार करता है, कि उपाधिरहित आत्मा ब्रह्म है और मायोपाधि से औपाधिक ब्रह्म ही 'ईश्वर' कहलाता है।[४] इसे स्वामी जी स्वीकार नहीं करते। उन्होंने 'मायावाद' का कई स्थलों पर खण्डन किया है, यह ऊपर दिखलाया जा चुका है। वस्तुतः ब्रह्म ही ईश्वर है, वही सृष्टि का कर्त्ता, धर्ता और संहर्ता है और वेदादि शास्त्रों का आदि कारण है।

परमात्मा-'परमात्मा' भी ईश्वर का ही एक नाम है। "अत् सातत्यगमने" इस धातु से 'आत्मा' शब्द सिद्ध होता है, "योऽतति व्याप्नोति स आत्मा"– जो सब जीवादि जगत् में निरन्तर व्यापक हो रहा है। "परश्चासावात्मा च य आत्मभ्यो जीवेभ्यः सूक्ष्मेभ्यः परोऽस्तिसूक्ष्मः स परमात्मा"– जो सब जीवादि से उत्कृष्ट और जीव प्रकृति तथा आकाश से भी अति सूक्ष्म और सब जीवों का अन्तर्यामी आत्मा है, इससे ईश्वर

---

१. स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश–अनु– १.

२. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, ईश्वरप्रार्थना विषय – पृ० २६३.

३. सत्यार्थप्रकाश, एकम समुल्लास, पृ० १९.

४. डॉ वेदान्तसार (पूना १९२९) पृ० ३.

का नाम परमात्मा है।[१] इससे यह भी स्पष्ट है, कि जो 'नवीन वेदान्ती' ने 'आत्मा' या 'परमात्मा' को 'ईश्वर' से भिन्न माना है वह भी स्वामी जी को अभिमत नहीं है। इन नामों के अतिरिक्त ईश्वर के अन्य अनेकानेक, नाम हैं। 'नवीन वेदान्त' में जो 'ब्रह्म' तथा 'ईश्वर' के पृथक्-पृथक् नाम बताए गये है, सभी ईश्वर के ही नाम है। 'ब्रह्म' और 'ईश्वर' तो एक ही तत्त्व के दो नाम हैं।

सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त– सच्चिदानन्द शब्द का अर्थ है 'सत्' 'चित्' तथा 'आनन्द स्वरूप'। ईश्वर 'सत्' है, 'चित्' है और 'आनन्द रूप' भी है। स्वामी जी ने इस शब्द का अनेकशः प्रयोग किया है। वस्तुतः इस नाम से ईश्वर की सत्ता की ही अभिव्यंजना नहीं होती अपितु ईश्वर के 'प्रकाशस्वरूप' और 'आनन्दस्वरूप' का भी बोध होता है। उन्होंने तीनों शब्दों की पृथक्शः व्युत्पत्ति बतलाते हुए इस नाम की व्याख्या की है–

सत्– अस् भुवि इस धातु से 'सत्' शब्द सिद्ध होता है। ''यदस्तित्रिषु कालेषु न बाध्यते तत्सद् ब्रह्म'' जो सदा वर्तमान अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान कालों में जिसका बोध न हो उस परमेश्वर को 'सत्' कहते हैं।[२] 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में जो 'ब्रह्म' को भूत, भविष्यत्, वर्तमान कालों में जगत् का अधिष्ठाता कहा गया है,[३] उससे भी ईश्वर की त्रिकालिक सत्ता की अभिव्यक्ति होती है।

चित्– ''चिती संज्ञाने'' इस धातु से 'चित्' शब्द सिद्ध होता है। ''यश्चेतति चेतयति संज्ञापयति सर्वान् सज्जनान् योगिनस्तच्चित् परं ब्रह्म''– जो चेतन स्वरूप, सब जीवों को जिताने और सत्यासत्य को जानने वाला है इसलिए उस परमात्मा का नाम 'चित्' है।[४]

आनन्द– ''टुनदि समृद्धौ'', आङ्र्वक इस धातु से 'आनन्द' शब्द बनता है। 'आनन्दन्ति सर्वे मुक्ता यस्मिन् यद्वा यः सर्वान् जीवानानन्दयति स आनन्दः' जो अनन्द स्वरूप जिसमें सब मुक्त जीव आनन्द को प्राप्त होते और जो सब धर्मात्मा जीवों को आनन्दयुक्त करता है, इससे ईश्वर का नाम आनन्द है।[५]

इन तीनों शब्दों के विशेषण होने से परमेश्वर को 'सच्चिदानन्द स्वरूप' कहते हैं।[६]

---

१. सत्यार्थप्रकाश, एकम समुल्लास, पृ० २०-२१.
२. वही, पृ० २७-२८.
३. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, ईश्वरप्रार्थना विषय – पृ० २६३.
४. सत्यार्थप्रकाश, एकम समुल्लास, पृ० २७
५. वही, पृ० २७
६. वही, पृ० २८

यहाँ 'आदि' शब्द से ईश्वर के अन्य नामों को भी समझना चाहिए। वस्तुत: यौगिक अर्थ की सृष्टि से ईश्वर के अनेक नामों की संगति लगती है।

६. ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव

ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव का भी ऋषि ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' तथा 'सत्यार्थ-प्रकाश' में निरूपण किया है। 'उपासना' के संदर्भ में 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में कहा है– उपासना दो प्रकार की है, एक सगुण और दूसरी निर्गुण उनमें से ''स पर्यगात्०'' इस मंत्र में 'शुक्र' अर्थात् 'शुद्ध' यह सगुणोपासना है और 'अकाय', 'अव्रण' 'अस्नाविर' इत्यादि 'निर्गुणोपासना है।'[१] आगे 'सगुण' और 'निर्गुण' ईश्वर का विवरण देते हुए बतलाया है– सर्वज्ञतादि गुणों के सहित होने से ईश्वर 'सगुण' कहलाता है। अविद्यादि क्लेश, द्वित्वादि संख्या शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध आदि गुणों से रहित होने के कारण वह 'निर्गुण' कहलाता है।[२] दयानन्द की दृष्टि में यह कल्पना वेदादि शास्त्रों के विरुद्ध है, कि ईश्वर देह धारण करने से 'सगुण' और देह त्याग करने से 'निर्गुण' कहलाता है। इसी प्रकार 'सत्यार्थप्रकाश' में भी 'सगुण' तथा 'निर्गुण' शब्दों को स्पष्ट करते हुए ईश्वर को 'सगुण' तथा 'निर्गुण' दोनों कहा गया है। और यह भी बतलाया गया है, कि निराकार को 'निर्गुण' और साकार को 'सगुण' कहना युक्तिसंगत नहीं है।[३] वहाँ ईश्वर के सर्वशक्तिमत्ता आदि कुछ गुणों का विवचेन किया गया है तथा यह भी दिखाया गया है, कि ईश्वर न 'रागी' है, न 'विरक्त', उसमें कोई इच्छा नहीं है, किन्तु 'ईक्षण' है।[४] ईश्वर के नित्य ज्ञान, आनन्द, अनन्त बल आदि गुण हैं।[५] 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' के उपरिनिर्दिष्ट उद्धरण में 'सर्वज्ञ' से लेकर 'न्यायकारी' तक ईश्वर के गुणों का निर्देश है, जिनका विवेचन करना उपयोगी होगा।

यहाँ ''सब सृष्टि का कर्ता'' इत्यादि वाक्यांश में ईश्वर के कर्म का निर्देश किया गया है। 'सत्यार्थप्रकाश' में अन्य स्थल पर ईश्वर के कर्म इस प्रकार दर्शाये गये हैं– ''परमेश्वर के सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, सबको नियम में रखना, जीवों को पाप-

---

१. द्र० ऋग्वेदादि,स्तुति प्रार्थना (संस्कृत) पृ० ४८३-४८४.

२. वही, पृ० ४८५.

३. द्र० सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृ० २६०

४. वही, पृ० २६१.

५. वही, पृ० २४८.

पुण्यों के फल देना, आदि धर्मयुक्त कर्म हैं।"[१] ईश्वर सृष्टि, प्रलय आदि का कर्ता है,वह सब जीवों को कर्म के अनुसार फल देता है, पाप-पुण्य के अनुसार दु:ख-सुख देने से वह न्यायकारी है।[२] ईश्वर स्वभाव से न्यायकारी है,वह अन्याय नहीं करता, किसी से नहीं डरता। वह उत्तम कामों के बिना किसी को प्रतिष्ठा और दुष्ट कामों के बिना किसी को दण्ड नहीं देता।[३] किञ्च, वह अपने भक्तों के भी पाप क्षमा नहीं करता– "जो पाप करे तो उसका न्याय नष्ट हो जाये– इसलिए सब कर्मों का फल यथावत् देना ही ईश्वर का काम है, क्षमा करना नहीं।"[४] स्वामी जी ईश्वर को निष्क्रिय नहीं मानते, उसमें अनन्त क्रिया नित्यक्रिया मानते हैं– "जो परमेश्वर निष्क्रिय होता तो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय न कर सकता। इसलिए वह विभु (है) तथापि चेतन होने से उसमें क्रिया भी है – (वह) जितने देशकाल में क्रिया करनी उचित समझता है उतने ही देशकाल में क्रिया करता है।"[५] 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में ईश्वर की क्रिया को 'नित्य' माना गया है।[६] तथा 'सत्यार्थप्रकाश' में यह भी बतलाया गया है, कि उसके इन्द्रिय आदि नहीं हैं फिर भी "वह इन्द्रियों और अन्त:करण से होने वाले काम अपने सामर्थ्य से कराता है।"[७]

ईश्वर का स्वभाव पवित्र, अविनाशी होना और धार्मिकता आदि है।[८] परमेश्वर पवित्र और धार्मिक होने से किसी जीव को पाप करने में प्रेरणा नहीं करता। इसलिए जीव अपने काम करने में स्वतंत्र है।[९] ईश्वर के कुछ विशेषणों पर विचार करने से ऋषि दयानन्द के अभिमत ईश्वर का स्वरूप समझने में और अधिक सहायता मिलेगी।

ईश्वर एक है– ईश्वर के एकत्व के विषय में कई बातें विचारणीय हैं। एक तो यह कि ईश्वर एक है या अनेक। 'जैनमत' समीक्षा के सम्बन्ध में कहा गया है, कि सभी मुक्त पुरुष ईश्वर नहीं, ईश्वर एक है, जो सदामुक्त है। कुछ विद्वानों का यह भी कथन है,

---

१. सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृ० २४८.
२. वही, नवम समुल्लास, पृ० ३२७
३. वही, पृ० ३२८
४. वही, सप्तम समुल्लास, पृ० २४६
५. वही, पृ० २४२
६. यस्य ज्ञानक्रिये नित्ये स्वभाव सिद्धे अनादी यत:। ऋग्वेदादि०, वेदनित्यता, पृ० २९१.
७. सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृ० २४१
८. वही, पृ० २४८
९. वही, पृ० २४८

कि वेदों में 'बहुदेववाद' या 'अनेकेश्वरवाद' हैं, प्राचीन आर्य अनेक देवों की पूजा करते थे, कालान्तर में उन्हें एक ईश्वर का ज्ञान हुआ। ऋषि दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश' तथा 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में इस मन्तव्य का निराकरण किया है। उन्होंने यह स्थापना की है, कि वेदों में एक ही 'ईश्वर' माना गया है, दिव्य गुणों वाला होने से सूर्य आदि भी देव अवश्य कहे गए हैं। इसी प्रकार 'शतपथ' आदि में पृथिवी आदि तैंतीस देवों का वर्णन है और इससे अधिक भी माने जा सकते हैं। इनमें कुछ देवता जड़ हैं, कुछ चेतन हैं, कुछ शरीरधारी है, कुछ शरीर रहित भी हैं— जैसे ''तैत्तिरीयोपनिषद्'' में 'मातृदेवो भव' इत्यादि वचनों से माता-पिता, आचार्य, अतिथि इन चारों को देव कहा गया है। ये चारों चेतन शरीरधारी देव हैं। इसी प्रकार तैंतीस देवों में जो आदित्य देव कहे गये हैं, वे जड़ हैं, शरीरधारी हैं। आकाश आदि जड़ और शरीर रहित हैं और ईश्वर शरीर रहित चेतन देव है, वह देवों का भी देव है अतएव महादेव कहा जाता है। पृथिवी आदि देवों का देवत्व व्यवहार के उपयोग और परमार्थ के प्रकाशन के लिए है। परन्तु सब मनुष्यों को उपासना करने योग्य एक परमेश्वर ही देव है।[१]

दयानन्द ने वेद, उपनिषद् तथा निरुक्त आदि के प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया गया है, कि आर्य लोग 'अग्नि' 'इन्द्र' आदि नामों के द्वारा एक ही ईश्वर की उपासना करते थे। ''इन्द्र मित्र०'' इत्यादि मन्त्र में स्पष्ट ही कहा गया है, कि एक ही शक्ति को विद्वान् बहुत से रूपों में कहते हैं— ''एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति''[२] 'शतपथ ब्राह्मण' में कहा गया है— 'ओमित्येवोपासीत....... ... ...योन्या देवतामुपास्ते न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्।'[३]

'कठोपनिषद्' में बतलाया गया है, कि सूर्य आदि उसकी दीप्ति से ही दीप्त होते हैं। अन्य उपनिषदों में भी इसी प्रकार के वचन हैं। 'मनु' ने भी कहा है—

एतमग्निं वदन्त्येके मनुमन्ये प्रजापतिम्।

इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्।। [४]

इस प्रकार के प्रमाणों के आधार पर दयानन्द ने बार-बार जोर देकर कहा है, कि उपास्य देव एक परमेश्वर ही है। आर्य उसी के उपासक थे, वेदादि शास्त्रों में उसकी

---

१. ऋग्वेदादि०, वेदविषय, पृ० ३४६.

२. ऋग्वेद, १.१६४.४६.

३. शतपथ का० १४, अ० ४ (ब्रा० २ क० १९,२२)

४. मनुस्मृति १२.१२.३

उपासना का ही विधान है।[१] इस विषय में गहन अध्ययन अपेक्षित है।

जहाँ तक स्तुति और पूजा आदि का प्रश्न है उसके विषय में ऋषि ने स्पष्ट बतला दिया है, कि 'स्तुति' शब्द का अर्थ है– किसी वस्तु के गुण दोषों का वर्णन।[२] उन्होंने कहा है– जिस पदार्थ में जैसे गुण वा दोष होते हैं वैसे का ही कथन करना 'स्तुति' कहलाती है। जैसे यह तलवार प्रहार करने पर काट करने में बहुत अच्छी है, तेज धार वाली है, स्वच्छ है, धनुष के समान नापने पर भी नहीं टूटती इत्यादि गुण-कथन तलवार की 'स्तुति' है।[३] यह 'स्तुति' किसी भी जड़ या चेतन की, की जा सकती है। इससे यह न समझना चाहिए कि जिसकी स्तुति की जा रही है वह उपासना के योग्य है।[४]

इसी प्रकार यह कथन भी ठीक नहीं कि वेदों में जड़ चेतन की पूजा कही गई है, अत: एक ईश्वर की उपासना सिद्ध नहीं होती क्योंकि जो दूसरे का सत्कार प्रियाचरण अर्थात् उसके अनुकूल काम करना है; इसी का नाम पूजा है। यह पूजा तो नेत्रों की भी सब करते हैं किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है, कि इससे जड़ भी उपासनीय हो जाते हैं। इसी प्रकार अग्नि आदि में भी जितना अर्थ प्रकाशन आदि दिव्य गुण हैं उस अंश में वे देव हैं ही। किन्तु वेदों में जहाँ उपासना का विधान किया गया है वहाँ देवरूप में 'ईश्वर' को ही ग्रहण करना चाहिए।[५]

दयानन्द का मन्तव्य है, कि यह ईश्वर अद्वितीय है, अथर्ववेद के "न द्वितीयो न तृतीयो" इत्यादि मन्त्रों को उद्धृत करते हुए उन्होंने बतलाया है– "एक ईश्वर का निश्चय कराके वेदों में दूसरे ईश्वर के होने का सर्वथा निषेध ही लिखा है।"[६] अद्वितीय का अर्थ यह भी है, कि वह ईश्वर सजातीय विजातीय तथा स्वगत भेद से रहित है, द्वितीय ईश्वर का अत्यन्त अभाव है, न उस ईश्वर जैसा दूसरा ईश्वर है न ही उससे भिन्न प्रकार का कोई ईश्वर है और न उसमें कोई अवान्तर भेद ही है।[७] दयानन्द के अनुसार, 'ईश्वर' या 'ब्रह्म' के अद्वितीय होने का यह अभिप्राय नहीं है, कि 'जीव' और 'ब्रह्म'

---

१. द्र० ऋग्वेदादि० वेदविषय पृ० ३४१-३४३.
२. स्तुतिर्हि गुणदोष कीर्तनं भवति। वही, पृ० ३३७.
३. वही, पृ० ३३७.
४. वही, पृ० ३३६-३३७.
५. वही, पृ० ३४४.
६. वही, ब्रह्मविद्याविषय, पृ० ३७१.
७. वही, पृ० ३७०.

अभिन्न हैं, 'नवीन वेदान्ती' का अभिमत 'अद्वैतवाद' उन्हें अभीष्ट नहीं। ऊपर 'जीव' के स्वरूप विवेचन के प्रसंग में दोनों का भेद दिखलाया जा चुका है। दयानन्द ने 'सत्यार्थ-प्रकाश' में 'वेदान्त' शास्त्र के सूत्र उद्धृत करते हुए अनेक युक्तियों तथा प्रमाणों से 'जीव' और 'ब्रह्म' की अभिन्नता का खण्डन किया है।[१] इसी प्रकार 'रामानुज' के 'विशिष्टाद्वैत' का भी दोष दिखलाया है।[२] अतः 'ईश्वर' अद्वितीय तो है, किन्तु किसी प्रकार भी 'अद्वैतवाद' स्वामी जी को वांछनीय नहीं है।

ईश्वर सर्वज्ञ है– ऊपर 'योगसूत्र' के प्रमाण द्वारा ईश्वर की सर्वज्ञता का निरूपण किया गया है। साथ ही सर्वज्ञता की पराकाष्ठा के आधार पर ईश्वर की सिद्धि भी दिखलायी गयी है। सर्वज्ञ का अर्थ है सब कुछ जानने वाला। "तीनों कालों के बीच में जो कुछ होता है उन सब व्यवहारों को वह यथावत् जानता है।"[३] वस्तुतः परमेश्वर का ज्ञान सदा एकरस और अखण्डित रहता है। परमेश्वर के लिए भूत और भविष्यत् काल कुछ नहीं होता। भूत भविष्यत् जीवों के लिए है। हाँ, जीवों के कर्म और अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में है स्वतः नहीं। जैसा स्वतंत्रता से कर्म जीव करता है वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर, जानता है[४] इसका अभिप्राय यह नहीं है, कि ईश्वर पहले से जीव के कर्मों का निश्चय कर लेता है। यदि ऐसा माना जाएगा तो जीव कर्म करने में स्वतंत्र न रहेगा, और जीव को ईश्वर दण्ड भी नहीं दे सकता, क्योंकि जैसा ईश्वर ने अपने ज्ञान से निश्चित किया है वैसा ही जीव करता है।[५] ईश्वर की सर्वज्ञता या त्रिकालज्ञता का अर्थ यह है, कि ईश्वर अपने कार्यों के विषय में सब कुछ जानता है। सृष्टि प्रलय तथा जीवों को कर्मानुसार फल देना आदि उसका कार्य है। उसके विषय में ईश्वर का ज्ञान पूर्ण है। जीव जो कर्म करते हैं वह उन्हीं के अनुसार फल देता है।

उसके ज्ञान क्रिया नित्य हैं, अनादि हैं।[६] ईश्वर का ज्ञान नित्य है उसकी वृद्धि, क्षय और विपरीतता कभी नहीं होती। उसमें निरतिशय नित्य स्वाभाविक ज्ञान है। जो पदार्थ जिस प्रकार का हो उसको उसी प्रकार जानने का नाम ज्ञान है। जैसे ईश्वर अनन्त है अपने आप को अनन्त जानना ही उसका ज्ञान है, वह इसके विपरीत नहीं जानता।

---

१. सत्यार्थ-प्रकाश, एकादश समु० — पृ० ३९६.
२. वही, पृ० ४०५-४१०.
३. ऋग्वेदादि० ईश्वरप्रार्थना, पृ० २६४.
४. सं० प्र० सप्तम समु० पृ० २४९.
५. वही, पृ० २४९.
६. द्र० ऋग्वेदादि० वेदनित्यता, पृ० २९१.

उसमें विपर्यय नहीं है वह पूर्ण ज्ञान है।[१]

ईश्वर के ज्ञान और क्रिया एक मानव के समान नहीं होते अपितु वे नित्य हैं। ईश्वर समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक है, उससे भी परे है। उसके नियम शाश्वत हैं। उन नियमों का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता कोई भी व्यक्ति छिपकर, गहरे में बैठकर जो कर्म करता है ईश्वर उस सबको जानता है। वह कर्त्ता ईश्वरीय नियमों के अनुसार फल भोगता है। अतएव ईश्वर की ज्ञान, क्रिया नित्य मानी जाती है। सम्भवत: इसी दृष्टि से 'डाक्टर सत्यप्रकाश' ने कहा है, कि स्वामी दयानन्द औपचारिक ईश्वर में विश्वास नहीं करते।[२] यह विचारणीय है, कि क्या ऋषि दयानन्द का अभिप्राय यही है और न्याय एवं योग के आचार्य भी ऐसा ही मानते रहे हैं।

ईश्वर निराकार है, व्यापक है- ईश्वर की निराकारता का उद्घोष 'ऋषि दयानन्द' की अन्यतम विशेषता है। उन्होंने 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश', आर्य-समाज के 'द्वितीय' नियम आदि में "ईश्वर निराकार है" यह स्पष्टत: उल्लेख किया है। ईश्वर के स्वरूप की व्याख्या करते हुए इसका कई स्थलों पर स्पष्टीकरण किया है। 'निराकार' शब्द का अर्थ है— आकार रहित। ऋषि ने "स पर्यगात्०" (यजु० ४०-८) मंत्र के आधार पर बतलाया है, कि वेदों में निराकार ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है। इस मंत्र में ईश्वर के लिए 'अकायम्', 'अव्रणम्' 'अस्नाविरम्' शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है— "वह कभी शरीर धारण नहीं करता तथा वह जन्म नहीं लेता। जिसमें छिद्र नहीं होता, नाड़ी आदि के बन्धन में नहीं आता।"[३] 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में सशरीर और शरीर-रहित देवताओं का निरूपण करते हुए दयानन्द कहते हैं— "एवं सर्वथा नि:शरीरं ब्रह्मास्ति।"[४] 'सत्यार्थप्रकाश' में ईश्वर की निराकारता का प्रतिपादन करते हुए बतलाया है—

प्रश्न- ईश्वर साकार है या निराकार?

उत्तर— निराकार; क्योंकि जो साकार होता तो व्यापक नहीं हो सकता।[५]

ईश्वर को निराकार सिद्ध करने के लिए दयानन्द ने इस प्रकार युक्तियाँ दी हैं—

---

१. द्र० स० प्र० सप्तम समु०— पृ० २१२.
२. Swami Dayananda does not believe in a formal God. By Dr. Satyaprakash, Philopsophy of Dayananda. p.195.
३. द्र सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समु०— पृ० २३४.
४. ऋग्वेदादि०, वेदविषय पृ० ३४५
५. स०प्र० सप्तम समु० पृ० २३१.

१. साकार वस्तु व्यापक नहीं हो सकती, यदि ईश्वर व्यापक न होता तो सर्वज्ञ भी न होता, क्योंकि परिमित वस्तु के गुण, कर्म स्वभाव परिमित ही रहते हैं।

२. वह साकार होता तो मनुष्य के समान भूख-प्यास रोग-दोष, छेदन-भेदन से रहित नहीं रह सकता।

३. साकार मानने पर उसके आकार तथा शरीर आदि की सत्ता माननी होगी, तब कोई उसका बनाने वाला भी दूसरा ही होगा, जिसे चेतन एवं निराकार मानना होगा, अन्यथा अनवस्था दोष हो जाएगा।

४. यदि यह माने कि ईश्वर स्वेच्छा से आप ही अपना शरीर बना लेता है तो भी शरीर बनने के पूर्व उसे निराकार ही मानना होगा।[१]

अपने इस मन्तव्य की उपसंहार करते हुए स्वामी जी कहते हैं— "इसलिए परमात्मा कभी शरीर धारण नहीं करता, किन्तु निराकार होने से सब जगत् को सूक्ष्म कारणों से स्थूलाकार बना देता है।"[२]

ईश्वर की निराकारता में उसका जन्म रहित (अजन्मा) होना आदि भी निमित्त है। वह कभी जन्म नहीं लेता, यह आगे निरूपण किया जा रहा है।

अभी कहा गया है, कि "वह व्यापक हो सकता है।" 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' तथा 'सत्यार्थ-प्रकाश' में उसकी व्यापकता का विशद वर्णन किया गया है। जैसे— "येनेदं जगद् व्याप्तम्"[३] "जो परमेश्वर आकाशादि सब भूतों में तथा सूर्यादि सब लोगों में व्यापक हो रहा है। इसी प्रकार जो पूर्वादि सब दिशा और आग्नेयादि उपदिशाओं में भी निरन्तर भरपूर हो रहा है— अर्थात् जिसकी व्यापकता से एक अणु भी खाली नहीं है।"[४]

उसे वेद में 'विष्णु' तथा 'यज्ञ' कहा गया है— "तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः"[५] यज्ञ का अर्थ 'विष्णु' भी होता है— 'यज्ञो वै विष्णुः।'[६] 'विष्णु' का अर्थ है— 'व्यापक'। "वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं जगत् स विष्णुरीश्वरः"[७] जो समस्त जगत्

---

१. स०प्र० सप्तम समु० पृ० २३१
२. वही, पृ० २३२.
३. ऋग्वेदादि० पृ० ३७०.
४. वही, ब्रह्मविद्या,. पृ० ३६८.
५. ऋ० १.२२.२०.
६. द्र० शतपथ ब्राह्मण— १.१.२.१३,
७. ऋग्वेदादि, स्तुति प्रार्थना, पृ० ४५२.

में व्यापक है वह ईश्वर 'विष्णु' है। 'यजुर्वेद' में आया है– "य आविवेश भुवनानि विश्वा।"[१] इसका अर्थ करते हुए स्वामी जी कहते हैं– जो सब विश्व अर्थात् सब जगत् में व्याप्त हो रहा है।[२] ईश्वर को वेद में 'पुरुष' भी कहा गया है। दयानन्द कहते हैं– "पुरि संसारे शेते–सर्वमभिव्याप्य वर्तते स पुरुषः परमेश्वरः।" यास्क ने 'पुरुष' शब्द की निरुक्ति करते हुए लिखा है – "तेनेदं पूर्ण पुरुषेण सर्वमित्यपि निगमो भवति।"[३] इस पर स्वामी जी कहते हैं– 'पुरुष' उसको कहते हैं जो इस सब जगत् में पूर्ण हो रहा है अर्थात् जिसने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रखा है।[४]

जड़ जगत् में ही नहीं, वह परमेश्वर जीवों में भी व्याप्य है– 'पुर् कहते हैं 'ब्रह्माण्ड' और 'शरीर' को। उसमें जो सर्वत्र व्याप्त और जो जीव के भीतर भी व्यापक अर्थात् अन्तर्यामी है। दयानन्द ने "इत्यन्तर पुरुषमभिप्रेत्य" इस 'निरुक्त' के वचन की व्याख्या में भी यही दिखलाया है।[५] इसी प्रकार– जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म होने से परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है।[६] 'ब्रह्माण्ड' और 'जीव' में व्यापक होकर ही वह 'सर्वान्तर्यामी' है। स्वामी जी ने 'छान्दोग्योपनिषद्'[७] का वचन उद्धृत करते हुए कहा है– "वह अत्यन्त सूक्ष्म और इस सब जगत् और जीव की आत्मा है।" इसी प्रकार 'बृहदारण्यकोपनिषद्'[८] का वचन उद्धृत करते हुए बतलाया है–"जैसे शरीर में जीव रहता है वैसे ही जीवमें परमेश्वर व्यापक है, जीवात्मा से भिन्न रहकर जीव के पाप-पुण्यों का साक्षी होकर उनके फल जीवों को देकर नियम में रखता है।"[९]

दयानन्द ने ईश्वर की व्यापकता का इस प्रकार प्रतिपादन किया है–

प्रश्न– ईश्वर व्यापक है या किसी देश-विशेष में रहता है?

---

१. यजुर्वेद– पृ० ८.२६
२. ऋग्वेदादि० वेदविषय, नृ० ३१३.
३. निरुक्त, अ० २, ख० ३,
४. ऋग्वेदादि०, सृष्टिविद्या, पृ० ४०४-४०५.
५. वही, पृ० ४०४-४०५
६. स०प्र० सप्तम समु०, पृ०-२५०
७. स य ऐषाऽणि मैतदात्म्यमिदं सर्वम्। छान्दो० प्र० ६, सं० -८.७.
८. य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः। बृह० माध्यन्दिन– १४.६.७.३२. तथा स० प्र० सप्तम समु० पृ०२५२.
९. स०प्र० सप्तम समु० पृ० २५२

उत्तर–व्यापक है, क्योंकि जो एक देश में रहता तो सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वानियन्ता, सबका सृष्टा, सबका धर्ता और प्रलय-कर्त्ता नहीं हो सकता। अप्राप्त देश में कर्ता की क्रिया असम्भव है।[१]

जो ईश्वर को व्यापक नहीं मानते उनकी ओर से यह शंका की जाती है, कि यदि ईश्वर व्यापक होता तो सभी वस्तु चेतन हो जाती और मनुष्यों में छोटे-बड़े का भेद भी न हुआ करता। इसके समाधान में दयानन्द ने कहा है — व्याप्य और व्यापक एक नहीं होते– जैसे सब घटपटादि में आकाश व्यापक है और घटपटादि व्यापक नहीं, वैसे परमेश्वर में चेतन सब में है और सब चेतन नहीं होता और सभी मनुष्यों के समान होने पर भी गुण, कर्म, स्वभाव से छोटे-बड़े माने जाते हैं।[२]

इस प्रकार ईश्वर निराकार तथा व्यापक है। वेदों तथा उपनिषदों में जो ईश्वर के मुख आदि का वर्णन है वह सब बड़ा आलंकारिक है। दयानन्द ने वेदभाष्य तथा 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' में अनेक स्थलों पर वेद के इन अलंकारों का उल्लेख किया है। ''यस्मादृचो आपतक्षन्'' (अथर्व० का० १० प्रपा० २३ अनु० ४ सूक्त ७ मं २०) इत्यादि वेदमन्त्र की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं– ''यस्येश्वरस्याङ्गिरसोऽथर्ववेदो मुखं मुखवन् मुख्योऽस्ति, सामानि लोमानीव सन्ति, यजुर्यस्य हृदयम्, ऋचः प्राणश्चेति रूपकालङ्कारः''[३] अर्थात् जिस ईश्वर का अथर्ववेद मुख के समान है, 'सामवेद' लोमों के समान है, 'यजुर्वेद' हृदय है और 'ऋग्वेद' प्राण है, इस प्रकार रूपकालङ्कार है।

इसी प्रकार वेदों के 'पुरुषसूक्त' आदि में अनेक स्थलों पर आलंकारिक वर्णन है। उनमें ईश्वर के आकार की कल्पना करना उचित नहीं है। ईश्वर तो निराकार और व्यापक है न वह कभी शरीर धारण करता है,न जन्म-मरण के चक्र में पड़ता है।

ईश्वर अजन्मा है– वेदों में ईश्वर को 'अज' कहा गया है–''अज एकपात्'' (यजु० ३४.५३)। इसी प्रकार 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में उसे 'अज' कहा गया है।[४] किन्तु मध्य काल में यह माना जाने लगा कि ईश्वर जन्म लेता है, वह अवतार धारण करता है। 'भगवद्गीता' का 'यदा यदा हि धर्मस्य०' इत्यादि वचन उद्धृत करते हुए स्वामी जी ने पूर्वपक्ष के रूप में दिखलाया है– ''श्रीकृष्ण कहते हैं कि जब-जब धर्म का लोप होता

---

१. स०प्र० सप्तम समु० पृ० २३२.

२. वही, द्वादश समु०- पृ० ५७४.

३. द्र० ऋग्वेदादि, वेदोत्पत्ति, पृ० २६९.

४. जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः। श्वेताश्वतरोपनिषद्– ४.५.

है तब-तब मैं शरीर धारण करता हूँ।''[१] इसका निराकरण करते हुए वे कहते हैं— ''यह बात वेद-विरुद्ध होने से प्रमाण नहीं और ऐसा हो सकता है, कि श्रीकृष्ण धर्मात्मा और धर्म की रक्षा करना चाहते थे कि मैं युग-युग में जन्म लेके श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूँ तो कुछ दोष नहीं। क्योंकि 'परोपकाराय सतां विभूतय:'— परोपकार के लिए सत्पुरुषों का तन, मन, धन होता है तथापि इससे श्रीकृष्ण ईश्वर नहीं हो सकते।''[२]

'अवतारवादियों' की अन्य शंकाओं का सामाधान करते हुए वे कहते हैं—

१. अवतार की कल्पना साम्प्रदायी लोगों की है, वह अप्रामाणिक है।

२. यदि ईश्वर का जन्म धारण करना माना जायेगा तो वह मृत्यु को भी प्राप्त होगा।

३. ईश्वर को कंस आदि का वध करने के लिए अवतार धारण करने की आवश्यकता नहीं, वह सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् है, अपने कार्य को बिना शरीर धारण किए ही कर सकता है। परमात्मा को एक क्षुद्र जीव को मारने के लिए जन्म-धारण के प्रपञ्च में फँसने की आवश्यकता नहीं।

४. भक्तजनों के उद्धार के लिए भी उसे जन्म ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है? जो भक्तजन ईश्वर की आज्ञानुकूल चलते हैं............. उनके उद्धार करने का पूरा सामर्थ्य ईश्वर में है।[३]

५. और युक्ति से भी ईश्वर का जन्म सिद्ध नहीं होता— क्या परमेश्वर गर्भ में व्यापक नहीं था, जो कहीं से आया....... इसलिए परमेश्वर का जाना-आना जन्म-मरण कभी सिद्ध नहीं हो सकता।[४]

ईश्वर निर्विकार तथा अनन्त है- दयानन्द ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में कहा है— ''कार्यस्य प्रलयानन्तरं पश्चात् स्थितमस्ति''— जगत् के प्रलय के पीछे भी नित्य निर्विकार रहने वाला है।[५] इसी प्रकार 'सत्यार्थप्रकाश' में कहा है— ''पुरुष अपरिणामी होने से वह अवस्थान्तर होकर दूसरे रूप में कभी नहीं प्राप्त होता। यह सदा कूटस्थ

---

१. सत्यार्थप्रकाश, सप्तम, समु० पृ० २४४
२. वही, पृ० २४४-२४५.
३. वही, पृ० २४५.
४. वही, पृ० २४६
५. ऋग्वेदादि० ब्रह्मविद्या, पृ० ३६९

निर्विकार रहता है।''[१]

निर्विकार होने से वह अविनाशी है, अनन्त है— 'जब परमेश्वर अनन्त है तो उसको अनन्त ही जानना ज्ञान (है)।'[२] वह देश और काल दोनों की दृष्टि से अनन्त है। किसी प्रदेश में या किसी स्थान में उसका अन्त होता और न ही किसी काल में समाप्ति होती है। 'पुरुष-सूक्त' के 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'[३] इस मंत्र की व्याख्या में कहते हैं— ''उस पुरुष की अनन्त महिमा है, क्योंकि जो यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है सो इस पुरुष के एक देश में बसता है और जो प्रकाश गुण वाला जगत् है सो उससे तिगुना है।''[४] इसी प्रकार ''त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुष:''[५] इसकी व्याख्या में कहते हैं— 'पुरुष जो परमेश्वर है सो पूर्वोक्त 'त्रिपाद् से ऊपर भी व्यापक हो रहा है तथा सदा प्रकाशस्वरूप सब में भीतर व्यापक और सबसे अलग भी है।''[६] इस प्रकार ईश्वर को देश की दृष्टि से अनन्त कहा गया है। प्रलय के पश्चात् भी वह निर्विकार रहता है इस कथन में उसे काल की दृष्टि से अनन्त बतलाया गया है। 'पतंजलि' मुनि ने भी 'योगसूत्र' (१.२६) में उसे काल से 'अनवच्छिन्न' कहकर काल की दृष्टि से अनन्त माना है।

जो ईश्वर देश-काल की दृष्टि से अनन्त है उसकी ज्ञान, शक्ति और क्रिया भी अनन्त है, यह दयानन्द ने अनेक स्थलों पर दिखलाया है— ''जिसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त बल और अनन्त क्रिया है।''[७] ईश्वर के नित्य ज्ञान, आनन्द, अनन्त, बल आदि गुण है।[८] इस प्रकार ईश्वर अजन्मा और अनन्त है।

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है-'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में एक स्थल पर कहा गया है-''वह अपने काम में किसी का सहाय नहीं लेता क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है।''[९] अन्य स्थल पर 'ईश्वर निराकार है उससे शब्द रूप वेद कैसे उत्पन्न हो सकता है?' इस प्रश्न

---

१. स०प्र०, सप्तम समु० — पृ० २४४.
२. वही, पृ० २४२.
३. यजुर्वेद—३१.३
४. ऋग्वेदादि० सृष्टि विद्या पृ०- ४०७.
५. यजुर्वेद—३१.४
६. ऋग्वेदादि० सृष्टिविद्या, पृ० ४०८
७. स०प्र० सप्तम समु० पृ० २४२.
८. वही, पृ० २४८.
९. ऋग्वेदादि० वेदोक्तधर्म, पृ० ३७१.

का उत्तर देते हुए कहा गया है— "परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, उसमें ऐसी शंका करनी सर्वथा व्यर्थ है। ... जो सम्पूर्ण सामर्थ्य वाला है को किसी कार्य के करने में किसी का सहाय ग्रहण नहीं करता क्योंकि वह अपने सामर्थ्य से ही सब कार्यों को कर सकता है। जैसे हम लोग बिना सहाय के कोई काम नहीं कर सकते वैसा ईश्वर नहीं है।"[१] इन कथनों से यह स्पष्ट है, कि ईश्वर को सर्वशक्तिमान् कहने का अभिप्राय है— वह दूसरों की सहायता के बिना ही अपने सब कार्यों को कर सकता है। 'सत्यार्थप्रकाश' में इसे स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है— सर्वशक्तिमान् कहने का अभिप्राय यह नहीं कि ईश्वर जो चाहे वही कर सकता है। यदि ऐसा होता तो वह अनेक ईश्वर भी बन सकता, पापकर्म भी कर सकता और दुःखी भी हो सकता। किन्तु ये सब कार्य उसके गुण, कर्म, स्वभाव के विपरीत हैं, वह ऐसे कार्य कभी नहीं कर सकता। ये कार्य उसकी शक्ति से बाहर हैं। अतः 'सर्वशक्तिमान्' शब्द का यही अर्थ है कि- ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदि और सब जीवों के पुण्यपाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किंचित् भी किसी की सहायता नहीं लेता अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही सब अपना काम पूर्ण कर लेता है।[२]

ईश्वर दयालु और न्यायकारी है– दयानन्द ने अनेकशः ईश्वर के लिए 'दयालु' और 'न्यायकारी' विशेषणों का प्रयोग किया है— 'परमकारुणिको हि परमेश्वरोऽस्ति पितृवत्'[३]— पिता के समान ईश्वर के न्याय का उल्लेख करते हुए न्याय का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है— "न्यायेत्यस्यैव नामास्ति यो यादृशं कर्म कुर्यात्तस्मै तादृशामेव फलं दद्यात्— न्याय उसको कहते हैं कि जो जैसा कर्म करे उसको वैसा ही फल दिया जाय।"[४] सत्यार्थप्रकाश में इस विषय का कुछ विस्तार से निरूपण किया गया है। पूर्वपक्षी का आक्षेप है, कि दया और न्याय परस्पर विरुद्ध हैं। न्याय का अर्थ है कर्मों के अनुसार दण्ड देना— "न अधिक न न्यून, सुख-दुःख पहुँचाना और दया उसको कहते हैं कि जो अपराधी को बिना दण्ड दिए छोड़ देना।"[५] फिर एक में ही दया, न्याय दोनों गुण कैसे रह सकते हैं?

---

१. ऋग्वेदादि० वेदोत्पत्तिः, पृ० २७२.
२. स०प्र० सप्तम समु० पृ० २७२
३. ऋग्वेदादि० वेदोत्पत्तिः, पृ० २७५.
४. वही, पृ० २७९.
५. स०प्र० सप्तम समु० पृ० २३०

इस आक्षेप का निराकरण करते हुए स्वामी जी ने कहा है– 'न्याय' और 'दया' का नाम मात्र ही भेद है; क्योंकि जो 'न्याय' से प्रयोजन सिद्ध होता है, वही 'दया' से। दण्ड देने का प्रयोजन है, कि मनुष्य अपराध करने से बन्द होकर दुःखों को प्राप्त न हो। वही 'दया' कहलाती है, जो पराये दुःखों को छुड़ाना (है)।[१]

'न्याय' का महत्त्व दिखलाते हुए ऋषि कहते हैं– 'जिसने जैसा जितना बुरा कर्म किया हो उसको उतना वैसा ही दण्ड देना चाहिए, उसी का नाम 'न्याय' है और जो अपराधी को दण्ड न दिया जाये तो 'दया' का नाश हो जाये क्योंकि एक अपराधी डाकू को छोड़ देने से सहस्रों धर्मात्मा पुरुषों को दुःख देना है।'[२]

इस 'न्याय' में ही 'दया' भी है– ''दया वही है, कि उसडाकू को कारागार में रखकर पाप करने से बचाना.......... और उस डाकू को मार देने से सहस्रों पर दया प्रकाशित होती है।''[३]

ऋषि के शब्दों में 'अपराध' और 'दण्ड' के सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है, साथ ही दण्ड विधान की मनोवैज्ञानिक दृष्टि पर भी। यहाँ व्यक्ति का सुधार और बहुजनहिताय दोनों भावनाओं का समन्वय किया गया है, व्यष्टि और समष्टि के हित पर दृष्टि रखी गयी है।

'न्याय' और 'दया' दोनों का उद्देश्य एक ही है– वह है- ''सबको पाप और दुःखों से पृथक् कर देना।'' फिर भी दोनों के स्वरूप और प्रक्रिया में भेद है। स्वामी जी कहते हैं– ''देखो, ईश्वर की पूर्ण दया तो यह है, कि जिसने सब जीवों के प्रयोजन सिद्ध होने के अर्थ जगत् में सकल पदार्थ उत्पन्न करके दान दे सकते हैं। इससे भिन्न दूसरी बड़ी दया कौन-सी है?''[४] उनकी दृष्टि में ईश्वर के न्याय का फल भी प्रत्यक्ष दिखलायी दे रहा है। संसार में दृष्टिगोचर होता है, कि कोई सुख अधिक भोग रहा है दुःख कम, दूसरा सुख कम भोगता है, दुःख अधिक। वह सुख-दुःख की अधिकता और न्यूनता कर्म के अनुसार ही है, जो ईश्वर के न्याय को सूचित करती है।[५]

दयानन्द ने दोनों के भेद को इस प्रकार दिखलाया है– ''जो मन में सबको सुख

---

१. स०प्र० सप्तम समु० पृ० २३०
२. वही, पृ० २३०
३. वही, पृ० २३१
४. वही, पृ० २३१
५. वही, पृ० २३१

होने और दु:ख छूटने की इच्छा और क्रिया करना है (वह दया)[१] और बाह्य चेष्टा अर्थात् बन्धन छेदनादि यथावत् दण्ड देना 'न्याय' कहलाता है।''

इस प्रकार दयानन्द की दृष्टि में 'न्याय' और 'दया' के स्वरूप तथा प्रक्रिया में भेद अवश्य है, किन्तु दोनों का प्रयोजन एक ही है। अत: दोनों गुण परस्पर विरुद्ध नहीं है, एक ही में रह सकते हैं और परमेश्वर में दृष्टिगोचर भी होते हैं। इसलिए वह न्यायकारी और दयालु है, यह मानना युक्तियुक्त ही है।

उपर्युक्त गुणों के समान ही ईश्वर में अनेक गुण हैं जिनके आधार पर उसका विविध रूपों में वर्णन किया जाता है। दयानन्द ने ईश्वर के अनेक नाम-रूपों की 'वेदभाष्यों,' 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' तथा 'सत्यार्थप्रकाश' आदि में व्याख्या की है और यह भी स्पष्ट किया है, कि वे सब एक ही परमात्मा के नाम हैं, विभिन्न देवों के नहीं। एक निराकार एवं व्यापक सत्ता के वे सभी नाम यौगिक हैं, गुणों के आधार पर हैं। इस प्रकार दयानन्द ने शास्त्रों के आधार पर ईश्वर के बुद्धिसंगत स्वरूप की व्याख्या की है।

इस प्रकार देखा जा सकता है, कि स्वामी दयानन्द का चिन्तन एक सच्चे योगी पुरुष का चिन्तन है। उन्होंने ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को जान लिया है। ईश्वर के सम्बन्ध में उनका यह चिन्तन न्यायसंगत, तर्कपूर्ण, सत्य एवं यथार्थ पर आधारित है। एक क्रान्तदर्शी ऋषि की दृष्टि ने ईश्वर को सहजभाव से जान लिया है। उनका चिन्तन प्राचीन लम्बी भारतीय दार्शनिक परम्परा पर आधारित है। इस चिन्तन में उन्होंने अपने-अपने स्वानुभूत ज्ञान को भी सम्मिलित कर लिया है। ईश्वर के सम्बन्ध में इतने व्यापक और यथार्थ रूप से विचार करने वाले वे एकमात्र अकेले महापुरुष हैं। उन्होंने वर्तमान दार्शनिकों के लिए इस सन्दर्भ में ठोस आधारभूमि तैयार कर दी है। उनके विचारों का प्रत्यक्ष रूप से साधारण जनता और विद्वानों दोनों पर प्रभाव पड़ा है परवर्ती विद्वान् एवं दार्शनिक उनसे प्रेरणा लेते रहे हैं। इसी कड़ी में उनसे प्रेरित होकर 'पं० मेधाव्रताचार्य' ने अनेक ग्रन्थों की रचनाएँ की है। जिन पर उनका प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है। **'पं० मेधाव्रत'** के ग्रन्थों का विवेचन करने पर यह पाया गया कि— उनमें 'ईश्वर तत्त्व' को लेकर दयानन्द के अनुरूप ही विचार व्यक्त किये गये हैं। ये विचार प्रमुखता के साथ ऊपर वर्णित छ: बिन्दुओं पर ही केन्द्रित हैं। अत: उन बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए कवि मेधाव्रत जी के काव्यों में उपलब्ध एतत् विषयक चिन्तन को आगे क्रमानुसार प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

१. स०प्र० सप्तम समु० पृ० २३१.

''दयानन्द-दिग्विजयम्'' महाकाव्य के प्रारम्भ में कवि कहते हैं कि कल्याणकारी परमेश्वर विद्या का स्वामी है जैसे– सागर से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई, वैसे ही जिससे वेदों का अविर्भाव हुआ है, जो व्यापक, निराकार एवं अजन्मा है, जो अखिल ब्रह्माण्ड का कर्ता है, जो गुरुओं का भी गुरु है, ऐसे दयामय आनन्दकन्द प्रभु को मैं सारासार विवेक शालिनी बुद्धि के लिए भजता हूँ–

दयामयानन्दमूलशंकरं, सरस्वतीशं निगमेन्दुसागरम्।

विभुर्निराकारमजं जगत्सृजं, भजामि मेधार्जनतो महागुरुम्।। [१]

प्राचीन भारतीय गुरुकुलों में आध्यात्मिक शिक्षा प्रमुखता से दी जाती थी। 'प्रकृति' से ईश्वर 'पर्यन्त सब प्रकार का ज्ञान प्रदान किया जाता था। कवि कहते हैं कि भारतवर्ष में विविध विद्याओं को पढ़ाने के लिए संयमी गुफाओं के स्थान-स्थान पर बालक और बालिकाओं के पृथक्-पृथक् गुरुकुल थे, जिनमें ब्रह्मचर्य व्रत धारण कराया जाता था और प्रकृति से लेकर ब्रह्म पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान कराया जाता था।''–

अशेषविद्याध्ययनाय भारते, स्थले स्थले योगिगुरोः कलं बभौ।

पृथक्पृथग् बालकबालिकागणैर्व्रतार्थिब्रह्ममनोभिरन्वितम्।। [२]

भारत में वह समय बड़ा सुखद था जब 'सुलभा', 'गार्गी', 'मैत्रैयी', 'लोपामुद्रा', 'घोषा' 'अलापा', 'सूर्या आदि देवियाँ पवित्र वेदों के रहस्य को समझती थीं। परिषदों में धुरन्धर पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ किया करती थीं। उनका मानस हंस निरंजन ब्रह्म में निमग्न रहता था।[३]

उस काल में लोग वेदसम्मत रूप से तपस्या करते रहते थे। ब्राह्मणों का तप ही धन था, उनका अन्तःकरण दया से सम्पूर्ण भरा था। शम, दम, तितिक्षा आदि सात्विक गुणों से उनकी वृत्तियाँ निर्मल थीं। क्षमा के तो मानों वे आदर्श ही थे। परमात्मा की उपासना से उनके मुख मण्डल पर ब्रह्मवर्चस् तेज की झलक थी, यथा–

दयामयान्तःकरणास्तपोधनाः शमान्वितास्साच्त्विकवृत्तयोऽमलाः।

अमी क्षमादर्शवरा इवाबभुर्द्विजेश्वरा ब्रह्मसुवर्चकोज्ज्वलाः।। [४]

---

१. द०दि० १.१.

२. द०दि० १.१६.

३. विशुद्धवेदान्तरहस्यवित्तमाः, सभासु शास्त्रार्थविधानपण्डिताः।
निरञ्जनब्रह्मनिलीनमानसाः, पुरा बभूवुः सुलभादियोषितः।। द०दि० १.१९.

४. द०दि० १.२५.

भारत में समय-समय पर महान् दर्शनकार हुए हैं। सूत्रकाल के महान् दर्शनकार 'गौतम', 'कपिल', 'कणाद', 'व्यास', 'जैमिनी' और 'पतंजलि' जैसे — ऋषियों ने षड्दर्शनों की रचना द्वारा अपनी निर्मल बुद्धि का ऐसा अक्षुण्ण प्रभाव विद्वान् जगत् पर जमाया, जिसका दृष्टान्त उनके अतिरिक्त और कोई है ही नहीं। पुराने ऋषियों के पवित्र अन्त:करण में ईश्वरीय ज्ञान की दिव्य ज्योति निरन्तर जगमगाया करती थी।[१]

इस संसार में वेद रूपी सूर्य का सर्वत्र प्रकाश व्याप्त था। सबके अन्त:करण में प्रेम की निर्मल धारा बहती थी। ब्रह्म की उपासना में भक्त लीन रहते थे—

संसारेऽस्मिन् विलसतु पुनर्भव्यवेदांशुमाली,

संस्काराणां भवतु महतां पावनानां प्रचार:।

लोकस्वान्ते सकलसुखदा स्यन्दतां स्नेहधारा,

दिव्यानन्दे मनुजहृदयं लीयतां ब्रह्मणीदम्।। [२]

इस युग में स्वामी दयानन्द ने उसी वैदिक ज्ञान का प्रकाश करने का प्रयास किया। मूर्तिपूजा, आदि रूढ़ियों को दूर किया तथा सच्चे 'शिव' का उपदेश दिया। पूजनीय मनीषियों में श्रेष्ठ सन्त शिरोमणि—स्वामी जी शिव एवं विष्णु की मूर्तिपूजा का निषेध करते ही रहते थे और कल्याणकारी निराकार ईश्वर की उपासना का उपदेश दिया करते थे—

शिवस्य विष्णो: प्रतिमार्हणां मणि:,

सतां न्यषेधीदनिशं मनीषिणाम्।

निराकृतेरीशितुरेव शंकरी

मुपासनामादिशदर्हता वर:।। [३]

सच्चे ईश्वर की पूजा करना उन्होंने जनता को सिखाया। वे 'सच्चिदानन्द' आदि रूप की उपासना पर बल देते थे। स्वामी जी ने 'शिव दयालु' नामक एक पुजारी को मूर्तिपूजा से छुड़ा दिया। श्रुतज्ञ स्वामी जी की आज्ञा का पालक यह ब्राह्मण पीछे से पोस्ट आफिस में नौकर हो गया। एक बार ब्राह्मण ने स्वामी जी से पूछा— मैं ईश्वर का जप किस नाम से किया करूँ? तब स्वामी जी ने कहा कि — 'सच्चिदानन्द' शब्द से

---

१. द०दि० १.३९-४०.

२. द०दि० १.५१

३. द०दि० १.१.१४६.

करो—

पूजकं शिवदयालु मप्ययं, मूर्तिपूजनविधेरहापयत्।
आश्रवः श्रुतवतो द्विजस्ततः, पत्रकार्यगृहसेवकोऽभवत्।।
केन नाम्नेश्वरस्याहं करवै जपमित्ययम्।
सच्चिदानन्दनामामुं पृष्टो मुनिरवेदयत्।। [१]

दयानन्द सच्चे शिव को पाना चाहते थे। शिवरात्रि के अवसर पर बालक 'मूलशंकर' ने अपने पिताजी से कहा कि— हे पितृवर्य! सच्चिदानन्द शंकर की प्राप्ति के लिए जो सत्य और श्रेष्ठ मार्ग हो, उसे आप बतावें क्योंकि मेरा अन्तःकरण उनके दर्शनों के लिए खूब लालायित हो रहा है—

यः सच्चिदानन्दमहेशलाभे, मार्गो गरीयान् गुरुवर्य सत्यः।
ब्रवीतु तं मां भगवन् मदीये, स्वान्ते तदालोकनतीव्रकांक्षा।। [२]

किन्तु मूर्तिपूजा से उनका मन हट चुका था। वे सच्चे महेश्वर का साक्षात्कार करना चाहते थे। अतः उन्होंने निश्चय किया कि ''जब तक मैं अपनी आँखों से सच्चे महेश्वर का साक्षात्कार न कर लूँ, तब तक मैं इस मूर्ति की पूजा नहीं करूँगा, ऐसा धीरता पूर्वक उत्तर इस कुमार ने दिया''—

यथार्थरूपं गिरीशं न साक्षात् कुर्यामहं यावदमुं स्वदृष्ट्या।
तावद् विदध्यां नहि तत्सपर्यामित्यब्रवीद्धीरतया कुमारः।। [३]

'मूलशंकर' तर्क के धनी थे। उन्होंने तर्कपूर्वक जान लिया था कि परमात्मा जगत् का निमित्त कारण है। जैसे गर्म लोहे में अग्नि विद्यमान रहती है वैसे ही परमात्मा भी ब्रह्माण्ड के कण-कण में व्यापक है। चाचा की मृत्यु से बालक 'मूलशंकर' अति व्याकुल हो गये थे किन्तु थोड़ी देर बाद विवेकी ब्रह्मचारी ने स्वाभाविक धैर्य धारण किया और पवित्र बुद्धि से निश्चय किया कि सब ही उत्पत्तिमान् पदार्थ क्षण भंगुर हैं। परमात्मा जगत् का निमित्त कारण है।[४]

ईश्वर को जानने के लिए वे संन्यासी हो जाना चाहते थे। वे 'सिद्धपुर' के मेले में

---

१. द०दि० १.१.१४४-१४५.
२. द०दि० ४.७०.
३. द०दि० ४.७१
४. द०दि० ५.५९-६०.

इसी उद्देश्य से पहुँचे किन्तु, सिद्धपुर के मेले में पिता के हठ पूर्वक घर ले जाने के कारण विवेकी बालक हृदय के करुणा सागर ईश्वर की शरण में जाकर प्रार्थना करने लगे। हे दयामय सागर! महेश्वर! आप दया कीजिये। दुःख रूपी समुद्र से मुझे जल्दी बचाइये। हे शरणागत वत्सल शंकर जगत् पालक पिता, यह बालक आप ही की शरण है।[१] वे परम पद को पाना चाहते थे, अत : पुनः प्रार्थना की—

हे प्रभो! मैं विषयों के उपभोग सुख की कामना नहीं करता, क्योंकि भोग रोगों का आगार है। इसलिए जन्म-मरण और बुढ़ापे की पीड़ा को हरने वाले तेरे परमानन्द पद को ही चाहता हूँ। [२] वे दुःखों से छुटकारा चाहते थे अतः प्रभु की प्रार्थना करते हुए कहा— हे अखिल ब्रह्माण्ड के कल्याणकारी शंकर! इस भक्तिमान् बालक की परम विपत्ति को दलन करने में आप समर्थ हैं। इसलिए हे भगवन्! इस दुःख को जल्दी मिटाओ।[३] आगे भी उन्होंने ईश्वर से प्रार्थना की—

हे प्रभो! आप ही इस संसार से मेरे माता-पिता एवं प्रियतम मित्र हो। मेरे जीवन के आप ही धन हो। इसलिए हे हृदयरंजन शोक विभंजन, निरंजन प्रभो! मेरे सांसारिक भय का विनाश कीजिये—

त्वमसि मे जननी जनकः सखा, प्रियतमो भुवि जीवनकाञ्चनम्।

हृदयरञ्जन! शोकविभञ्जनः कुरु निरञ्जन मे भवभीलयम्।। [४]

इसके पश्चात् वे सच्चे गुरु के अन्वेषण में लग गये। 'स्वामी पूर्णानन्द' ने उन्हें संन्यास की दीक्षा दी और ईश्वर के जाप का उपदेश दिया। उन्होंने कहा—

निरन्तर यम नियमों का पालन करो। पवित्र आचार-विचार बनाये रखो और हृदय से ईश्वर के गुणों का जाप करो—

सद्यमैर्नियमैर्युक्तो युक्ताचारविचारवान्।

प्राणायामैर्दहन् दोषान् जपेश्वरगुणान हृदा।। [५]

आगे उन्होंने कहा— सब प्राणियों पर समान प्रेम रखो, सब प्रकार के पदार्थों से

---

१. द०दि० ६.६०

२. विषयभोगसुखं न हि कामये, विपुलरोगकरं सततं प्रभो।
जनिजरामरणार्त्तिहरं परं परमसौख्यपदं तव चार्थये।। द०दि० ६.६१

३. द०दि० ६.६४

४. द०दि० ६.६५

५. द०दि० ७.५०

निस्पृह्य रहो। तप ही को परमधन मानकर निरन्तर परब्रह्म में लीन रहो।

सर्वभूतसमस्नेहः सर्वभावेषु निस्स्पृहः।

परब्रह्मणि युक्तात्मा धर्मं चर तपोधनम्।। [१]

कई मठाधीशों ने दयानन्द को प्रलोभन दिये किन्तु जो ईश्वर प्राप्ति के लिए दृढ़चित्त होकर सरलता से तीनों भुवनों को राजसम्मान को भी लात मार देने को तैयार हो, वही ब्रह्मवेत्ता विख्यात यतीन्द्र रूपी गजेन्द्र भला मठाधीश के फैलाए लोभपाशों में कैसे बाँधा जा सकता है। [२]

धीरे-धीरे योगाभ्यास के द्वारा उन्होंने पंचक्लेशों पर विजय पाकर ईश्वर का साक्षात्कार कर ही लिया। महात्मा दयानन्द क्लिष्ट और अक्लिष्ट नामक पाँच प्रकार की वृत्तियों को रोकर सब विषयों से उपरत होकर शुद्ध सत्त्व हो गये और मैत्री करुणा आदि की भावनाओं से चित्त की प्रसन्नता को प्राप्त कर निरन्तर द्रष्टा, बुद्धि, आत्मा एवं परमात्मा के स्वरूप में स्थित हो गये।[३] तत्पश्चात् ऋतम्भरा प्रज्ञा के साक्षात्कार करने वालों में श्रेष्ठ स्वामी जी ने 'ओ३म्' स्वरूप परमात्मा के ध्यान में अन्तरात्मा को मग्न कर, सर्व प्रकार की वृत्तियों के निरोध से निर्बीज समाधि साधकर सच्चिदानन्द परब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया—

ओ३म्रूपात्मध्यानलीनान्तरात्मा, प्रज्ञानीन्द्रः सर्ववृत्तिव्रजानाम्।

रोधेनासौ साधिताबीजयोगः, साक्षाच्चक्रे सच्चिदानन्दमीशम्।। [४]

वे निरन्तर वेद-प्रचार और 'ईश्वर' की उपासना में लीन रहते थे। संसार में सृष्टि के प्रत्येक प्रारम्भ काल में जिस ब्रह्म में अमल, अतुल एवं दिव्य वाङ्मय ज्योति, देववाणी में प्रकट हुआ करती है, उस वाणी के स्वामी गुरुओं के गुरु, ज्योतिः स्वरूप परब्रह्म का, मुनीन्द्र ने इस प्रकार वन्दन किया। हे जगदीश्वर! तुम अणु से अणु और महान् से महान् हो। तुम ही अनन्त गुणों के भण्डार हो।तुम संसार का पालन पोषण करने वाले हो। तुम ही पाप के विनाशक हो, इसलिए पूजनीय देव, आपको मेरा बारम्बार नमस्कार है।[५] हे गुणनिधे प्रभो! आप दया के सागर चराचर के बन्धु दया के मेघ एवं

---

१. द०दि० ७.५१

२. द०दि० ८.१०५.

३. द०दि० ९.३७.

४. द०दि० ९.३८

५. द०दि० ११.२०-२१,

संसार के रचयिता हो। हे वरमते पिता! ब्रह्मानन्द प्रदाता, आपकी शक्तियां अनन्त हैं। इसलिए आप में मेरी दृढ भक्ति है। आप मुझ अशरण को शरण प्रदान करके रक्षा कीजिये।[१] हे भगवन्! आप सारे ब्रह्माण्डो की रचना करके उन सबके अन्दर और बाहर व्याप्त हो। अत: हे अनन्त बलशालिन् सर्वान्तर्यामिन् स्वामिन् आपके शरणापन्न इस जन की आप रक्षा करें—

त्वयैतद् ब्रह्माण्डं विरचितमहो सर्वममितं
यदन्तर्बाह्यस्त्वं विभुवर परब्रह्मविमलम्।
प्रभो सर्वव्यापिन्नतुलबलशालिन् जनिमतां,
सतां स्वामिन् पाहि स्वशरणगतं मामशरणम्।। [२]

इसी प्रकार हे देव! आपने दिन में सूर्य और रात में चन्द्रमा को उत्पन्न करके, चराचर के प्रकाश के लिए महान् दीपक के समान बनाया है। आपकी महिमा अतुल तथा अद्भुत है। हे पापों के विनाशक सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मन् आप अजर, अमर, नित्य, शुद्धबुद्ध, वेदोत्पादक संसार के महान् गुरु एवम् महान् रक्षक हो। आप दया करके शरणार्थी इस जन की रक्षा कीजिये। हे जगन्नाथ त्रिभुवनपते ज्ञानस्वरूप पिता, आपकी शुद्धकीर्ति संसार में चमक रही है। संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के आप ही एक मात्र कारण हैं। संसार के दुःख सागर में कालरूपी मगरमच्छों से ग्रसित इस भक्तजन की आप रक्षा कीजिये।[३]

इस प्रकार तन्मय होकर वे उपासना करते रहते थे। वे ईश्वर का साक्षात्कार करके परम शक्ति प्राप्त करना चाहते थे। उनका कहना था। जब मैं सांसारिक त्रिविध तापों के निवारण करने में समर्थ, परम आनन्द के धाम निरंजन कल्याणकारी परमेश्वर का साक्षात्कार कर लूँगा तभी शान्ति प्राप्त करूँगा।[४] यद्यपि शुद्ध चैतन्य अपने आत्मा को ही ब्रह्म मानने लगे थे, तथापि प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किये बिना उनका मन शान्त न हो सका। इनके चित्त-चन्द्र को 'वेदान्त' की पक्कािरूप राहु ने ग्रह लिया था। इसलिए इन्हें तत्त्वज्ञान प्रकाश की किरणों की प्रतिक्षा की। मठाधीश 'ब्रह्मानन्द' के 'नवीन वेदान्ती' होने के कारण—स्वामी जी भी उन दिनों ''ब्रह्मसत्य जगन्मिथ्या'' के पाश से ग्रसित

---

१. द०दि० ११.२२
२. द०दि० ११.२३
३. द०दि० ११.२४-२६
४. द०दि० ५.४६.

थे।[१] धीरे-धीरे उन्हें सत्य का ज्ञान हो गया। मूर्तिपूजा के पाखण्ड से पूर्णतया मुक्त हो चुके थे। देश में उन दिनों आर्यों ने एक ईश्वर की कल्याणकारी उपासना को छोड़कर वेदविरुद्ध, स्वकपोल-कल्पित मूर्ति पूजा करनी प्रारम्भ कर दी थी।[२] धर्म के बहाने पापी धूर्तों ने मिथ्या मत मतान्तरों की रचना की। सचमुच धन अपहरण करने के लिए ही इन धूर्तों ने मन्दिरों में मूर्तिपूजा शुरू की।[३]

वे इस पाखण्ड से मुक्त रहकर मूर्तिपूजा से दूर होकर। परमात्मा को योग द्वारा पाने के प्रयास में रहते थे। वह परमात्मा योग के द्वारा ही जाना जा सकता है। ऐसा उनका विचार था—

ऋतमहेश्वरदर्शनकारिणी, मरणदु:खमहार्णवतारिणी।
लसति योगमहातरणि: परं बुधगणादश्रृणोदिति सन्मणि:।। [४]

अनन्त शक्तिशाली विश्वविधाता की निसर्ग सुन्दर अनुपम रचनामयी सृष्टि को देखकर स्वामी जी ईश्वरीय बुद्धि के वैभव को विचारा करते थे।[५]

वे सोचते थे कि जो महेश्वर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाले हैं, जो तेजस्वरूप अभ्युदय और मोक्ष के देने वाले हैं, मूषक के शूद्र कृत्य को सहन करने पर मूर्ति शिव कैसे हो सकती है—

य: सर्गसर्गस्थितिनाशकारी, भर्गोऽपवर्गाभ्युदयाधिकारी।
प्रशान्तरुद्रोभयपुण्यमूर्ति:, क्षुद्रापकृत्यं स कथं सहेत।। [६]

बालक मूलशंकर के पिता ने कहा—"यह तुम्हारे आगे जो मूर्ति है, वह साक्षात् महेश्वर नहीं है, किन्तु यह तो उनकी केवल प्रतिमा है, वे स्वयं तो हमेशा कैलाश पर्वत पर विराजमान रहते हैं। प्रसन्न होने पर अपने मूर्तिपूजक भक्तों को दर्शन देते हैं। पिता के इस वचन को सुनकर बालक ने कहा कि जीवात्मा तो हमेशा ज्ञानाभिलाषी है और मूर्ति जड़ है, अत: मूर्ति उसके ज्ञान की वृद्धि में किंचित् भी सहायता नहीं करती है। इसलिए इस मूर्ति की पूजा से मुक्ति एवं परमात्मा प्राप्ति क्यों कर संभव है? हे

---

१. द०दि० ६.९३-९५ एवं ७.१-२.
२. द०दि० २.१०
३. द०दि० २.१६
४. द०दि० ६.४
५. द०दि० ८.९
६. द०दि० ४.५७

पितृवर्य! सच्चिदानन्द शंकर की प्राप्ति के लिए जो सच्चा और श्रेष्ठ मार्ग हो उसे आप कृपया बतावें, क्योंकि मेरा अन्तःकरण उनके दर्शनों के लिए खूब लालायित हो रहा है।[१]

इसके पश्चात् उन्होंने सच्चे 'शिव' परमात्मा को कुछ समय पश्चात् योगाभ्यास और उपासना द्वारा पा लिया। इसके, पश्चात् वे विरुद्ध मतों का खण्डन करने लगे। मिथ्या मूर्तिपूजा से भी लोगों को विमुख करते थे। वेद सिद्धान्तवेत्ता, धृतिमान् स्वामी जी ने साम्प्रदायिक धर्मों की राजधानी में जोर-शोर से मूर्तिपूजा का खण्डन किया। इन्होंने वेदों के प्रमाणों तथा तर्कों से व्यापक, अजन्मा, परमेश्वर के अवतारवाद का खण्डन किया, इसलिए धूर्तपुजारी क्रुद्ध हो गये। जो लोग स्वामी जी के दर्शनार्थ आते थे, वे स्वामी जी के मुख से खण्डन की जाती हुई जड़ पूजा, ईश्वर की उत्पत्ति आदि विषयों का यथार्थ रूप जानकर आश्चर्य चकित हो जाते थे।[२]

इस प्रकार ईश्वर के सत्यस्वरूप का वे प्रतिपादन करते रहते थे। 'ईश्वर' के स्वरूप का वर्णन करते हुए 'दयानन्द दिग्विजय' के उत्तरार्द्ध में कवि कहते हैं कि— जैसे पवन पुत्र हनुमान् की प्रभु रामचन्द्र में भक्ति थी, वैसी ही दयानन्द देव की निराकार व्यापक परमेश्वर में अतीव भक्ति थी।[३] ब्रह्मानन्द निलीन, जिस दयानन्द योगिन्द्र को सर्वव्यापक,सर्वपालक, सर्वेश्वर, अमूर्त, अजन्मा, सर्वशक्तिमान् सर्वप्रकाशक, परब्रह्म परमात्मा में दृढ़ अटल विश्वास, एवं सत्य श्रेष्ठ भक्ति का ही एकमात्र आधार है।[४]

उन्हीं के प्रभाव से 'पं० टीकाराम' नामक ब्राह्मण देव ने अपनी देवमूर्तियाँ देवनदी गंगा में बहाकर और वैदिक संध्या के पवित्र मन्त्रों से निराकार परमेश्वर की उपासना प्रारम्भ की थी।[५]

स्वामी जी परमात्मा की 'सर्वज्ञता' और 'सर्वव्यापकता' आदि के रूप में गुणगान

---

१. द०दि० ४.६८-७०

२. द०दि० १२.९२-९६

३. मारुतेः परमा भक्ती रामचन्द्रे यथा प्रभौ।
दयानन्दस्य तस्याभून्निराकारे तथा विभौ।। द०दि० १३.२३.

४. विश्वाव्यापिनि विश्वपालनविभौ विश्वेश्व रे ब्रह्मणि
ब्रह्मानन्दरतस्य यस्य विपुलो विश्वास एवाश्रयः।
भक्तिश्चापि वरैव सत्यनिलया दिव्ये ह्यमूर्त्तेऽजनौ
सोऽयं धैर्यधनो यतिर्विजयतां वादाहवायोद्यतः।। द०दि० १४.१

५. द०दि० १४.७

करते रहते थे। वे कहा करते थे कि "वह परमात्मा आकाश के समान ब्रह्माण्ड में व्यापक है। उसकी अनन्त शक्तियाँ सब ओर फैली हुई हैं। वह अजन्मा, महान् इन्द्र, योगयुक्त आत्मा से ही अनुभव करने योग्य है। अतः इन्द्रियगण और इसके स्वामी मन को आत्मा में लीन करके योग कला से परमात्म देव का साक्षात्कार कर उपासक आत्मा और परमात्मा के संगति जन्य आनन्द को भोगें।"[१]

वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान्, अमर ईश्वर आकाश से भी बड़ा है और परमाणु से भी अति सूक्ष्म है। वह निराकार, अनन्त अनादि, उज्ज्वल स्वरूप है। उस हृदयस्थ ब्रह्म की आत्मा द्वारा ही उपासना करनी चाहिये, यथा—

सर्वज्ञमीशममरं बृहदन्तरिक्षात्,
सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुमतीत्यवर्त्ति।

आकारनिर्गतमनन्तमनादि शुक्रं,
ब्रह्मात्ममैव हृदयस्थमुपांसनीयम्।। [२]

उनका विचार था कि जब सर्वान्तर्यामी परमेश्वर देह धारण किये बिना ही सज्जनों का रक्षण और दैत्यों (दुर्जनों) का विनाश करने में समर्थ है, तब फिर उसको शरीर धारण करने का प्रयोजन ही नहीं रहता, यथा—

प्रयोजनं नैव शरीरधारणे प्रभोः पुनर्दुर्जनदैत्यवारणे।
वपुर्विनैवास्य हृदन्तरात्मनः समर्थता सज्जनरक्षणे यदा।। [३]

आत्मा में परमात्मा का ध्यान लगाकर ही उसे पाया जा सकता है। सन्त योगी लोग सर्वत्र विराजमान महान् व्यापक, उपासनीय देव, आनन्द स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर को, ज्ञानमय पवित्र नेत्र से हृदय में अनुभव करते हैं—

आनन्दरूपं दिवि राजमानं ब्रह्माणमीशानमुपास्यदेवम्।
विज्ञानयोगामलचक्षुषाऽन्तः पश्यन्ति सन्तो विततं महान्तम्।। [४]

कोई इसे नेत्र से नहीं देख सकता। वाणी और मन का भी यह ईश्वर विषय नहीं है। यह सर्वव्यापक प्रभु योगियों से योग द्वारा ही हृदय में आत्मा से जाना जा सकता है—

१. द०दि० १५.३२
२. द०दि० १५.३३
३. द०दि० १४.३२
४. द०दि० १४.३८

न नेत्रत: पश्यति कश्चनैनं न वाङ्मनोगोचरतां गतोऽयम्।
निजात्मनैवात्मनि योगगम्यो विज्ञानिभिर्ध्यानिभिरेव विष्णु:।। [१]

मूर्तियाँ पूजकर ईश्वर को पाया नहीं जा सकता। स्वामी जी ने कहा– मैं देवपूजा को मानता हूँ किन्तु पत्थर की मूर्ति की पूजा नहीं मानता। ईश्वर की अमूर्तता में तो प्रत्येक शास्त्र का समर्थन है। वेदों को नहीं जानने हारे, स्वार्थान्ध मनुष्यों ने अकाम, अजन्मा, मरण धर्मरहित, मुक्त, आनन्दस्वरूप, ईश्वर की शरीर कल्पना की है। क्लेश, कर्म, फल, वासना आदि से अलिप्त परमेश्वर, सामान्य जनतुल्य, भोक्तापन धारण करके क्यों चेष्टा करें। इस अपापविद्ध, शुद्ध अकाम, परमात्मा में वेदोक्त– ''सपर्यगाच्छुक्रमकाम०'' इत्यादि प्रमाण देते हुए भी ईश्वर मूर्ति की कल्पना की गई है।[२] हे मतिमन्! आप यदि आनन्द स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करने के लिए मूर्तिपूजा करते हैं तो वह वृथा है। यदि आप सांसारिक दु:ख चक्र से छुटकारा चाहते हैं तो सनातन वेद मत को मानिये।[३] क्योंकि परमेश्वर प्राप्ति के लिए वेद मन्त्र का यह प्रमाण है– ''वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्०'' इत्यादि। इसका भाव यह है, कि अज्ञान अन्धकार से रहित, सूर्य समप्रकाशक उस महानपुरुष परमात्मा को यथार्थरूप से जानकर ही उपासक योगी मृत्यु से तर जाता है और प्रभु को प्राप्त करता है–

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमस: परस्तात्।
अत्येति मृत्युं तमयं विदित्वा नान्योऽस्ति पन्था अयनाय तस्मात्।। [४]

'जीवात्मा', 'परमात्मा' तथा 'प्रकृति' के सम्बन्ध और अन्तर को भी उन्होंने भली प्रकार समझाया। मनुष्य को जीवात्मा, परमात्मा तथा प्रकृति इन तीनों का भिन्न स्वरूप तत्त्वरूप से जानना चाहिये। यथार्थ बोध होने पर ही सत्य भक्ति अर्थात् श्रद्धा उत्पन्न होती है; क्योंकि सच्ची भक्ति से ही ईश्वर की उपासना सरलता से हो सकती है। अनन्तर जीवात्मा अष्टांगयोगानुष्ठान से चित्त को विषय विमुख एवं एकाग्र बनाकर परब्रह्म के साक्षात्कार को पाकर उत्तम आनन्द का उपभोग करता है।[५]

मिथ्या मूर्तिपूजा का वे बलपूर्वक खण्डन करते थे। वह कहते थे कि वेदों और

---

१. द०दि० १४.३९
२. द०दि० १४.२४-२७.
३. द०दि० १४.१३३.
४. द०दि० १४.१३४
५. द०दि० १४.१३६-१३७.

शास्त्रों में भी 'विष्णु भगवान्' की मूर्त्तिमत्ता का जरा भी वर्णन नहीं मिलता। फिर प्रभु की मूर्ति न बन सकने के कारण कपोल-कल्पित मूर्तिपूजा बन्ध्या पुत्र के विवाह के समान मिथ्या है।[१]

स्वामी जी सर्वदा परमात्मा का धन्यवाद किया करते थे, और निर्मल मन से भक्ति किया करते थे। वे कहा करते थे— हे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के करने वाले, सुख के सागर दयामय, दीनबन्धु, देवाधिदेव! आप ही जीवों को कर्मफल प्रदान करते हैं। आप ही चराचर जगत् के स्वामी हैं, आप ही हमारे रक्षक हैं इसलिए हे भगवन् हमें वेद शास्त्र को जानने वाली मेधा प्रदान कीजिये और हमें ऐसी निर्मल बुद्धि प्रदान करें कि जो कल्याण मार्ग की ओर ले जाने वाली हो। हे शक्ति स्वरूप हमें शारीरिक और मानसिक बल प्रदान कीजिये जिसके द्वारा हम अपने आत्मिक तेज को धारण कर सदा आपकी भक्ति करते रहें।[२]

इस प्रकार उस संयमीश्वर ने सर्वात्मना आनन्दकन्द, जननन्दन, सच्चिदानन्दस्वरूप, ईश्वर की उपासना करके पुनः स्तुति की—

आनन्दकन्दजननन्दनसच्चिदीशं,

भक्त्येति तं समभिबन्द्य स संयमीशः।

संप्रार्थ्यं चात्मनिरतान् निगमोपदेशै-

राप्लावयत् प्रभुसुभक्तिसुरस्रवन्त्याम्।। [३]

"एक दिन राजा माधोसिंह ने परमहंस से 'जीव' और 'ईश्वर' के अभेद के विषय में प्रश्न किया। भगवान् ने उत्तर दिया—जैसे आकाश सर्वव्यापक होने से घर से पृथक् नहीं है और न आकाश और घर एक वस्तु है। उसी प्रकार ब्रह्म सर्वव्यापक होने से जीव से पृथक् नहीं और व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से वे दोनों एक भी नहीं, अतः अद्वैतमत मिथ्या है।"[४]

---

१. द०दि० १४.१३८.

२. मेधां प्रदेहि भगवन्? निगमावगन्त्रीं
बुद्धिञ्च निर्मलगुणां शुभमार्ग नेत्रीम्।
भक्तिं शरीरमनसो द्युतिं धारयित्रीं,
भक्तिं भवद्विषयिणीं भवभीतिभेत्रीम्।। द०दि० १५.६

३. द०दि० १५.७

४. द०दि० २५.५

इसी प्रकार एक दिन उन्होंने प्रातःकाल में 'ईश्वर' की भक्ति करने का उपदेश देते हुए कहा—पवित्रजन प्रभात में, आत्मोन्नति के लिए अनन्त गुणशाली, ज्ञानदाता शंकर प्रभु को प्रतिदिन हृदय में स्थापित करते हैं।[१] महर्षि ने उस लोकपाल को सर्वव्यापक, अजन्मा, विष्णु परमात्मा की उपासना की रीति, प्राणायाम पूर्वक ओंकार का ध्यान तथा अग्निहोत्रादि यज्ञ प्रणाली सिखाकर सचमुच पूर्ण आर्य शील सम्पन्न बना दिया। उधर महाराणा भी एक लिंगेश्वर का पूजक होकर भी निराकार ईश्वर का उपासक बन गया।[२]

ईश्वर जीव व प्रकृति– ईश्वर 'प्रकृति' और 'जीवात्मा' के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि—"द्वा० सुपर्णा" इस मंत्र में स्पष्टतया प्रतिपादित किया है, कि जीव, ईश्वर और प्रकृति ये तीनों पदार्थ अनादि हैं। उनमें ब्रह्म सर्वज्ञ और सर्वसाक्षी है, जीव अल्पज्ञ और भोक्ता है तथा प्रकृति जड़ एवं भोग्य है।[३]

द्वासुपर्णेति मन्त्रेऽस्मिन् स्पष्टतः प्रत्यपादितम्
ब्रह्मजीव प्रकृत्याख्य तत्त्वत्रयमनादि सत्।
ब्रह्मसर्वज्ञमल्पज्ञो जीवस्तु प्रकृतिर्जडा
साक्षि भोक्ता च भोग्येयं वेदतो मुक्तितोऽप्यहो।।

"स्वामी जी का विचार था कि कहीं भी वेदों में तथा उपनिषदों में योगाभ्यास बिना, पत्थर की पूजा से निराकार ईश्वर की प्राप्ति नहीं कहीं है।"

कृष्णानन्द ने पूछा—"यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत" इस गीता के 'वचन को आप विद्वान् होकर क्यों नहीं मानते?'

स्वामी ने कहा— निश्चय से वह निराकार है। अतः वह देह धारण नहीं करता।

"सपर्यगात्०" इत्यादि वेद वचन आप विद्वान् को मानना पड़ेगा, यथा—

ईश्वरो हि निराकारो देहं नैव विभर्त्ति सः।
'सपर्यगादिति' श्रौतं वचनं मन्यतां विदा।। [४]

आगे स्वामी जी ने कहा कि— आत्मवेत्ता लोग हृदय में ही उस ईश्वर का दर्शन करते हैं। जब वह अपने पास है, तब उसके दर्शन के लिए अन्यत्र भटकने की क्या

---

१. द०दि० २३.६९
२. द०दि० २५, २८-३०.
३. द्वा० सुपर्णेति मन्त्रे अस्मिन् स्पष्टतः प्रत्यपादि तत्। द०दि० १४.६९-७०.
४. द०दि० १४.९२-९४.

आवश्यकता है।[१]

कृष्णानन्द और दयानन्द के मध्य जो शास्त्रार्थ हुआ सभी नगरवासी जन शास्त्रार्थ का सार सुनकर और सत्य ईश्वर का स्वरूप जानकर, पापों की मालाओं की तरह मूर्तियों को गंगा में बहाने लगे।[२] इस प्रकार सच्चे ईश्वर का ज्ञान स्वामीजी ने कराकर मूर्तिपूजा के पाखण्ड को दूर करने का प्रयास किया।

''आत्मवित्तम ऋषि ने 'बिहारी बाल' नाम विद्यार्थी को पत्थर की स्तुति एवं विष्णु, शिव की मूर्ति का यथार्थ स्वरूप और ईश्वर की सर्वव्यापकता अच्छी तरह से समझाकर उसके मन को पाषाण-मूर्ति पूजा से विमुख कर दिया।''[३]

''योगिश्वर ने ब्रह्म, परमात्मा, जीवात्मा, प्रकृति के स्वरूप का गुण, कर्म और स्वभाव क्रमश: वर्णन कर उनमें वेद प्रमाण से तथा तर्क से भी भेद जनता को समझाया।''[४]

अपने शिष्यगणों को स्वामी जी ने ईश्वरोपासना का इस प्रकार उपदेश दिया—

आनन्दमन्दिरमिवामलभक्तिगंगा स्रोतोऽम्बुवृन्दविमलीकृतचन्दिराङ्गम्।
ओंकारनादरणितं मतिदीपकान्तं स्वान्तं प्रविश्य मनुजोविभुमर्चयेत्तम्।।
ब्रह्माण्डगं खामिव कं तमनन्तशक्तिं युक्तात्मनानुभवनीयमजं महेन्द्रम्।
आलोक्य योगकलया सलयेन्द्रियेन्द्रं ब्रह्मात्म संगतिरसं हृदोपभुङ्क्ताम्।। [५]

जब स्वामी जी के देहान्त का समय उपस्थित हुआ अत्यन्त प्रेम से रोमाञ्चित स्वामी दयानन्द ने मन्त्र पाठ के अनन्तर संस्कृत एवं आर्यभाषा में परमात्मा महेश्वर की प्रार्थना की।

अनन्तर गुरुदेव गायत्री मन्त्र जपते ओ३म् के ध्यान में लीन हो कुछ का तक समाधि का आनन्द लूटते रहे तथा ब्रह्मानन्द में मग्न होकर बोले— हे दयामय! सर्वशक्तिमान् ईश्वर तेरी यही इच्छा है, तेरी यही इच्छा पूर्ण हो। हे मंगलकारी भगवन् तूने अच्छी लीला की, ऐसी वाणी बोलकर समाधिस्थ हो प्राणावरोध करके, तथा प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र से निकालकर परमपदारूढ हुए।[६]

---

१. द०दि० १४.७१-७२.
२. द०दि० १७-७७.
३. द०दि० २६.२०
४. द०दि० २६-५४.
५. द०दि० १५.३१-३२.
६. द०दि० २७.१००-१०४.

इस प्रकार 'ज्ञान' 'विज्ञान' कर्म और 'उपासना' के योग से योगाभ्यास द्वारा उन्होंने मोक्ष पद प्राप्त कर लिया। स्वामी जी ने सारा जीवन ईश्वर को अर्पित कर दिया था। इस समर्पण का उन्हें सच्चा लाभ भी मिला। 'ईश्वर' के विषय में स्वामी जी जैसा विवेचन अन्यत्र नहीं मिलता। सारी मानव जाति इस महती उपलब्धि के लिए सदा ऋणी रहेगी।

'दयानन्द लहरी' में 'ईश्वर' के स्वरूप के विषय में वर्णन करते हुए 'कविरत्न' कहते हैं कि— 'ईश्वर', 'जड़' तथा 'चेतन' जगत् के जन्म, स्थिति और विनाश करने वाले मंगलकारी परब्रह्म की भागीरथी एवं मनुष्यों को मोक्ष की शिक्षा देने वाली यह दयानन्द की वाणी विजय पा रही है।

अखण्डादानन्दान्निगमहिमशैलेन्द्र-
शिखरात् प्रभूता भूतानां जनिलयकृतः।
दयानन्दस्येयं सकल भुवनाया मृतपदम्,
दिशन्ती गीर्गङ्गा जनित शिवसङ्गा विजयते।। [१]

"जो प्रातः काल राग-द्वेषादि विषयों से शान्त पवित्र अन्तःकरण को चेतन रूप अपने आत्मा में लगाकर परब्रह्म परमात्मा के आनन्द रस में निरत मनवाले, वायु मण्डल की शोभा जगत् के दुःखों को दूर करने वाली हैं।"[२]

इस प्रकार कवि मेधाव्रत की रचनाओं में दयानन्दाभिमत ईश्वर के स्वरूप का प्रतिबिम्बन हुआ है।

'ब्रह्मर्षि विरजानन्दचरितम्' में कवि 'ईश्वर' की उपासना के सम्बन्ध में कहते हैं— सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, अजन्मा, सृष्टि, स्थिति और प्रलय के स्वामी, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, इन्द्र इत्यादि अनेक नाम वाले 'ओ३म्' रूपी ब्रह्म की हमें नित्यप्रति स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिए। [३]

'दिव्यानन्द लहरी' ईशस्तोत्रम् में 'ईश्वर' के विषय में कवि का विचार है, कि अतुलनीय अविनाशी फैले हुए पवित्र तेज वाले, अनन्त 'ओ३म्' नामक, प्रजाओं के निर्माता, ब्रह्माण्ड के पोषक अन्त में सम्पूर्ण सृष्टि के संहारक, वेद उत्पादक, दिव्यानन्द प्रभु का हमें आश्रय लेना चाहिए।[४]

---

१. दयानन्दलहरी श्लोक—१
२. वही, श्लोक—२
३. वि०च०—१.१
४. दिव्या०ल०—श्लोक—२

"दुष्टों को दण्ड देने वाले, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखों से बचाने वाले, प्राणियों के एकमात्र आश्रयभूत विभुश्रेष्ठ 'ईश्वर' का आश्रय लेना चाहिए।"[१]

"देदीप्यमान नक्षत्र,ताराग्रह एवं सूर्य, चन्द्र के निर्मातक, नानाविध संसार के रचयिता द्यौलोक, वायु, प्राण, नेत्रादि के पोषक जगत् के उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कर्ता परमात्मा का अवगाहन मन से करें।'[२]

निष्कर्ष– इस प्रकार देखा जा सकता है, कि ईश्वर तत्त्व के स्वरूप को आचार्य मेधाव्रत की रचनाओं में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है। तथा साथ ही स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित ईश्वर के स्वरूप की भी विशिष्ट विवेचना की गयी है। स्वामी जी ने ईश्वर के विषय को सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास में विशिष्ट प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है। उनकी दृष्टि में ईश्वर ब्रह्म अथवा परमात्मा एक ही है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में कार्यकारणवाद द्वारा उन्होंने विविध प्रमाण देकर ईश्वर तत्त्व की सिद्धि प्रस्तुत की है। ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव का उन्होंने वेद, दर्शन, सम्मत विस्तृत वर्णन किया है।

स्वामी दयानन्द का अनुसरण करते हुए आचार्य मेधाव्रत ने अपने ग्रन्थों में ईश्वर तत्त्व के विषय का विस्तृत विवेचन किया है। कविरत्न ने ईश्वर को चेतन, सत्य सर्वनियन्ता, अजर, अमर, अभाव और आनन्द स्वरूप माना है। वह परमात्मा ही जगत् का उत्पादक, पालक और संहर्ता है और पूर्ण नियामक है। परमात्मा चिन्तन ही मोक्ष का साधन है। कविरत्न की रचनाओं में ईश्वर तत्त्व का विवेचन मुख्यतः वर्णित है। जो उनकी रचनाओं के अवलोकन से ज्ञात होता है।

---

१. दिव्या०ल० –श्लोक–२

२. दिव्या०ल०–श्लोक–३.५१.

षष्ठ अध्याय

दयानन्द दर्शन

प्रस्तुत अध्याय में सर्वप्रथम 'दयानन्द-दर्शन और यथार्थ जीवन' पर प्रकाश डालते हुए जीवन और जगत् के प्रति उनकी दृष्टि एवं जीवन के लक्ष्य पर विचार किया जायेगा। तत्पश्चात् इस लक्ष्य की प्राप्ति के साधन पुरुषार्थ चतुष्टय, भोग व संयम, जगत् के सुख-दुःख तथा ज्ञान और कर्म के समन्वय को प्रस्तुत किया जायेगा। इसके पश्चात् आलोच्य कवि मेधाव्रत की रचनाओं में प्रतिबिम्बित 'दयानन्द-दर्शन' और 'यथार्थ-जीवन' की झलक की विवेचना प्रस्तुत की जायेगी। दर्शनों का सामान्य रूप से मुख्य प्रतिपाद्य विषय,— 'ज्ञान-मीमांसा', 'तत्त्व-मीमांसा' और 'आचार-मीमांसा' रहा है: सभी प्रकार के दर्शनों, 'आस्तिक' एवं 'नास्तिक' 'भौतिक' और 'आध्यात्मिक' आदि में 'ज्ञान' और 'तत्त्व-मीमांसा' का तत्त्व परक चिन्तन तो बहुत गहन रूप से किया गया है, किन्तु 'आचार-मीमांसा' पर प्रायः दार्शनिक लड़खड़ा जाते हैं। विभिन्न दार्शनिक अपने-अपने दृष्टिकोण से आचार की व्याख्या करने लगते हैं। जिसका परिणाम यह होता है, कि जीवन की वास्तविक उपलब्धि तक पहुँचने में वे समर्थ नहीं हो पाते हैं। 'चार्वाक्', 'जैन', 'बौद्ध' 'वैष्णव', 'शैव', 'शाक्त' एवं 'वेदान्त' के अवान्तर सम्प्रदाय इसी प्रकार की कोटि के हैं, कोरे शुष्क-ज्ञान की अग्नि में तो दग्ध रहते हैं, किन्तु 'चरित्र' और 'सदाचार' पालन में बहुत पिछड़ जाते हैं, जिससे न तो उन्हें जीवन की कोई उपलब्धि होती है, और न ही वे जनता का विश्वास जीत पाते हैं। अन्य 'मुस्लिम', 'ईसाई' आदि सम्प्रदायों की भी यही स्थिति है। ये सभी सम्प्रदाय 'आचार' की दृष्टि से अपने को 'श्रेष्ठ' और दूसरों को 'हीन' समझते हैं। अतः सामान्य मनुष्य का यह विश्वास बन जाता है, कि ये सभी त्याज्य हैं। वास्तविकता तो यह है, कि मानव जाति का एक ही धर्म होता है। 'धर्म' और 'सत्य' कदापि दो नहीं होते। यदि सबके धर्म और सत्य पृथक्-पृथक् होने लगें तो फिर कुछ भी 'धर्म' अथवा 'सत्य' शेष नहीं रह जायेगा। आज पृथिवी भर की मानव जाति की कुछ ऐसी ही मनःस्थिति दिखलायी दे रही है। आज एक ऐसा शिक्षित और सभ्य वर्ग उत्पन्न हो चुका है, जो धर्म के नाम पर खड़े किये इन पाखण्डी सम्प्रदायों पर अब भी विश्वास रखता है। स्थिति इतनी भयानक हो चुकी है, कि धर्म और सत्य का वास्तविक स्वरूप ओझल हो चुका है। ऐसे इस अज्ञान के अँधेरे में डूबी मानव जाति के लिए स्वामी

दयानन्द द्वारा दिखलाया गया 'वैदिक मार्ग' ही सत्य का उद्घाटन करता है।

स्वामी दयानन्द की सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि उनका चिन्तन मानव के 'यथार्थ' पर आधारित है और जीवन के उचित लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ है। स्वामी जी ने उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयरूप जगत् की आधार भीत्ति को सुदृढ़ 'त्रैतवाद' के आधार पर खड़ा किया है। 'त्रैतवाद' के ये तीन तत्त्व हैं, प्रकृति, आत्मा और परमात्मा। ये तीनों अनादि हैं। आत्मा और परमात्मा भी सदा नित्य हैं। 'परमात्मा' जगत् का निमित्तकारण है, आत्मा साधारण कारण है, प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। प्रकृति प्रवाह से नित्य है। द्रव्य कदापि नष्ट नहीं होता वह केवल प्रलय से सृजन, एवं सृजन से प्रलय तक परमाणु रूप में अपना रूप बदलता है। संसार क्षणभंगुर नहीं है। परमात्मा के निमित्त प्रेरणा से साधारण कारण रूप जीवात्मा के सहयोग से उपादान कारण प्रकृति द्वारा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता रहता है। जगत् रचना रूप कार्य में परमात्मा सृष्टि का 'कर्ता', 'धर्ता' और 'संहर्ता' सिद्ध होता है। परमात्मा 'सत्' 'चित्' और 'आनन्दरूप' है। वह निराकार, निर्गुण, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी और न्यायकारी है। जीवात्मा 'सत्' और 'चित्' तो है, किन्तु आनन्द रूप नहीं। इसी आनन्दरूप की प्राप्ति के लिए वह जीवन के बन्धन और मुक्ति की अवस्था को सदा सर्वदा प्राप्त करता रहता है, यही मोक्ष जीवन का लक्ष्य है। जीवन में दुःखों से छुटाकारा और जीवित तथा मोक्ष की अवस्था में चरम सुख की प्राप्ति अन्तिम लक्ष्य है। स्वामी दयानन्द की दिव्य दृष्टि ने मानव जीवन के इस यथार्थ को भली प्रकार पहचान लिया था। उन्होंने यावज्जीवन बड़े पुरुषार्थ और सच्ची लगन के साथ 'ज्ञान-मीमांसा', 'तत्त्व-मीमांसा' और 'आचार-मीमांसा' की अन्तिम गहरायी को छू लिया था। उनकी सबसे बड़ी देन यही है, कि उनका समग्र चिन्तन यथार्थ पर आधारित है। उनका सारा जीवन 'धर्म' और 'सत्य' के यथार्थ स्वरूप को जानने में बीता। ईर्ष्या, भय, लोभ, काम और क्रोध जैसे दुर्गुण उन्हें छू भी नहीं पाये। अतः उन्होंने जीवन के अन्तिम सत्य के दर्शन अर्थात् 'परमात्मा' को पा लिया था।

स्वामी दयानन्द का सम्पूर्ण जीवन यथार्थ के धरातल पर ही बीता। त्याग और तपस्या की भट्टी में वे तपे और साक्षात् कुन्दन बनकर समाज के लिए प्रस्तुत हुए। संसार में व्यक्तिगत उन्नति, योग साधना और मोक्ष की प्राप्ति तो बहुत से महापुरुषों ने की है, किन्तु दयानन्द यहाँ भी समाज के सच्चे पथ प्रदर्शक सिद्ध हुए। भारत में कई शताब्दियों में भी किसी 'समाज सुधारक' ने समाज सुधार के लिए अभी तक इतना प्रयास नहीं किया है जितना कि अकेले स्वामी दयानन्द ने कर दिखाया। उन्होंने अज्ञान,

स्वार्थ, लोभ आदि के कारण समाज में गहराई तक जड़ जमायी हुई रूढ़ियों, कुरीतियों एवं कुप्रथाओं को जड़ से उखाड़ फेंका और वैदिक सन्मार्ग की ओर जनता के समूह को चलने के लिए प्रेरित किया। अन्य महापुरुषों की अपेक्षा समाज-सुधार हेतु मानव जाति को यही उनकी महती देन है।

स्वामी दयानन्द ने तन, मन, धन, सब प्रकार से समाज-सुधार के लिए भरपूर प्रयास किया। मानव जाति को सत्य का मार्ग दिखाने के लिए उन्होंने सत्य के लिए प्रकाश अर्थात् 'सत्यार्थ प्रकाश' ग्रन्थ का रचना की। वेदों के गूढ़ ज्ञान को साधारण जनता तक पहुँचाने के लिए अपने वेदभाष्यों से पहले, 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' लिखी और इसके साथ ही भारत के विभिन्न स्थानों—मुम्बई, पूना, बड़ौदा, अहमदाबाद, उदयपुर,जयपुर, जोधपुर, आगरा, मथुरा, मसूदा, दिल्ली, काशी, बरेली, अलीगढ़, मेरठ, रुडकी, हरिद्वार, लाहौर, और कलकत्ता आदि स्थानों पर विशाल जन समूहों, विभिन्न सम्प्रदायों के विद्वानों, राज्याधिकारियों और राजा महाराजाओं आदि के साथ उनके जो शास्त्रार्थ सम्पन्न हुए, उनमें से बहुतों का विवरण प्रकाशित हो चुका है, उनसे यह भी भली प्रकार से जाना जा सकता है, कि अज्ञान और रूढ़ियों को दूर कर मानव समाज को सन्मार्ग पर लाने की उनकी कितनी उत्कट अभिलाषा थी। ऐसे सच्चे योगी पुरुषार्थी महापुरुष सौभाग्य से ही कभी-कभी भाग्यशाली देश में जन्म लेकर मानव जाति का उद्धार करते हैं। उनके समूचे जीवन-दर्शन को अग्रलिखित दो बिन्दुओं पर केन्द्रित करके विचार किया जा सकता है—

१. जीवन और जगत् के प्रति दृष्टि,

२. जीवन का लक्ष्य।

अब प्रथम बिन्दु पर विचार किया जा रहा है।

जीवन और जगत् के प्रति दृष्टि– स्वामी दयानन्द जगत् में तीन तत्त्व स्वीकार करते हैं— एक जड़ 'प्रकृति' जो भोग्य है, दूसरा इसका भोग करने वाला 'जीवात्मा' और तीसरा इस जगत् का कर्ता, धर्ता और संहर्ता तथा जीवों को क्रमानुसार सुख-दुःख प्रदान करने वाला 'परमेश्वर'।

यह जगत् 'प्रकृति' से बना है। 'प्रकृति' जड़ है वह स्वतः जगत् का निर्माण नहीं कर सकती। जगत् का निर्माता 'ईश्वर' है, जो बार-बार सृष्टि और प्रलय किया करता है। किन्तु स्वच्छन्दता से नहीं, नियम से। वह शाश्वत नियमों के अनुसार ही अपना कार्य करता है। अनादिकाल से ही यह क्रम चला आ रहा है। प्रकृति भोग्य होने से

स्वच्छन्द नहीं है। जीव यथेष्ट भोग करने में स्वतंत्र नहीं है और स्वभाव से पवित्र तथा न्यायकारी परमात्मा किसी को अपनी इच्छा से भोग प्रदान नहीं करता। सभी शाश्वत नियम से बँधे हैं। ईश्वर जगत् का निर्माण करता है। जीवों को भले-बुरे कर्मों का फल देने के लिए और परम पुरुषार्थ की साधना का अवसर प्राप्त कराने के लिए। सृष्टि का यह प्रयोजन 'सांख्य' आदि भारतीय दर्शनों के समान ही है। जगत् के बनाने में परमेश्वर का क्या प्रयोजन है? इस प्रश्न के उत्तर में दयानन्द कहते हैं कि— "जैसे नेत्र का स्वाभाविक गुण देखना है,वैसे परमेश्वर का स्वाभाविक गुण जगत् की उत्पत्ति करके सब जीवों को असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है।"[१]

जगत्-सुख-दुःखमय– दयानन्द के मत में यह जगत् यथार्थ है, विज्ञानवादी 'बौद्ध' के समान विज्ञान का अविद्या कल्पित आकार नहीं, 'नवीन वेदान्ती' के समान माया-कल्पित नहीं। उनके विचार में यह संसार केवल दुःखात्मक नहीं है। "सर्वस्य संसारस्य दुःखात्मकत्वं सर्वतीर्थंकरसमतम्"[२] समस्त संसार दुःखात्मक है, यह सभी तीर्थंकर मानते हैं कि—"जो सब दुःख ही हो और सुख कुछ भी नहीं तो सुख की अपेक्षा के बिना दुःख सिद्ध नहीं हो सकता, जैसे रात्रि की अपेक्षा से दिन और दिन की अपेक्षा से रात्रि होती है। इसलिए सब दुःख मानना ठीक नहीं।"[३] वस्तुतः सुख और दुःख दोनों आपेक्षिक हैं। एक दूसरे के बिना नीरस हैं, बेस्वाद हैं। ऋषि ने कहा है कि— "दुःख" के अनुभव के बिना सुख कुछ भी नहीं हो सकता।[४]

इस संसार में सुख भी है, दुःख भी है, यह दुःखात्मक नहीं, अपितु सुख दुःखमय है। 'बौद्ध' मत की समीक्षा के सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द कहते हैं— "जो सब संसार दुःख रूप होता तो किसी जीव की प्रवृत्ति न होनी चाहिए। संसार में जीवों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दीखती है। इसलिए सब संसार दुःख रूप नहीं हो सकता, किन्तु इसमें सुख-दुःख दोनों हैं।"[५] सांसारिक व्यवहार में मानव की प्रवृत्ति को देखकर भी यह प्रतीत होता है, कि यहाँ सुख भी है— "क्योंकि जीव सुख जानकर प्रवृत्त और दुःख जान के निवृत्त होता है।"[६] संसार में सुख क्या है? इसके उत्तर में महर्षि दयानन्द कहते हैं

---

१. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश, अष्टम समुल्लास, पृ० २७७.
२. सत्यार्थ-प्रकाश, द्वादश समुल्लास, पृ० ५५८.
३. वही, पृ० ५५८.
४. सत्यार्थ-प्रकाश, अष्टम समुल्लास, पृ० ३१८.
५. सत्यार्थ-प्रकाश, द्वादश समुल्लास, पृ० ५६०
६. वही, पृ० ५६०.

कि– ''संसार में धर्म क्रिया, विद्या, सत्संगादि श्रेष्ठ व्यवहार सब सुख कारक है। इनको कोई भी विद्वान् दुःख का लिङ्ग नहीं मान सकता।''[१]

सुख और दुःख दोनों दो-दो प्रकार के होते हैं। एक सामान्य सुख-दुःख, और दूसरा विशेष सुख-दुःख। विशेष सुख का नाम ही 'स्वर्ग' है और विशेष दुःख का नाम ही 'नरक' है– ''जो विशेष सुख और सुख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है,वह स्वर्ग कहलाता है। और जो विशेष दुःख औरदुःख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है, उसको नरक कहते हैं।''[२] वस्तुतः 'स्वर्ग' और 'नरक' कोई स्थान-विशेष नहीं है। 'मोक्ष' भी विशेष 'स्वर्ग' ही है। जिसकी प्राप्ति के लिए कहीं अन्य लोक में नहीं जाना होता। मुक्ति के निरतिशय आनन्द का वर्णन करते हुए महर्षि दयानन्द कहते हैं, कि– ''यही सुख विशेष स्वर्ग और विषय-तृष्णा में फँस कर दुःख विशेष भोग करना नरक कहलाता है। 'स्वः' सुख का नाम है। 'स्वः सुखं गच्छति यस्मिन् स स्वर्गः'. ''अतो विपरीतो दुःख भोगो नरक इति''– जो सांसारिक सुख है, यह सामान्य स्वर्ग और जो परमेश्वर की प्राप्ति से आनन्द है वही विशेष स्वर्ग कहलाता है।''[३] यह ऊपर दिखलाया जा चुका है, कि मोक्षावस्था में जीवात्मा ब्रह्म में विचरते हुए परम आनन्द को भोगता है।

भोग और संयम– इसका अभिप्राय यह नहीं है, कि भौतिकवादी 'चार्वाक्' के समान ऋषि ने सांसारिक विषयों के सुख को ही वांछनीय सुख बतला दिया है। 'चार्वाक्' के मत का खण्डन करते हुए 'महर्षि' कहते हैं– ''विषय रूपी सुख मात्र को पुरुषार्थ का फल मानकर विषय-दुःख निवारण मात्र में कृतकृत्यता और स्वर्ग मानना मूर्खता है।''[४] अभी ऊपर कहा गया है– ''विषय-तृष्णा में फँसकर दुःख विशेष भोग करना नरक कहलाता है।'' अतः ऋषि की दृष्टि में विषयासक्ति दुःखों का हेतु है हाँ, विषयों का समुचित उपभोग गर्हित नहीं है, गर्हित है विषय-तृष्णा। उन्होंने 'उपभोग' और 'संयम' का समन्वय किया है। वे कहते हैं– ''सांसारिक विषयभोगानन्तरं त्रिविध दुःखात्यन्त निवृत्यर्थः प्रयत्नः कर्त्तव्यः।''[५] अर्थात् सांसारिक विषयोपभोग के अनन्तर तीन प्रकार के दुःख की अत्यन्त निवृत्ति के लिए प्रयत्न करना

---

१. सत्यार्थ-प्रकाश, द्वादश समुल्लास, पृ० ५६०
२. आर्योद्देश्यरत्नमाला, अनु०–१४,१५.
३. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश, नवम समुल्लास, पृ० ३३३.
४. वही, द्वादश, समु०–पृ० ५५०
५. वही, प्रथम, समु०–पृ० ३६

चाहिए।

प्रश्न उठता है–यदि संसार में सुख भी है स्वर्ग भी है तो जीव यहीं रहते ऐसा प्रयत्न कर सकता है, कि सांसारिक दुःखों को दूर कर दे और नितान्त सुखमय जीवन बना ले, फिर तो दुःखों की निवृत्ति के लिए अथवा कहिये मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता है ?

इसके समाधान में यही कहना पर्याप्त होगा कि सबके अनुभव से सिद्ध है, कि "सब जीव स्वभाव से सुख प्राप्ति की इच्छा और दुःख का वियोग होना चाहते हैं"[१] और इस स्थूल शरीर के रहते दुःख की अत्यन्त निवृत्ति नहीं हो सकती। अतः त्रिविध दुःख की अत्यन्त निवृत्ति के लिए जीव को प्रयत्न करना होता है। स्वामी दयानन्द के शब्दों में– "जो शरीर वाले होते हैं, वे सांसारिक दुःख से रहित नहीं हो सकते........... इसलिए यह जीव सुख और दुःख से सदा ग्रस्त रहता है............. जो शरीर रहित युक्त जीवात्मा ब्रह्म में रहता है उसका सांसारिक सुख-दुःख का स्पर्श भी नहीं होता।"[२]

जीव-स्वातन्त्र्य– सुख-दुःख को जीव अपने कर्मों के अनुसार भोगता है। "जीव कर्म करने में स्वतंत्र परन्तु कर्मों के फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतंत्र है।"[३] इसका निरूपण ऊपर किया जा चुका है। कर्म-स्वातन्त्र्य पर महर्षि ने अत्यधिक बल दिया है। क्योंकि अच्छे -बुरे कर्म करना पूर्णतया जीव के अधीन है। दयानन्द की दृष्टि में जीव वस्तुतः कर्ता है। वे यह स्वीकार नहीं करते कि प्रकृति के गुण ही कर्ता हैं,या बुद्धि की कर्त्री है, पुरुष तो मूढ़ता से अपने आपको 'कर्ता' मान लेता है। तथ्य तो यह है कि, स्वतन्त्र रूप से 'कर्ता' होकर ही मनुष्य उन्नति के शिखर पर चढ़ सकता है अथवा पतन के गर्त में गिर सकता है। दयानन्द 'नियतिवादी' नहीं हैं। वे ईश्वर को जीव के कर्मों का प्रेरक नहीं मानते, पहिले से ही जीव के कर्मों को ईश्वर द्वारा निर्धारित नहीं समझते।[४] वे तो पुरुषार्थ को ही भाग्य का निमित्त मानते हैं और पुरुष को अपने भाग्य का निर्माता। 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' में वे कहते हैं– पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा इसलिए है, कि जिससे संचित प्रारब्ध बनते, जिनके सुधरने से सब सुधरते और जिनके

१. सत्यार्थ-प्रकाश, नवम, समु० पृ० ३३३
२. वही, समु० पृ० ३१५
३. वही, अष्टम, समु० पृ० ३०४
४. वही, नवम समुल्लास–पृ० ३२८.

बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं।[१]

'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में महर्षि ने वर्णित किया है "नाऽपुरुषार्थिनं मनुष्यमीश्वरो अनुगृह्णाति"[२] —अर्थात् पुरुषार्थ हीन जन का ईश्वर भी अनुग्रह नहीं करता। क्यों? "ईश्वर ने धर्म करने के लिए बुद्धि आदि बढ़ाने के साधन जीव के साथ रक्खे हैं। यह जीव उनसे पूर्ण पुरुषार्थ करता है तब परमेश्वर भी अपने सब सामर्थ्य से उस पर कृपा करता है, अन्य पर नहीं।"[३]

दयानन्द ने मनुष्य के स्वरूप और सामर्थ्य को परखा। 'यास्क'[४] के समान वे कहते हैं— "जो विचार के बिना किसी काम को न करे, उनका नाम मनुष्य है।"[५] मनुष्य ही अपने कर्मों से 'देव', 'असुर' और 'पिशाच' बन जाता है— "देव विद्वानों को और अविद्वानों को 'असुर,' पापियों को 'राक्षस', अनाचारियों को 'पिशाच' मानता हूँ।"[६]

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में 'शतपथ०' का वचन उद्धृत करते हुए वे कहते हैं—

ये सत्यवादिनः सत्यमानिनः सत्यकारिणश्च ते देवाः।

ये चा ऽनृतवादिनोऽनृतकारिणोऽनृतमानिनश्च ते मनुष्या असुरा इव।।[७]

जो लोग विद्वान्, सत्यवादी, सत्यमानी और सत्य कर्म करने वाले हैं, वे तो 'देव' और जो अविद्वान् झूठ बोलने, झूठ मानने और मिथ्याचार करने वाले हैं वे 'असुर' कहलाते हैं।[८] फलतः जीवात्मा अपने भले-बुरे-कर्मों के द्वारा ही उत्तम या अधम हो जाता है। यह ठीक है, कि सभी जीवात्मा समान हैं, वे स्वभावतः पवित्र हैं, किन्तु अपने कर्मों के आधार पर उनमें भेद हो जाया करता है। इस प्रकार ऋषि ने मानव के गौरवान्वित स्वरूप का अनुभव किया था और आत्मगौरवहीन समाज को मानव के महत्त्व का बोध कराया था।

ईश्वर-व्यवस्था- जीव की स्वतन्त्रता असीमित नहीं है, ईश्वर के अनुशासन में अनुशासित है। वह कर्म में स्वतन्त्र होकर भी अपने कर्मों का फल पाने में ईश्वर की

---

१. स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश—अनु० २५.
२. ऋग्वेदादि० वेदोक्त धर्म०—पृ० ३८०
३. वही, पृ० ३८१
४. मनुष्याः कस्मान् मत्वाकर्माणि सीव्यन्ति —निरुक्त, अ० ३ ख० ७,
५. आर्योद्देश्यरत्नमाला, अनु०—३९
६. स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश—अनु० २०.
७. ऋग्वेदादि०, ग्रन्थ प्रामाण्य० पृ०-६२०.
८. वही, पृ० ६२२.

व्यवस्था के अधीन है। उसकी स्वतन्त्रता फल--भोग में नहीं है। फल देने वाला परमात्मा है, जो स्वभाव से पवित्र और न्यायकारी है। वह कभी अन्याय नहीं करता बिना पुरुषार्थ के कुछ नहीं देता और किये हुए पापों को कभी क्षमा नहीं करता। वह न्यायकरी होने के साथ-साथ दयालु भी हैं परम कारुणिक है। वह जीव की पुरुषार्थ सिद्धि के लिए सृष्टि रचता और उसकी उन्नति के लिए साधन प्रस्तुत करता है। उसने सत्य धर्म के उपदेश द्वारा ही जीव को मार्ग ही नहीं दिखलाया अपितु प्रत्येक श्रेष्ठ कर्म करते समय जो भीतर उत्साह देता है और बुरे कर्म करते समय जो संकोच तथा लज्जा आदि होते हैं यह सब उसकी ओर से ही होता है। वह जीव का साक्षी होकर जीव के भीतर विवेक को जगाता है।

इस प्रकार 'ऋषि दयानन्द' ने 'प्रकृति', 'जीव' और 'ईश्वर'—भोग्य, भोक्ता और साक्षी—तीनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व मानते हुए और जीव को कर्म करने में स्वतन्त्र किन्तु फल भोग में परतन्त्र स्वीकारते हुए, एक ओर तो जीवात्मा के अस्तित्व को प्रकट किया है और दूसरी ओर उसकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति पर नियन्त्रण भी दिखला दिया है। यह जीव की स्वाधीनता और पराधीनता का समन्वय है। अब विचारणीय यह है, कि मानव जीवन प्राप्त करने वाले जीव का लक्ष्य क्या है ?

२. मानव जीवन का लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधन

जीवन का लक्ष्य- भारतीय मनीषियों ने 'धर्म', 'अर्थ', 'काम' और मोक्ष— ये चार पुरुषार्थ माने हैं। इनकी सिद्धि ही मानव जीवन का उद्देश्य है। 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' में ईश्वर से प्रार्थना करते हुए दयानन्द कहते हैं— ''धमार्थ-काममोक्षादि सुखयुक्तान् स्वानुग्रहेण सद्य सम्पादय''— जो धर्म, अर्थ, और मोक्ष पदार्थ हैं, उनको आपके अनुग्रह से हम लोग शीघ्र प्राप्त हो।[१] इस पुरुषार्थ चतुष्टय में भी परम पुरुषार्थ मोक्ष है,[२] मोक्ष ही परमानन्द है, उसकी प्राप्ति जीवन का परम लक्ष्य कहा जा सकता है।

स्वामी दयानन्द ने 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' में कर्मकाण्ड का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट किया है कि[३]—सुख दो प्रकार का है— एक लौकिक तथा दूसरा परम आनन्द। पुरुषार्थ चतुष्टय में 'काम' शब्द द्वारा लौकिक सुख का उल्लेख किया गया है, 'अर्थ'

१. ऋग्वेदादि०, ईश्वर, प्रार्थन ा— पृ० २६६-२६७.
२. वही, वेदविषय, पृ० ३१४,
३. वही, पृ० ३१५.

इसका साधन है, और 'मोक्ष' शब्द द्वारा 'परम आनन्द' का उल्लेख है। 'अर्थ' और 'काम' को 'लोकाभ्युदय' और मोक्ष को 'निःश्रेयस्' कहा जाता है। 'धर्म' दोनों का साधन है। यह किस प्रकार निःश्रेयस् का साधन होता है? यह अभी आगे निरूपण किया जा रहा है। यहाँ देखना यह है, कि 'धर्म' को 'अर्थ' और 'काम' का साधन कैसे माना गया है।

अर्थ और काम–'स्वामी जी' ने 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' में कहा है, कि 'अर्थ वह है, जो धर्म ही से प्राप्त किया जाय और जो अधर्म से सिद्ध होता है, उसको अनर्थ कहते हैं।'[१] 'अर्थ', 'शब्द' का अभिप्राय है– ''धन-सम्पत्ति आदि सुख के साधन।'' इसे लोक भाषा में 'जीविकोपार्जन' कहा जा सकता है। 'धर्म'से ही जीविकोपार्जन करना चाहिए, यही भारतीय मर्यादा है। यहाँ 'सम्पन्नजीविका' को 'नीति' और 'आचार' का अनिवार्य अंग माना गया है। व्यक्तिगत और सामाजिक कर्त्तव्यों के रूप में जिस धर्म का बहुशः वर्णन किया गया है यदि धनोपार्जन या जीविकोपार्जन में उस धर्म का पूर्ण रूप से पालन किया जाता है तभी मानव सच्चे अर्थ की प्राप्ति करता है अन्यथा वह 'अनर्थ' का भागी होता है। 'मनु'[२] का उद्धरण देते हुए 'महर्षि दयानन्द' कहते हैं– ''अधर्मात्मा मनुष्य धर्म की मर्यादा छोड़.........विश्वासघातादि कर्मों से पराये पदार्थों को लेकर प्रथम बढ़ता है, मान प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है..........पश्चात् शीघ्र नष्ट हो जाता है।''[३]

'काम' का स्वरूप बतलाते हुए स्वामी दयानन्द ने कहा है– ''काम वह है, कि जो धर्म और अर्थ से प्राप्त किया जाये।''[४] 'धर्म' और 'अर्थ' द्वारा जो लौकिक सुख प्राप्त होता है, वह सभी 'काम' के अन्तर्गत है। इस प्रकार 'अर्थ' तथा काम वही है, जो 'धर्म' के द्वारा प्राप्त किया जाता है।

धर्म का व्यापक रूप– 'धर्म' क्या है? यह विषय अत्यन्त गहन है। स्वामी दयानन्द ने वेद-भाष्यों 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' तथा 'सत्यार्थप्रकाश' में 'धर्म' का विशद विवेचन किया है। 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' तथा 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' में इनका संक्षिप्त एवं स्पष्ट स्वरूप दिखलाया है। 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' (अनु०—३) में

---

१. स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश—अनु० १४.

२. अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ् जयति समूलस्तु विनश्यति।। मनुस्मृति—४.१७५.

३. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश, चतुर्थ समुल्लास पृ० १३३.

४. स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश—अनु० १५.

कहा है, कि "जो पक्षपातरहित न्यायाचरण, सत्यभाषणादि युक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है उसको धर्म............ मानता हूँ।"

स्वामी जी की दृष्टि में वेदों के कर्मकाण्ड में मानव के सभी कर्त्तव्यों का समावेश हो जाता है। वेदों की कर्मकाण्ड क्रिया प्रधान है। केवल याज्ञिक क्रिया ही उसका क्षेत्र नहीं है अपितु समस्त व्यक्तिगत और सामाजिक कर्त्तव्य उसमें समा जाते हैं। उसके बिना विद्याभ्यास और ज्ञान भी पूर्ण नहीं होता— "नैतेन बिना विद्याभ्यासज्ञानेऽपि पूर्णे भवत:"[१] क्योंकि मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के व्यवहार में सदा रहता है।[२]

कर्मकाण्ड के मुख्यत: दो भेद हैं। एक तो वह जिससे परम पुरुषार्थ की सिद्धि होती है अर्थात् ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना, ईश्वर की आज्ञारूप धर्म का अनुष्ठान और ज्ञान। इसके द्वारा मोक्ष प्राप्ति का यत्न किया जाता है। कर्मकाण्ड का दूसरा भेद वह है, जिससे लोक-व्यवहार की सिद्धि होती है। जिस 'धर्म' के द्वारा 'अर्थ' और 'काम' की प्राप्ति होती है।[३] इनमें प्रथम को 'मोक्ष का साधन' कह सकते हैं।

कर्मकाण्ड में भोजनादि की क्रिया से लेकर अश्वमेध पर्यन्त सभी लौकिक एवं वैदिक क्रिया कलापों का समावेश है। यह दो प्रकार का कहा गया है, एक अग्निहोत्र आदि यज्ञ के रूप में होता है। दयानन्द की दृष्टि में 'यज्ञ' शब्द का अर्थ अत्यन्त विस्तृत है। "ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका" में 'यज्ञे प्रतिष्ठिता:' पद की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—

१. "सब में व्यापक अर्थात् परमेश्वर"

२. सब संसार का उपकार करने वाला अश्वमेधादि यज्ञ अथवा

३. (जो) शिल्प विद्या सिद्ध करके उपकार लेना यज्ञ है। इस तीन प्रकार के यज्ञ में सब मनुष्य यथावत् प्रवृत्ति करें।[४] अग्निहोत्रादि यज्ञों का क्या उपयोग तथा महत्त्व है? इसका स्वामी दयानन्द ने विस्तार पूर्वक निरूपण किया है।[५] इसका विवेचन करना

---

१. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका वेदविषय— पृ० ३१४.

२. वही, पृ० ३१५.

३. वही, पृ० ३१४.

४. ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका, वेदोक्तधर्म, पृ० ३८४-३८५ .

५. (क) वही, वेद विषय पृ०-३१४. तथा आगे (५३.....)

(ख) सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृ० ५५-५७.

पृथक् प्रबन्ध का विषय है। अग्निहोत्रादि केवल व्यक्तिगत हित के ही साधन नहीं हैं, अपितु समस्त संसार के सुख के लिए होते हैं–'सर्व जगत् सुखकार्येव भवति।'[१]

लौकिक व्यवहार की सिद्धि के लिए जो दूसरे कर्म किये जाते हैं उनमें से कुछ विशेषत: व्यक्तिगत सुख को ध्यान में रखकर किये जाते हैं– ''अधिकतया स्वसुखायैव भवति।''[२] कुछ लोक-हित की दृष्टि से भी किये जाते हैं। दयानन्द ने इनमें अनेक कर्मों को गिनाया है, जिन्हें दो वर्गों में रखा जा सकता है–

१. भोजन-छादन आदि शरीर यात्रा के साधन होने वाले कर्म, जिनका विशेषकर व्यक्ति के अपने सुखों से सम्बन्ध है, तथा कला-कौशल, यन्त्र-निर्माण, आदि और

२. सामाजिक नियम।

इनमें पहिले प्रकार के कर्म व्यक्ति के निर्माण के साधन हैं उनका लोक-व्यवहार तथा परमपुरुषार्थ दोनों से ही सम्बन्ध है, अत: उनका निरूपण आगे किया जायेगा। दूसरे कर्म कला-कौशल आदि हैं।

स्वामी दयानन्द की दृष्टि अत्यन्त व्यापक रही है। मानव की सर्वाङ्गीण उन्नति उनकी शिक्षाओं का लक्ष्य है। उन्होंने एक ओर मीमांसकों के समान यज्ञों की महत्ता समझी है, उपनिषदों के समान ब्रह्मज्ञान की आवश्यकता का अनुभव किया है, दूसरी और एक राष्ट्र निर्माता की दृष्टि से देश के नवयुवकों को गन्धर्व वेद आदि ललित कलाओं, 'आयुर्वेद' आदि शरीर-विज्ञान तथा 'धनुर्वेद' एवं 'अर्थवेद' आदि के द्वारा युद्धविद्या, शिल्प विद्या, रणनीति और अर्थशास्त्रादि के अध्ययन की भी प्रेरणा दी है। पठन-पाठन विधि में 'पृथिवी' से लेकर आकाशपर्यन्त की विद्या को यथावत् सीखने, 'बीजगणित', 'अंकगणित', 'भूगोल', 'खगोल' विद्या का ज्ञान प्राप्त करने और 'यन्त्रकला' एवं 'शिल्प' आदि का अभ्यास करने की व्यवस्था की है।[३] कतिपय सन्दर्भों से यह भी विदित होता है, कि स्वामी दयानन्द ने कुछ जनों को 'यूरोप' जाकर नवीन-आविष्कारों का ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा दी थी।[४]

सामाजिक धर्म– आधुनिक विज्ञान तथा यन्त्र-निर्माण आदि के विषय में महर्षि

---

१. ऋग्वेदादि० वेदविषय पृ० ३१५.
२. वही, पृ० ३१५.
३. द्र० सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृ० ८९-९०.
४. द्र० ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन (राम लाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर–१९५५) पृ० २५९.

दयानन्द के क्या विचार थे? और उन्होंने इस विषय में किस प्रकार की प्रेरणा दी? यह पृथक् विषय है। लौकिक कर्म में दूसरा है—सामाजिक धर्म। दयानन्द के अनुसार जो अभी ऊपर धर्म का स्वरूप बतलाया गया है उसमें सामाजिक धर्म का स्वरूप है।—"पक्षपात-रहित न्यायाचरण।" इसी तथ्य को आर्य-समाज के सातवें नियम में दर्शाया गया है, कि "सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।" उन्होंने सामाजिक नियमों का कई स्थलों पर निरूपण किया। उनका दृष्टिकोण वेद-शास्त्रों पर आधारित होते हुए भी सुधारवादी है। यही उनका समाज-दर्शन है। उनके 'समाज-दर्शन' का सार है—"मनुष्य का सबसे यथायोग्य, स्वात्मवत् सुख-दुःख, हानि-लाभ में बर्तना श्रेष्ठ, अन्यथा बर्तना बुरा समझता हूँ"[१] इसका स्पष्टीकरण 'सत्यार्थ-प्रकाश' के इस अवतरण में मिलता है— "जैसे— अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे ही सर्वत्र समझ लेना कि मैं भी किसी को दुःख व सुख दूँगा तो वह भी अप्रसन्न और प्रसन्न होगा।"[२] इन शब्दों में— "आत्मवत् सर्वभूतेषु" 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' आदि की उदात्त भावना निहित है। वस्तुतः यही सामाजिक व्यवहार की कसौटी है।

सामाजिक-सुधार की भावना, द्वारा 'स्वामी-दयानन्द' ने भारतीय समाज में नवीन जागरण का शंख फूँका है। उनकी सूक्ष्म एवं व्यापक दृष्टि समाज के प्रत्येक अंग पर पड़ी है। वर्णाश्रम-व्यवस्था, राज-धर्म, शिक्षा पद्धति, विवाह-संस्था, खान-पान, व्यवहार, अस्पृश्यता, नारी की दशा, देश की स्वाधीनता तथा भाषा-समस्या आदि सभी का विवेचन उन्होंने किया है।

वर्णाश्रम व्यवस्था- 'वर्ण व्यवस्था' पर उनका दृष्टिकोण बहुत साफ है। वह गुण कर्म और स्वभाव के अनुसार समाज का विभाजन मानते हैं। उनका कथन है, कि वर्णाश्रम गुण, कर्मों की योग्यता से मानता हूँ— "वर्णाश्रम अपि गुणकर्माचारतो हि भवन्ति।"[३] उन्होंने स्पष्ट किया है, कि गुण, कर्म, और स्वभाव के आधार पर ही ब्राह्मणादि वर्णों की व्यवस्था की जाती है।[४] स्वामी जी रूढ़ि ग्रस्त जात-पात का कठोर शब्दों में विरोध करते हैं— यथा— "जो दुष्ट कर्मकारी द्विज को श्रेष्ठ और श्रेष्ठ कर्मकारी

---

१. स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश—अनु० २६.

२. सत्यार्थ-प्रकाश, तृतीय समुल्लास—पृ०-७०.

३. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, अधिकार०—पृ० ६ ४९

४. वही, सृष्टिविद्या— पृ० ४१३-४१४.

शूद्र को नीच मानें तो इससे परे पक्षपात, अन्याय, अधर्म दूसरा अधिक क्या होगा।"[१] उन्होंने व्यवस्था दी है, कि चारों वर्णों में जिस-जिस वर्ण के सदृश जो-जो पुरुष वा स्त्री हो, वह-वह उसी वर्ण में निनी जावें।[२]उनके अनुसार शूद्र भी वेद पढ़ने का अधिकारी है—"वेदाधिकार जैसा ब्राह्मण के लिए किया है, वैसा ही क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, भृत्य और अतिशूद्र के लिए भी बराबर है, क्योंकि वेद ईश्वर प्रकाशित है।"[३] इस प्रकार महर्षि दयानन्द की दृष्टि में कोई व्यक्ति जन्म से गर्हित नहीं है, कर्म आदि से भले ही हो जाये। उनकी शिक्षाओं ने ऊँच-नीच का भेद-भाव दूर किया है। अस्पृश्यता जैसी घातक प्रथा को मिटाने में मार्गदर्शन किया है।

ब्रह्मचर्य आश्रम- चारों आश्रमों के विषय में भी उन्होंने विचार किया है। 'ब्रह्मचर्य-आश्रम के विषय में वे लिखते हैं कि—"ब्रह्मचर्य के अनुष्ठानपूर्वक ही गृह आश्रमादि तीनों आश्रम सुख से उन्नति को प्राप्त होते हैं।"[४] वे शिक्षा व्यवस्था को राज्य का कार्य मानते हैं; उनका कहना है, कि राजा को योग्य है, कि सब कन्या, और लड़कों को ब्रह्मचर्य में रखके विद्वान् करना। वे अनिवार्य शिक्षा के समर्थक हैं—"राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावें, किन्तु आचार्य-कुल में रहें।"[५] उन्होंने शिक्षा व्यवस्था और शिक्षा मनोविज्ञान के विषय में भी कुछ संकेत दिये हैं। शिक्षकों तथा छात्रों के लिए उचित आचार संहिता का निर्धारण किया है और बतलाया है, कि राजा रंक, गरीब-अमीर सभी के बालकों के साथ समान व्यवहार होना चाहिए— "सब को तुल्य वस्त्र खान-पान, आसन दिये जायें, चाहे वह राजकुमार हो वा राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र की सन्तान हों, सबको तपस्वी होना चाहिए।"[६] स्त्रीशिक्षा के क्षेत्र में भी महर्षि की अनुपम देन है। उन्होंने अनेक युक्तियों तथा प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट किया है कि—"लड़कों के समान ही लड़कियों की भी शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए— स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिए।"[७]"स्त्री शूद्रौनाधीयाताम्" जैसी धारणाओं को मिथ्या

---

१. ऋग्वेदादि०, सृष्टिविद्या, पृ० १५५.
२. वही, पृ० ११३.
३. वही, अधिकार—पृ० ६४८
४. वही, पृ० ५५७.
५. सत्यार्थ-प्रकाश, अष्टम समुल्लास—पृ०-९८.
६. द्र० सत्यार्थ-प्रकाश, तृतीय समुल्लास—पृ०-४९.
७. वही, पृ० ९६.

बतलाकर उन्होंने स्त्री को न केवल सामान्य शिक्षा की ही अधिकारी माना है, अपितु उसके लिए वेदाध्ययन भी अनिवार्य दिखलाया है–

प्रश्न–''क्या स्त्री लोग भी वेदों को पढ़े?''

उत्तर–अवश्य, देखो श्रौतसूत्रादि में ''इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्।''[१]

'स्वामी-दयानन्द' हिन्दी को राष्ट्र भाषा के रूप में देखना चाहते थे, उन्होंने 'संस्कृत' और 'गुजराती' के विद्वान् होते हुए भी हिन्दी भाषा के महत्त्व को समझा– ''भिन्न-भिन्न भाषा, पृथक्-पृथक् शिक्षा, अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। बिना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है।''[२] उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि–''जब पाँच-पाँच वर्ष के लड़का-लड़की हों तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें, अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का भी।''[३]

शिक्षा के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द का दृष्टिकोण बड़ा व्यापक था। उनकी शिक्षा पद्धति में सदाचार, संगीत आदि ललित कलाओं शरीर विज्ञान, पदार्थ विज्ञान आदि कला-कौशल, राष्ट्रीय भावना, समाज-सुधार और लोककल्याण जैसे– विषयों का समावेश है।

गृहस्थ– गृहाश्रमों के कर्त्तव्यों का विशद विवेचन करते हुए उन्होंने गृहस्थ जीवन को शान्त और सुखी बनाने का प्रयास किया है। उन्होंने बाल विवाह, बेमेल विवाह, और बहुविवाह का सशक्त विरोध किया है तथा 'स्वयंवर विवाह' को श्रेष्ठ बतलाया है।[४] स्त्री पुरुष के कर्त्तव्यों और व्यवहारों का वर्णन करते हुए उन्हें सर्वथा एक दूसरे के अधीन रहने का निर्देश दिया है।[५] उन्होंने विवाह की आवश्यकता, 'पुनर्विवाह' तथा 'नियोग' के सम्बन्ध में भी मार्ग दर्शन किया है, यथा– ''ईश्वर के सृष्टि क्रमानुकूल, स्त्री पुरुष का स्वाभाविक व्यवहार रुक ही नहीं सकता, सिवाय वैराग्यवान् पूर्ण विद्वान् योगियों के............ व्यभिचार और कुकर्म को रोकने का एक यही श्रेष्ठ उपाय है, कि जो जितेन्द्रिय रह सकें, वे विवाह वा नियोग भी न करें तो ठीक है परन्तु जो ऐसे नहीं

---

१. सत्यार्थ-प्रकाश, पृ० ९६.

२. वही, अष्टम, समुल्लास पृ० २९७.

३. वही, द्वितीय समु० पृ० ३९.

४. वही, चतुर्थ, समु० पृ० १०३-१०६-१४३.

५. वही, पृ० १३२-१४२.

है, उनका विवाह और आपातकाल में नियोग अवश्य होना चाहिए।"[१]

इस प्रकार उन्होंने गृहस्थ आश्रम को सब प्रकार से सुधारने का प्रयास किया है; क्योंकि गृहआश्रम की उन्नति में अन्य सब आश्रमों की उन्नति विद्यमान है।

वानप्रस्थ एवं संन्यास– तीसरे और चौथे आश्रम 'वानप्रस्थ' और 'संन्यास' के विषय में भी स्वामी जी ने विशदता से विचार किया है। उनका कहना है, कि जिसमें एकान्त सेवन, ईश्वर की उपासना एवं विविध विद्याओं का मनन किया जाता है। तदनन्तर परब्रह्म की प्राप्ति तथा संसार के उपकार के लिए संन्यास धारण किया जाता है।[२] दयानन्द की दृष्टि में मनमाने ढंग से गेरुवे वस्त्र धारण करने वाला बाबा-साधु संन्यासी नहीं हैं, यथा– "दण्ड, कमण्डलु और काषायवस्त्रादि चिह्न धारण धर्म का कारण नहीं है।" सब मनुष्यादि प्राणियों का सत्योपदेश और विद्यादान से उन्नति करना संन्यासी का मुख्य कर्म है।[३] उनके विचार में पूर्ण वैराग्य प्राप्त करने वाला,[४] पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से ऊपर हुआ हुआ,[५] पूर्ण विद्वान्, धार्मिक परोपकारप्रिय मनुष्य ही संन्यास ग्रहण का अधिकारी है।[६] स्त्री पुरुष दोनों को ही संन्यास का अधिकार है।[७] उनकी दृष्टि में संन्यासी सर्वकर्मविनाशी नहीं है, अकर्मण्य प्राणी नहीं है। वह तो वेदाति सत्य शास्त्रों का अध्ययन अध्यापन करने वाला श्रेष्ठ मानव है। वह सत्य धर्म का उपदेष्टा है, वेदोक्त धर्म की वृद्धि का प्रयत्न करते हुए समस्त संसार की उन्नति में तत्पर रहता है।[८] वह ब्राह्मणों का भी नियन्ता है, शासकों का भी शासक है– "जब ब्राह्मण वेद-विरुद्ध आचरण करें, तब उनका नियन्ता संन्यासी होता है।"[९] इस प्रकार स्वामी जी का दृष्टिकोण समाज-सुधार परक है।

स्वामी जी समाज सुधार का कार्य केवल संन्यासियों पर ही नहीं छोड़ते, अपितु राजाओं से भी उन्हें अपेक्षा है, कि वे प्रजा का विधिवत् पालन करें। उनके राजधर्म का

---

१. द्र, सत्यार्थ-प्रकाश, चतुर्थ समुल्लास , पृ० १४६-१४७
२. ऋग्वेदादि० पृ० ५५३-५५५.
३. सत्यार्थप्रकाश, पंचम समुल्लास– पृ० १६६
४. वही, पृ० १६०.
५. वही, पृ० १६३.
६. वही, पृ० १६८.
७. वही, पृ० १७४.
८. द्र० वही, पृ० १७१-१७५.
९. वही, पृ० १७१.

मूल आधार 'वेद' और 'मनुस्मृति' है। उन्होंने इन्हीं के आधार पर 'राज्य सभा' की कार्य पद्धति, सभासदों के आचार आदि पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। मन्त्रियों और सेनापतियों आदि की योग्यता का निरूपण किया है, युद्ध के नियम, करग्रहण आदि की पद्धति का भी वर्णन किया है।[१] राज-पुरुषों के विषय में उनकी कल्पित शिक्षा एवं मानव-समाज को सदा मार्ग दिखलाती रहेंगी—

१. राजा और राजपुरुषों को अति उचित है, कि कभी दुष्टाचार न करें किन्तु सब दिन धर्म-न्याय से वर्त्त कर सबके सुधार का दृष्टान्त बने।[२]

२. न मित्रता और न पुष्कलधन की प्राप्ति से भी राजा सब प्राणियों को दुःख देने वाले साहसिक मनुष्यों को बन्धन-छेदन किये बिना छोड़े।[३]

३. किसान आदि खाने-पीने और धन से रहित होकर दुःख न पावें।[४]

४. प्रजा की साधारण सम्पति के विरुद्ध राजा वा राजपुरुष न चले।[५]

५. राजा से लेकर छोटे से छोटे भृत्य पर्यन्त राजपुरुषों को अपराध में प्रजापुरुषों से अधिक दण्ड होना चाहिए[६] और केवल राजा या शासक के कर्त्तव्यपरायण होने में ही राज्य की समुन्नति नहीं होती अपितु जनता भी कर्त्तव्य पारायण होना आवश्यक है, —"जब तक मनुष्य धार्मिक रहते हैं तभी तक राज्य बढ़ता रहता है और जब दुष्टाचारी होते हैं, तब नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।"[७]

स्वामी जी की दृष्टि दूरदर्शी है। उनका हृदय देशभक्ति से ओतप्रोत है। विदेशी राज्य के दुष्परिणामों से वे जनता को सावधान करते हुए कहते हैं— "परदेशी स्वदेश में व्यवहार वा राज्य करें तो बिना दारिद्र्य और दुःख के दूसरा कुछ नहीं हो सकता।"[८] विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना, पढ़ाना वा बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह,

---

१. द्र० ऋग्वेदादि० राज प्रजाधर्म, सत्यार्थप्रकाश, षष्ठ समुल्लास
२. सत्यार्थप्रकाश, षष्ठ समुल्लास, पृ० २२४.
३. वही, पृ० २२१.
४. वही, पृ० २१०.
५. वही, पृ० २१०.
६. वही, पृ० २२०.
७. वही, पृ० १७९.
८. वही, दशम, समु० —पृ० ३५०

विषयासक्ति, मिथ्याभाषणादि कुलक्षण, वेद विद्या का अप्रचारादि कुकर्म हैं।[१] तथा एक अन्य स्थान पर स्वामी जी कहते हैं कि "जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं तो तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।"[२] इस कथन में स्पष्ट रूप से अंग्रेजी शासन तथा उसके पूर्ववर्ती शासन के कुप्रभावों का उल्लेख किया गया है।

जो व्यक्ति देव के गौरव का अनुभव नहीं करते, अपने पूर्वजों तथा देश में महापुरुषों का सम्मान नहीं करते उनके आचरणों को स्वामी जी ने गर्हित समझा है। उनका कहना है कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह-रहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।[३] ईश्वर— प्रार्थनाओं में भी वे स्वाधीनता की कामना करते दृष्टिगोचर होते हैं— "अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न हों।"[४] इस प्रकार देखा जा सकता है, कि स्वामी जी को 'स्वराज्य' प्रिय था।

व्यष्टि एवं समष्टि- स्वामी जी ने व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों पर भी गहनता से विचार किया है। वे व्यक्ति और समाज दोनों की उन्नति चाहते हैं। व्यक्ति कर्त्तव्य पालन में एक स्वतन्त्र इकाई है, किन्तु समाज हित साधन में वह समाज के अधीन है, यथा— "सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें।"[५] दयानन्द की दृष्टि में समाज का क्षेत्र अत्यन्त विशाल है वह एक, ग्राम, नगर जाति या सम्प्रदाय अथवा राष्ट्र तक सीमित नहीं है अपितु सकल संसार, विश्व या मानव सभी उसके अन्तर्गत हैं। इसीलिए विश्वहित के लिए प्रयास करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है— "प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।"[६] और "संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।"[७] इस प्रकार स्वामी दयानन्द का दृष्टिकोण उच्च समाज का निर्माण करना है।

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० ३५३.
२. वही, पृ० ३५३.
३. द्र०- द्र, सत्यार्थ-प्रकाश, अष्टम समुल्लास, पृ० २९७.
४. द्र० आर्याभिविनय, द्वितीय प्रकाश मन्त्र—३१
५. आर्य-समाज का नियम १०.
६. वही, नियम—९
७. वही, नियम—६,

उन्नति के साधन– शारीरिक औरआत्मिक उन्नति के साधन के रूप में स्वामी जी ने 'ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना' ईश्वर की आज्ञा पालन रूप धर्म का अनुष्ठान और ज्ञान का निरूपण किया है। वे चोरी, आलस्य, प्रमाद, मादक द्रव्य सेवन, मिथ्याभाषण, हिंसा, क्रूरता, ईर्ष्या, द्वेष, छल-कपट, कृतघ्नता आदि दुर्गुणों को छोड़ने तथा सत्याचरण प्रतिज्ञापालन, सज्जनों का संग बड़ों की सेवा और शिष्टाचार जैसे—सद्गुणों को ग्रहण करने की शिक्षा देते हैं।[१] सत्यभाषण और सत्याचारण को वे सबसे बड़ा धर्म मानते हैं।[२]

सगुण एवं निर्गुणोपासना– स्वामी दयानन्द ने ईश्वर उपासना के द्वारा मुक्ति के मार्ग को देखा है। 'ईश्वरोपासना' 'निर्गुण और सगुण दो रूपों में होती है— 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग-वियोग, हल्का-भारी, अविद्या, जन्म-मरण और दुःखादि गुणों रहित परमात्मा को जानकर जो उसकी उपासना करना है उसको 'निर्गुणोपासना' कहते हैं।'[३] और सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् शुद्ध, नित्य, आनन्द, सर्वव्यापक एक, सनातन सर्वकर्त्ता सर्वाधार, सर्वस्वामी, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, मंगलमय, सर्वानन्दप्रद, सर्व-पिता, सर्व जगत् का रचने वाला, न्यायकारी, दयालु आदि सत्य गुणों से युक्त जानके जो ईश्वर की उपासना करनी है, सो 'सगुणोपासना कहलाती है।'[४]

स्तुति– स्वामी दयानन्द ने स्तुति के सम्बन्ध में लिखा है— यदि कोई व्यक्ति केवल मुख से ईश्वर के गुणों का कीर्तन करता है, उनको ग्रहण करने की चेष्टा नहीं करता तो उसका स्तुति करना व्यर्थ है।[५]

प्रार्थना–'प्रार्थना' का अर्थ उन्होंने अपने पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिए परमेश्वर से सहाय लेना किया है।[६] मनुष्य को कैसी प्रार्थना करनी चाहिए और प्रार्थना का क्या फल है? इस विषय में उन्होंने लिखा है, कि अभिमान का नाश आत्मा में आर्द्रता, गुणग्रहण में पुरुषार्थ और अत्यन्त प्रीति का होना प्रार्थना का फल है।[७]

---

१. सत्यार्थ-प्रकाश, द्वितीय समुल्लास, पृ० ४५-४७
२. ऋग्वेदादि० वेदान्तधर्म पृ० ३९५.
३. आर्योद्देश्यरत्नमाला, अनु० २७.
४. वही, पृ० २८
५. सत्यार्थ-प्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृ० २३४.
६. आर्योद्देश्यरत्नमाला, अनु० २४,
७. वही, अनु० २५,

उपासना– उपासना के विषय में उनका विचार है– "अष्टांग योग से परमात्मा के समीपस्थ होने और उसको सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी रूप से प्रत्यक्ष करने के लिए जो जो काम करना होता है, वह-वह सब करना चाहिए।"[१] उपासना के अन्तर्गत स्वामी जी परमेश्वर के प्रति आत्मा का पूर्ण समर्पण चाहते हैं। उनका कहना है, कि केवल परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिए धर्म से युक्त सब कर्मो को यथावत् करना यही निष्काम मार्ग कहलाता है, क्योंकि इसमें संसार के भोगों की कामना नहीं की जाती।[२] यही उपासना की सिद्धि की अवस्था है। यह परम पुरुषार्थ की प्राप्ति का साधन होती है–"जब इन साधनों को करता है तब उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है। नित्य प्रति ज्ञान-विज्ञान बढ़ाकर मुक्ति तक पहुँच जाता है।"[३] महर्षि की दृष्टि विशेषतः आत्मा पर रही है, मुक्ति की प्राप्ति तो इसका अनिवार्य फल है। वे कहते हैं कि–"इसका फल– जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है, वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष दुःख छूटकर परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण, कर्म, स्वभाव, पवित्र होजाते हैं।"[४]

ज्ञानकर्म उपासना समुच्चय–स्वामी दयानन्द ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों का समन्वय करते हैं। वे 'ज्ञान', 'विज्ञान' को 'लोकाभ्युद्य' और 'निःश्रेयस्' का सादन मानते हैंय उनका कथन है, कि परमेश्वर की उपासना करके, अविद्या आदि क्लेश तथा अधर्माचरण आदि दुष्ट गुणों को निवारण करके शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति करके जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।[५]

मोक्ष-परमपुरुषार्थ– इस प्रकार दयानन्द की दृष्टि में 'मोक्ष' को 'परमपुरुषार्थ' माना गया है। वही मानव का परम लक्ष्य है। 'ज्ञान' 'कर्म' और 'उपासना' का यथावत् समन्वय उसकी प्राप्ति का साधन है। अतः देखा जा सकता है, कि स्वामी दयानन्द का दर्शन पूर्णतया यथार्थ पर आधारित है।जीवन और जगत् के प्रति उनका दृष्टिकोण वास्तविक सत्य और धर्म को आधार बनाकर चलता है। मनुष्य का स्वरूप शरीर 'ज्ञान', 'कर्म' और 'उपासना' के समन्वय द्वारा 'परम-पुरुषार्थ' अथवा जीवन के

---

१. सत्यार्थ-प्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृ० २३९
२. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषय–पृ० ३१५-३१६.
३. सत्यार्थ-प्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृ० २४०
४. वही, पृ० २४१.
५. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, मुक्ति विषय–पृ० ४८७.

अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' की प्राप्ति में सहायक है। अन्य दार्शनिकों से स्वामी दयानन्द की विचारधारा यथार्थ के इसी आधार पर सर्वथा पृथक् है, यही उसकी पहचान है।

अब आगे स्वामी दयानन्द की इसी विचारधारा का जो प्रभाव 'कवि मेधाव्रत' की रचनाओं पर पड़ा है उसकी समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है—

मेधाव्रत की रचनाओं का अवलोकन करने पर यह यह ज्ञात होता है, कि स्वामी दयानन्द के 'यथार्थ दर्शन' का सबसे अधिक व्यापक रूप से प्रभाव उनके महाकाव्य 'दयानन्ददिग्विजयम्' पर पड़ा है। उक्त महाकाव्य में स्वामी दयानन्द के जन्म के समय की भारत की दुर्दशा, धार्मिक सम्प्रदायों के तथाकथित पाखण्ड, समाज में व्याप्त जातिप्रथा, एवं ऊँच-नीच, बाल-विवाह, बेमेल विवाह, बहुविवाह, और घोर अशिक्षा जैसे कुप्रभावों से व्याप्त समाज का दर्शन बचपन से स्वामी जी ने किया था। 'मूर्तिपूजा' जैसे पाखण्ड से समाज अज्ञान की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था। दयानन्द के मन में बचपन में ही इन सबका बड़ा प्रभाव पड़ा और उनका मन वैराग्य से भर गया। बहिन और चाचा की मृत्यु ने, मृत्यु से छुटकारे का मार्ग खोजने के लिए विवश किया। इसके पश्चात् उन्होंने भारत भर में भ्रमण करके ज्ञानविज्ञान, अध्यात्म और दर्शन के ग्रन्थों का पारायण किया, इसके साथ ही योग साधना में भी वे लगे रहे। उन्होंने 'व्याकरण', 'धर्मशास्त्र' और 'वैदिक' ग्रन्थों का भी पारायण किया। 'स्वामी विरजानन्द' के पास 'योगाभ्यास' और 'व्याकरण' आदि की शिक्षा पाकर जब वे पारंगत हो गये, तो अपने गुरुवर 'विरजानन्द' की प्रेरणा से समस्त भारत में फैली सामाजिक कुरीतियों और मूर्तिपूजादि पाखण्डों को यावज्जीवन दूर करने का प्रयास किया।भारत के अनेक स्थानों, बड़े जन समूहों के बीच, विभिन्न सम्प्रदायों के विद्वानों से उनके जमकर शास्त्रार्थ हुए जिनमें वे सर्वत्र विजयी रहे। उनके आध्यात्मिक और दार्शनिक विचारों का प्रभाव सम्पूर्ण मानव जाति पर पड़ा। उनके जीवन के इस सब घटनाक्रम का कवि मेधाव्रत ने अपने ग्रन्थ 'दयानन्द-दिग्विजय' में विस्तार से वर्णन किया है। दयानन्द की विचारधारा से अनुस्यूत उनके दर्शन और यथार्थ का क्रमानुसार परिचय दिया जा रहा है, तद्यथा—

प्रथम सर्ग में भारत की दुर्दशा का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है, कि उस समय इस आर्यावर्त में अज्ञानरूपी रजनी का साम्राज्य था। जैसे रात को कमलिनी मुँद जाती है, वैसे ही भारतीय जनता, अज्ञान, प्रमाद, आलस्य आदि दोषों के कारण सब उन्नतियों से हाथ धो बैठी। ऐसे भयंकर समय में सूर्य के समान तेजस्वी आदित्य-ब्रह्मचारी दयानन्द ने वेदोपदेश रूपी किरणों के प्रकाश से अज्ञानी जनता को अज्ञान निद्रा से

जगाया—

भयंकराज्ञाननिशि प्रमोहतो
निमीलितं भारतलोकपंकजम्।
व्यबोधयद्य: श्रुति बोधदीधिति-
प्रभाभिरादित्य इव व्रतीश्वर:।। १

'इस महान् संन्यासी ने दयालु हृदय से मतमतान्तरों की खाइयों में पड़े लोगों को सदुपदेश की सीढ़ियों द्वारा बाहर निकाला और दु:ख मार्ग से हटाकर 'अभ्युदय' और मोक्ष के महान् मार्ग पर ला खड़ा किया यथा—

अबोधगर्त्ते पतितानयं जनान्
सुबोधसोपानपरम्परां दिशन्।
यतिर्दयार्द्रेण हृदा य आपदां,
पथेऽनयन्मुक्तिसमृद्धिसत्पथम्।। २

अनेक दृष्टान्त, उदाहरण, आख्यायिका, प्रमाण आदि द्वारा 'यतिवर दयानन्द' ने भारतवासियों के हृदयरूपी दीवार पर अद्वितीय आर्य संस्कृति का आदर्श चित्र खींचा।[३] आगे कवि ने लिखा है, कि जैसे—''समरांगण में युद्धकलानिपुण सेनापति, कवचधारी शत्रुसैन्य के गात्रों को अपने पैने शस्त्रों से छेद कर देता है, वैसे ही शास्त्रार्थ महारथी दयानन्द, धर्मध्वजी सन्तमहन्तों की मण्डलियों को प्रबल प्रमाण और तर्क से परास्त कर देते हैं, यथा—

प्रमाणनिस्त्रिंशसुतर्कसायकै:
सभारणे तान् प्रतिपक्षिपण्डितान्।
अधर्मवर्मावृतगात्रमण्डलान्,
विभेद य: शास्त्रिमहारथो भटान्।। ४

आगे कवि ने लिखा है कि— ''मोहरूपी समुद्र में मग्न जनतारूपी नौका को विपत्तियों के बचाने की इच्छा से जिन्होंने अपने मुक्ति सुख को त्याग दिया और जो

१. दयानन्द-दिग्विजयम्, १.८
२. वही, १.१०
३. द०दि० १.४२.
४. द० दि० १.४४

निरन्तर समाधि में परमेश्वर के दर्शनों से ही प्रसन्न रहते थे, ऐसे इस महापुरुष का चरित्र जगत् के कल्याण के लिए हो।''[१]

'आर्यो में एक ईश्वर की उपासना को छोड़कर स्वकपोलकल्पित मूर्तिपूजा प्रारम्भ हो रही थी। उदरंभदि ब्राह्मण लोकोपकारक, यज्ञकार्यों में भी बिचारे निर्दोष प्राणियों को ही नहीं, किन्तु मनुष्य तक को भी वेदमन्त्रों द्वारा पवित्र अग्नि में होम देते थे। शिव और पार्वती के नाम पर मदान्ध वाममार्गी लोग शराब पीकर स्त्रियों के साथ (बहिन, पुत्री और माता तक से भी) निन्दिताचरण करने लगे, यथा—

एकेश्वरोपासनमात्मनीनं विहाय वेदप्रतिकूलरीत्या।
स्वशेमुषीकल्पितमूर्तिपूजामारेभिरे कर्तुमिहार्यलोकाः।।
लोकोपकारक्षमयज्ञकार्ये, कुक्षिभरिब्राह्मणबन्धुसंघाः।
निर्दोषसत्त्वान् मनुजाँश्च हत्वा ब्रह्मावहौषुः श्रुतिमन्त्रपूते।।
दम्भेन गौरीशिवयोर्मदान्धा, निपीय हालां महिलासहायाः।
समाचरन्निन्दितकर्म मात्रा, पुत्र्या भगिन्याऽपि च वामशीलाः।। [२]

आगे भी भारत की वास्तविक दुर्दशा का कवि ने यथार्थ चित्रण किया है। द्वितीय सर्ग में कवि कहते हैं कि— ''श्रद्धालु मूढ़ लोग अपनी कन्याओं को मन्दिरों में देवों को भेंट चढ़ाने लगे, इससे मूर्तियों के आगे नाच गान करने वाली देवदासियों की प्रथा शुरू हुई। इन देवदासियों से ये धूर्त पुजारी बलात्कार करने लगे।''[३]

समाज की यथार्थ स्थिति का चित्रण करते हुए उन्होंने लिखा है, कि —''पानी, वृक्ष अग्नि, वायु, पत्थर, सूर्य आदि जड़ पदार्थों एवं भूत, प्रेत, कब्र तथा बुद्धिहीन पशुओं की पूजा से मनुष्य नष्ट हो गये। जैसे —लकड़ियों के परस्पर संघर्ष से अग्नि सुलग जाती है और उसी अग्नि से जंगल साफ हो जाता है वैसे ही राजाओं के परस्पर ईर्ष्या, द्वेषादि के कारण एक दूसरे के प्रति विमल प्रेम नष्ट हो चुका था। इसीलिए इन्होंने भ्रष्टबुद्धि होकर मुसलमान बादशाहों की दासता स्वीकार कर ली।''[४]

इसके पश्चात् ऐसे अन्धकारमय काल में चतुर अंग्रेजों ने युक्तियों से शासन की

१. द० दि० १.५०
२. द० दि० २.१०-१२.
३. द० दि० २.२०
४. द० दि० २.२३-२७.

बागडोर अपने हाथों में ली और उन्होंने कुछ-कुछ अच्छे शासन से प्रजा का मनोरंजन किया। उस समय विलासिता के कारण राजागण शौर्यहीन हो गये थे, इसलिये लगभग ६०० राजा ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन हो गये थे।[१]

स्वामी दयानन्द की जीवन दशा और दृष्टिकोण बदलने का कारण शिवलिङ्ग पर विद्यमान चूहा था। स्वामी जी के मन में उसे देखकर यह प्रश्न उठा कि यह शिवलिङ्ग कोई शिव नामक देवता नहीं, यह तो मात्र पत्थर है, उसकी सामर्थ्य तो चूहे भगाने की भी नहीं है। इस यथार्थ स्थिति का कवि मेधाव्रत जी ने बड़ा सटीक चित्रण किया है, यथा—

कोप्युन्दुरूस्त्रयम्बकमूर्त्तिशीर्षं, तस्थौ समारुह्य प्रलम्बलूमः।
निवेदितं तण्डुलमोदकाद्यं, खाद्यं स खादँश्चटुलाग्रजिह्वः॥
त्रिशूलधारी बहुरुद्ररूपः कैलासवासी किमयं महेशः।
यद्विक्रमैर्विस्मितविश्वचित्तं, श्रुतं कथायामतिवीर्यवृत्तम्॥ [२]
यो मूषकेऽभ्योऽपि विरक्षितुं स्वां मूर्तिं न शक्तो निजभक्तलोकान्।
त्रातुं समर्थः शरणागतान् स्यात्कथंन्वसावुन्दुरुदूषितान्नः॥
किं सत्यरूपो भगवान् गिरीशो विश्वंभरः शंकर एष साक्षात्।
आहोस्विदेषा प्रतिमा तदीया, संराजते राजतरूपरम्या॥
शक्ता न मूर्त्तिर्निजमस्तकस्थाँ स्तानुन्दुरान् भक्षितमिष्टभोगान्।
पिनाकिनः ख्यातपराक्रमस्य, रुद्रस्य विद्रावयितुं यदेषां॥ [३]

बालक 'मूलशंकर' के मन में बार-बार शंका उठ रही थी। उन्होंने अपने पिताजी से कहा कि ''जीवात्मा तो हमेशा ज्ञानाभिलाषी है और मूर्ति जड़ है। अतः मूर्ति उसके ज्ञान की वृद्धि में किंचित् भी सहायता नहीं करती है। इसलिए इस मूर्ति की पूजा से मुक्ति एवं परमात्मा प्राप्ति क्यों कर संभव है, यथा—

जीवात्मनां ज्ञानजुषां कृते या जडार्चना नैव फलं प्रसूते।
तत्सेवया कः परमार्थलाभः, शिवोपलब्धिश्च कथं भवेन्नु॥ [४]

---

१. द० दि० २.४६-४७.
२. द० दि० ४.५१,५४.
३. द० दि० ४.५८,६२,६३.
४. द० दि० ४.६९

स्वामी दयानन्द का मन मूर्तिपूजा से विरत हो चुका था, पिता के उपदेश और व्रतोपवास अब उनके लिए बकरी के गले के स्तन के समान व्यर्थ थे। पवित्र विवेक बुद्धि से जिसने झूठ को समझ लिया था, सच्चे धर्म से अब उससे इसे ब्रह्मा तक भी तिलमात्र नहीं हठा सकते थे, बेचारे पिता की जो बात ही क्या—

बुधबालकमूलशंकरः प्रतिमापूजनतः पराङ्मुखः।

उपवासमजीगणन्मुधा, तमजाकण्ठभवस्तनोपमम्।।

विमलेन विवेकचक्षुषा प्रसमीक्ष्यानृतकर्म धर्मभृत्।

यदमंस्त दृढं ततोऽन्यतोन विधिर्नेतुमलं कुतः पिता।। १

स्वामी दयानन्द की जीवन धारा को वैराग्य की ओर मोड़ने वाली दो प्रमुख घटनाएँ थीं, उनकी बहिन और चाचा की मृत्यु। इन घटनाओं के पश्चात् उनका मन बड़ा उत्कंठित हो गया। उन्होंने निश्चय किया कि "मैं जब तक मरण काल के दुःख की पीड़ा से बचाने वाली और अक्षय आनन्द को सिद्ध कराने वाली मंगल कारक मुक्ति को प्राप्त न कर लूँगा, तब तक तपश्चरण करता ही रहूँगा।"

मृतिकालरुजानियन्त्रणापरिरक्षाऽक्षयसौख्यसाधिका।

नहि यावदवाप्यते मया शुभ मुक्तिस्समुपास्यते तपः।। २

उन्होंने निश्चय किया "जब मैं सांसारिक त्रिविध तापों के निवारण करने में समर्थ, परम आनन्द के धाम, निरंजन कल्याणकारी परमेश्वर का साक्षात्कार कर लूँगा, तभी शान्ति प्राप्त करूँगा।"

भवदुःखनिवारणक्षमं परमानन्दपदं निरंजनम्।

शिवशंकरमीश्वरं यदा, शममाप्स्यामि लभेय तं तदा।। ३

यही जीवन का वह यथार्थ सत्य है, जिसे खोजने के लिए उन्होंने अपना सारा जीवन अर्पित कर दिया। उनके हृदय में वैराग्य की भावना अत्यधिक प्रबल हो चुकी थी। भोग से विरक्ति व संयम उनके चरित्र का अंग बन चुका था। इस मनः स्थिति का कवि ने बड़ा भावपूर्ण सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है, — "वृद्ध मुनिगण बड़े ही यत्न से सम्पूर्ण इन्द्रियों के संयमरूप ईन्धनों द्वारा विवेक की अरणियों की रगड़ से जिस

---

१. द० दि० ५.६

२. द० दि० ५.४५

३. द० दि० ५.४६

वैराग्याग्नि को जलाते हैं, उसी वैराग्याग्नि को इस पुण्यवान् चतुर,युवा, संयमी, ब्रह्मचारी ने बिना परिश्रम के ही स्वाभाविक ज्ञान की लकड़ियों से प्रदीप्त कर दी–''

सकलेन्द्रियसंयमेन्धनं सुविवेकारणिमन्थनोत्थितम्।
स्थविरा मुनयो विरक्तिं ज्वलनं यं ज्वलयन्ति यत्नतः।।
तमयं तरुणं वयो दधत् सहजज्ञानसुदारुदीपितम्।
यमिनां प्रवरो युवा व्रती सुखतो विदन्ति पुण्यवान् कृती।। [1]

स्वामी दयानन्द की जीवन दृष्टि परिवर्तित हो चुकी थी, उनके पिता से उनका दृष्टिकोण सर्वथा पृथक् था।

उनके मन में यह बात आया करती थी कि पिता तो कट्टर मूर्तिपूजक और उसका पुत्र मूर्तिपूजा का कट्टर शत्रु। पिता धन, मान और प्रतिष्ठा का अभिलाषी है और पुत्र इन सब बातों का विरोधी संन्यास वृत्ति का इच्छुक है। पिता उपवास, जप, तप, आदि बाह्य, आडम्बरों में निपुण है और पुत्र की रुचि अन्तरंग संयम के साधनों में है, फिर भला दोनों का प्रेमपूर्वक मेल कैसे हो सकता है।[2]

'मूलशंकर' में विवाह के प्रति भी लगाव नहीं रह गया था। वे मृत्यु के भय से व्याकुल हो उठे थे। अतः विवाह की तैयारी देखते ही घर छोड़कर चले गये।

जीवन का लक्ष्य–स्वामी दयानन्द का मन मृत्यु को जीतने का प्रयास कर रहा था, उन्होंने संसार को दुःख रूप समझा था। वे परमात्मा से प्रार्थना किया करते थे– हे प्रभु! मैं विषयों के उपभोग सुख की कामना नहीं करता क्योंकि भोग रोगों का आगार है। इसलिए जन्म-मरण और बुढ़ापे की पीड़ा को हरने वाले तेरे परमानन्द पद को ही चाहता हूँ।[3] यह **'परम पद' पाना ही महर्षि दयानन्द के जीवन का लक्ष्य था।** इस 'परम पद' को पाने के लिए स्वामी जी ने कई वर्षों तक योगविद्या सीखी और मोक्ष पाने के लिए निरन्तर योगाभ्यास करते रहे। उन्होंने 'हिमालय' और 'नर्मदा' की घाटियों में अनेक योगियों से भेंट की और इन्द्रियों के सम्पूर्ण दोषों को प्राणायामों से जलाकर, धारणावृत्ति से पापों का क्षय कर चुके थे। अतः 'श्री दयानन्द' जी ने प्रत्यग् ज्योति आत्मा के दर्शन जन्य आनन्द से तृप्त होकर दिव्यानन्द की प्राप्ति कर ली थी। ''ऋतम्भरा प्रज्ञा के साक्षात्कार करने वालों में श्रेष्ठ स्वामी जी ने ओ३म् स्वरूप

---

१. द० दि० ५.६५-६६
२. द० दि० ५.७१-७३.
३. द० दि० ६.६१

परमात्मा के ध्यान में अन्तरात्मा को मग्न करके, सर्व प्रकार की वृत्तियों के निरोध से निर्बीज समाधि साधकर 'सच्चिदानन्द परब्रह्म' का दर्शन कर लिया—

प्राणायामैरिन्द्रियाणां प्रदोषान् दाहं दाहं धारणाध्वस्तपापः।
प्रत्यग्ज्योतिर्दर्शनानन्दतृप्तो दिव्यानन्दं श्रीदयानन्द आप्नोत्।।
ओ३म्रूपात्मध्यानलीनान्तरात्मा, प्रज्ञानीन्द्रः सर्ववृत्तिव्रजानाम्।
रोधेनासौ साधिताबीजयोगः साक्षाच्चक्रे सच्चिदानन्दमीशम्।। १

योगविद्या के पश्चात् स्वामी जी ज्ञान मीमांसा की ओर प्रवृत्त हुए। गुरु 'विरजानन्द' ने इन्हें आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन कराया और वेद एवं शास्त्रों को समझने के लिए निरुक्त और महाभाष्य में निपुणता प्रदान कर दी। उन्होंने वेदार्थ समझाने की यथार्थ शैली अच्छी प्रकार बताकर इनके सभी संशयों को मिटा दिया।

स्वामी जी के जीवन का लक्ष्य बड़ा स्पष्ट था। उन्होंने अपना जीवन गुरु की सेवा में समर्पित कर दिया। गुरु ने उन्हें स्वदेश एवं स्वधर्म के उद्धार में लगा दिया। उन्होंने दयानन्द को आर्शीर्वाद देते हुए कहा—"तुम्हारा कल्याण हो। तुम जाओ। महर्षियों के सद्ग्रन्थों का, वेदविद्या का और उज्ज्वल वैदिक सिद्धान्तों का देश-देशान्तर में प्रकाश करो और शीघ्र ही वैदिक वैजयन्ती फहरा दो। वर्णों एवं आश्रमों के पवित्र धर्म को फैलाकर संसार में प्रचलित कुरूढ़ियों का नाश कर विद्या की महिमा बताकर आर्यों को जागृत करो और दिग्विजयी बनो। हे वत्स! तुम्हें प्राण भी अर्पण करना पड़े तो तुम पवित्र धर्म को फैलाते रहना। तुम अपने शरीर को गुरुदक्षिणा के रूप में परोपकारार्थ समर्पण कर दो, यथा—"

स्वस्त्यस्तु ते याहि दिगन्तवृन्दे बन्ध्यर्षिसद्ग्रन्थनिबद्धविद्याः।
विद्योतय प्रोज्ज्वलवेदधर्म श्रीवैजयन्तीं लघु लासय त्वम्।।
वर्णाश्रमाचारपवित्रधर्मान् प्रसार्य लोके चलिताः कुरीतीः।
निवार्य विद्यामहिमानमार्यान् विबोध्य कृत्वा मनुजाज्ञयाशाः।।
प्राणार्पणेनापि पवित्रधर्म प्रसारणां त्वं कुरु वत्स! कामम्।
परोपकाराय वपुस्तवेदं समर्प्यता सा गुरुदक्षिणेति।। २

गुरु की आज्ञा पाकर स्वामी दयानन्द योगाभ्यास, वेदों के भाष्य एवं शास्त्रार्थ के

---

१. द० दि० ९.३७-३८
२. द० दि० १०.१०३-१०५.

कार्यों में लग गये। वे दृढ़ भक्ति के साथ परमात्मा की उपासना किया करते थे। वे कहा करते थे– ''हे जगदीश्वर! तुम अणु से अणु और महान् से महान् हो। तुम ही अनन्त गुणों के भण्डार हो। आप संसार का पालन पोषण करने वाले हो। तुम ही पाप के विनाशक हो, इसलिए पूजनीय परमदेव! आपको मेरा बारम्बार नमस्कार है।'' हे गुणनिधे प्रभो! आप दया का सागर, चराचर के बन्धु, दया के मेघ एवं संसार के रचयिता हो। हे वरमते पिता, ब्रह्मानन्द प्रदाता, आपकी शक्तियां अनन्त हैं। इसलिए आप में मेरी दृढ़ भक्ति हैं। आप मुझ अशरण को शरण प्रदान करके रक्षा कीजिये। भगवन् आप सारे ब्रह्माण्डों की रचना करके उन सबके अन्दर और बाहर व्याप्त हो। अत: हे अनन्तबलशालिन् सर्वान्तर्यामिन् स्वामिन्! आपके शरणापन्न इस जन की आप रक्षा करें। हे देव! आपने दिन में सूर्य और रात में चन्द्रमा को चराचर के प्रकाश के लिए महान् दीपक के समान बनाया है। आप की महिमा अतुल तथा अद्भुत है। हे पापों के विनाशक सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मन्! आप अजर, अमर, नित्य शुद्ध बुद्ध, वेदोत्पादक, संसार के महान् गुरु एवं महान् रक्षक हो। आप दया करके शरणार्थी इस जन की रक्षा कीजिये।[१]

इस प्रकार ईश्वर भक्ति के द्वारा उनकी आत्मा बड़ी बलवती हो गयी। 'ज्ञान', 'कर्म' और 'उपासना' का सुन्दर समन्वय उनके जीवन में देखा जा सकता था। इसके पश्चात् वे सम्पूर्ण शक्ति लगाकर समाज-सुधार हेतु शास्त्रार्थ के कार्य में लग गये। उन्होंने 'आगरा' 'ग्वालियर' 'करौली', 'जयपुर', 'अचरौल', 'किशनगढ़' 'अजमेर' व 'पुष्कर' आदि स्थानों में 'वैष्णव', 'भागवत', 'चक्रांकित' व 'शैव' आदि मतों के विभिन्न विद्वानों, धर्मध्वजी, पाखण्डियों और रूढ़िग्रस्त मूर्तिपूजकों को अनेक बार शास्त्रार्थ में हराया।[२]

स्वामी जी की बुद्धि इतनी तीव्र थी कि सत्य को पहचानने में उन्हें देर नहीं लगती थी। 'पुष्कर' में एक बार एक वृद्धा स्त्री ब्रह्मा जी की मूर्ति के दर्शन से लौटकर स्वामी जी के दर्शन करने आयी। स्वामी जी ने पूछा माता! तुम कहाँ से आ रही हो? उसने कहा कि—मैं ब्रह्मा का दर्शन करके आ रही हूँ। क्या ब्रह्मा जी ने आपको कुछ उपदेश दिया। वह बोली हाँ। स्वामी जी झट उठकर उस वृद्धा के साथ मूर्ति के पास जाकर उससे बोले माता! मूर्ति को बोलने के लिए कहो। बुढ़िया हँसकर बोली-स्वामी जी

---

१. द० दि० ११.२१-२५.
२. द० दि० ११.७१-१४६.

महाराज, आप के सामने तो बड़े-बड़े विद्वान् भी चुप हो जाते हैं तो इस मूर्ति की तो क्या बात ?[१]

स्वामी जी कल्पना लोक में विचरण नहीं करते थे अपितु जनता के बीच जाकर गूढ़ प्रश्नों के समाधान बड़ी लगन से किया करते थे। कवि मेधाव्रत ने 'दयानन्द दिग्विजय' महाकाव्य के ग्यारहवें सर्ग से लेकर सताइसवें सर्ग तक स्वामी जी के साथ शास्त्रार्थों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। इन शास्त्रार्थों से स्वामी दयानन्द के जीवन और जगत् के प्रति दृष्टिकोण, जीवन के चरम लक्ष्य, मोक्ष, पुरुषार्थ चतुष्टय और 'ज्ञान', 'कर्म' एवं 'उपासना' के समन्वय के पुष्ट प्रमाण उपलब्ध होते हैं, उदाहरण के लिए कुछ श्लोकों का भाव निदर्शन हेतु प्रस्तुत किया जा रहा है—

संयम— स्वामी जी 'अजमेर' में अपने धर्म की उत्तमता के अभिमानी ईसाई मतावलम्बी 'रॉबिन्सन', 'ग्रे' और 'शूलब्रेड' पादरियों के साथ जीव, ईश्वर, सृष्टि उत्पत्ति, क्रम तथा ईश्वर, वाणी आदि विषयों पर तीन दिन तक शास्त्रप्रमाणसहित विचारणा करते रहे।[२] 'कर्नल ब्रूक' से उनका शास्त्रार्थ 'गोवंश' की रक्षा को लेकर हुआ।[३] अजमेर में 'रामस्नेही' सम्प्रदाय का महन्त भी बहाने बनाकर उनके समक्ष शास्त्रार्थ हेतु नहीं आया।[४] 'किशनगढ़' के राजा पृथिवी सिंह के अभिमानी और पाखण्डी पण्डित भी उनसे पराजित हुए।[५] 'आगरा' में 'भागवत पुराण' के पण्डित खण्डन सुनकर स्वामी जी पर प्रहार करने को उद्यत हो गये, किन्तु स्वामी जी के अतुल मनोबल को देखकर भाग गये।[६] स्वामी जी का जीवन बड़ा संयमी था। मुक्ति को पाने के लिए वे सदा पुरुषार्थ करते रहते थे। पुरुषार्थ को उन्होंने जीवन में अपनाया था। उनका विचार था कि जो मनुष्य संसार यातनाओं से परिचित है, जिसका हृदय भगवान् की भक्ति से लबालब भरा है, जो जितेन्द्रिय बनकर परमेश्वर में तल्लीन है, जिसे हर्षदायक गुरुमन्त्र के जप से अनन्त सुखानुभव के कारण रोमांच हो जाते हैं, वही मनुष्य पुण्यशाली ऋषि की तरह कामवासना को जीतकर मृत्युंजयी होता है, और

---

१. द० दि० ११.१४७-१४८.
२. वही, १२.५,
३. वही, १२.२९,३०
४. वही, १२.४१
५. वही, १२.४४
६. वही, १२.५०-५२.

मुक्ति का पद पा लेता है।[१] 'संयम' स्वामी जी के चरित्र का प्रमुख अंग था। सांसारिक भोगों से उन्हें पहले ही विरक्ति हो चुकी थी। उन्होंने ब्रह्मचर्य के पालन से शरीर को सुन्दर और सुड़ौल बना रखा था। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक पराक्रम एवं बुद्धि में मुनिवर दयानन्द' का परिणाम जानने में कोई समर्थ नहीं था।[२]

'कुम्भ मेले' के अवसर पर स्वामी जी ने 'हरिद्वार' में 'पाखण्ड खण्डिनी' पताका फहरायी। यहाँ स्वामी जी ने बलपूर्वक मूर्ति पूजा का खण्डन किया और वेदों के प्रमाणों तथा तर्कों से व्यापक, अजन्मा, परमेश्वर के अवतारवाद का खण्डन किया। मुनिराज ने तीर्थ स्थान, कण्ठी, विविध तिलक तथा 'नाममाहात्म्य' की खूब धज्जियाँ उड़ाई। कुछ अल्प बुद्धि वाले पण्डे-पुजारियों ने स्वामी को नास्तिक कहकर पुकारा।[३] 'विशुद्धानन्द' नाम के एक विद्वान् ने 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्०' मन्त्र को लेकर कहा कि– ''ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जाँघों से वैश्य और चरणों से शूद्र उत्पन्न हुए। इसके उत्तर में स्वामी जी ने कहा कि आपने इस मन्त्र का जो अर्थ किया है, वह असंगत है मुख से तो थूक पैदा होता है।''[४]

स्वामी दयानन्द सदा मिथ्या पाखण्डों का खण्डन करते रहते थे। हेमन्त काल में 'गंगा' की रेती में केवल लंगोट धारण कर ब्रह्मानन्द में लीन हुए, ये दयानन्द साक्षात् ब्रह्मचर्य की मूर्ति ही दिखायी देते थे। जैसे– पवन पुत्र हनुमान् की प्रभु 'रामचन्द्र' में परमभक्ति थी वैसी ही दयानन्द की निराकार व्यापक परमेश्वर में अतीव भक्ति थी।[५]

विद्वान् लोग ब्रह्म और अब्रह्म के विवेचन में मूढ़ होकर कौवे के समान आचरण करते थे और 'ऋषि दयानन्द' 'ब्रह्म' 'जीव' और 'प्रकृति' के परीक्षण में हंस समान थे। हंस मोती खाता है और दूध पीता है, उस समय दयानन्द भी निराहार रहकर दूध पीते थे। हंस दूध और जल को पृथक् करता है, और दयानन्द 'ब्रह्म', 'जीवात्मा' और 'प्रकृति' को अलग करते थे।[६]

स्वामी दयानन्द का ईश्वर पर अटूट विश्वास था। इस विश्वास के बल पर ही वे वेदों के प्रमाण और युक्तियों के द्वारा मिथ्या लीला और निरर्थक पाखण्डों का खण्डन करते

---

१. द० दि० १२.७४
२. वही, १२.७६-७७
३. वही, १२.८८-९९
४. वही, १२.१०२-१०४.
५. वही, १३.२०-२३.
६. वही, १३.२६.

थे, यथा–

पाषाणप्रतिमार्चनं प्रभुजनिं तीर्थप्रशंसा जले
भाले चित्रविशेषकं शुभगले मालामणिनां धृतिम्।
देहे तापनमङ्कनञ्च जपनं रामादिनाम्नां परं
लीलां भागवतीं निराकृतं मुनिर्वेदोक्तिसद्युक्तिभिः।। [१]

स्वामी दयानन्द सदैव मूर्तिपूजा के खण्डन और समाज सुधार के कार्यों में लगे रहते थे। उनके ज्ञान से प्रभावित होकर लोगों ने अपनी मूर्तियाँ गंगा में फेंक दी थी और वेद मन्त्रों से निराकार परमेश्वर की उपासना प्रारम्भ कर दी थीं। 'ठाकुर गोपाल सिंह' के पुरोहित 'पं० टीकाराम' ने यह कहकर–'क्योंकि मैंने वेदों के विद्वान् बृहस्पतिसम,' 'गुरु दयानन्द सरस्वती' नामक संन्यासी की संगति में श्रुति, स्मृतियों में प्रसिद्ध मानवधर्म का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। इतना कहकर उसने उन ठाकुरों को स्वामी जी के अगाध ज्ञान, एवं तपोबल की महिमा सुनाई।[२]

एक बार पौराणिक दलों के अध्यक्षों ने शास्त्रार्थ के लिए 'पं० अम्बादत्त' को स्वामी जी के सामने उपस्थित किया। उसने कहा– "भगवन्! श्रुति और स्मृतियों में अनुमोदित, और चिरन्तन काल से समर्थित, यह माननीय देवपूजा आप क्यों नहीं मानते?" स्वामी जी बोले– "मैं देव पूजा को मानता हूँ किन्तु पत्थर की मूर्ति की पूजा नहीं मानता। ईश्वर की अमूर्तता में तो प्रत्येक शास्त्र का समर्थन है। वेदों को नहीं जानने वाले, स्वार्थान्ध मनुष्यों ने अकाम, अजन्मा, मरणधर्मरहित, मुक्त, आनन्द स्वरूप ईश्वर की शरीर कल्पना की है। क्लेश, कर्मफल, वासनादि से अलिप्त परमेश्वर सामान्यजन तुल्य भोक्तापन धारग करके क्यों चेष्टा करे।"[३]

स्वामी जी ने मूर्तिपूजा का खण्डन करके सच्चे ईश्वर की सिद्धि करते हुए निराकार परमात्मा की उपासना की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया, यथा–

"कैलाश में शंकर, वैकुण्ठ में विष्णु, समुद्र में हरि और त्रिविष्टप् में ब्रह्मा रहते हैं। ये धूर्तों की व्यर्थ वंचना है। सुवर्ण,चाँदी और पत्थर की बनाई हुई ईश्वर की मूर्ति में अपने-अपने स्थान में निवास करने वाले इन देवों का अस्तित्त्व संभव नहीं। ऐसी जड़ मूर्तियों की पूजा से फिर क्या फल होगा? भक्तों का रक्षण तो दूर रहा, जब कि अपना

---

१. द० दि० १४.३
२. वही, १४.९.
३. द०दि० १४.२४-२७.

रक्षण ही नहीं कर सकती।''

''मंदिर की जड़ मूर्तियों में उस विष्णु की प्राण-प्रतिष्ठा और उसका आवाहन भी पुजारी लोग नहीं कर सकते। निश्चय जड़ पूजा से वे अत्यन्त जड़ बन गये हैं।''

''वेद में इस प्रकार की देवपूजा नहीं कही है, किन्तु देव संज्ञक माता, पिता, आचार्य, विद्वान् अतिथि और सत्पुरुषों की पूजा (सत्कार) कही है, जिससे आत्मा की सदा उन्नति होती है।''

''सन्त योगी लोग सर्वत्र विराजमान महान् व्यापक उपासनीय देव, आनन्द स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर को ज्ञानमय पवित्र नेत्र से हृदय में अनुभव करते हैं।''

''कोई इसे चर्मचक्षुओं से नहीं देख सकता। वाणी और मन का भी यह ईश्वर विषय नहीं है, यह सर्वव्यापक प्रभु योगियों से योग द्वारा ही हृदय में आत्मा से जाना जा सकता है।''

''इस प्रकार वाद में प्रवीण, बुद्धिमानों में अग्रेसर, दयानन्द ने प्रमाणों और प्रबल तर्कों से उस पण्डितवर को अपने पक्ष का बना लिया।''

''उस सत्यप्रिय पण्डित ने सत्यवानों में श्रेष्ठ ऋषि की सत्यवाणी को मुक्त कण्ठ से सभा में स्वीकार कर सभ्यों से कहा कि— हे सज्जनों सचमुच, मूर्तिपूजा अवैदिक है।''[१]

पण्डित अम्बादत्त की हार से यतिराज की ख्याति चौगुनी हो गयी, अतः सैकड़ों क्षत्रिय वेदमार्गगामी बन गए।

मन्दिरों में मूर्तियों, कण्ठों से मालाएँ, हृदय से अज्ञान अन्धकार और ललाटों से तिलक, गंगा में मुक्ति पाने के लिये गये।[२]

वक्तृत्त्वकलाचतुर ऋषि ने कठोर तर्करूपी कुठारों (कुल्हाड़ों) से पाखण्ड-वृक्ष से लिपटी हुई तीर्थ, अवतार आदि पुराण लीलारूपी लताओं को काट डाला।[३]

इसके पश्चात् उनका नवीन वेदान्ती कृष्णानन्द संन्यासी से शास्त्रार्थ हुआ— ''उसने वेदान्तवाद का अवलम्बन कर इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा कह सुनाई—''जैसे रज्जु में सर्प का और सीप में चाँदी का अभाव है, वैसे यह सारा जगत् मिथ्या है, केवल एक

---

१. द०दि० १४.३३-४१.

२. द०दि० १४.४५-४७.

३. तीर्थावतारादिपुराणलीला-लतां सुदम्भद्रुममाश्रितां ताम्।
कठोरतर्काख्यकुठारपातै र्वाग्मिप्रवीरः प्रलयं निनाय।। द०दि० १४.४९

ब्रह्म ही सत्य है।''

स्वामी जी ने कहा—मनुष्य के हृदय में विद्यमान सर्पज्ञान सत्य है, अन्धकार में रस्सी को देखकर उसमें सर्प का भ्रम हो जाता है, दीपक के प्रकाश में इस रस्सी में रहा हुआ सर्प का भय नष्ट हो जाता है, वैसे ही ज्ञान होने पर जगत् का मिथ्यापन भी दूर हो जायँ।[१]

स्वा०— ''हे विद्वान्! सच्चे सर्प से उपमान दिया गया हुआ, जगत् असत्य कैसे हो जावेगा? कहो, जगत् के असत्य होने पर भला रज्जु की सत्ता कहाँ से मानोगे?''[२]

स्वा०—''सर्प सत्य है रज्जु भी विद्यमान है। तभी अन्धेरे में मनुष्य का हृदय में भ्रम पैदा होता है। बिना सर्प के भ्रम कहाँ से हो?''[३]

स्वा०—''दिवाल हो तभी चित्र बन सकेगा। निराधार में वह चित्र कहाँ से बनेगा? जब जगत् की सत्ता ही न हो, तब किसका आश्रय करके भ्रम हुआ?''

इसलिए संसार में ब्रह्म सत्य, जगत् सत्य और जीव भी सत्य है। यदि ज्ञान से देखा जाय तो आत्मवत् सर्वसत्य है।[४]

उनका फिर आगे शास्त्रार्थ हुआ, जो प्रश्नोत्तर रूप में इस प्रकार है— ''स्वामी जी— हे विद्वत्मणे? ब्रह्म में यह जगत् का भान किसको हुआ? कृष्णानन्द— जीव को।

स्वा०—वह अज्ञान किसमें और क्यों?

कृ०— ब्रह्म मेंअज्ञान रहता है और वह अनादि है।

स्वा०—ब्रह्म का क्या स्वरूप?

कृ०— वह नित्य ज्ञान स्वरूप है।

स्वा०— फिर ईश्वर में अज्ञान कहाँ से?

---

१. सर्पज्ञानं मनुजहृदये विद्यमानं हि सत्यं,
रज्वां भ्रान्ति तमसि जनयेत्सर्पसारूप्य बुद्धेः।
दीपालोके फणिधर भयं यद्वदस्यां विनश्येत्।
तद्वज्ज्ञाने सति स जगतोऽसत्यभावोऽप्यपेयात्।। द०दि० १४.६४

२. भुजङ्गमेनोपमितं जगत्तत् सत्येन मिथ्या वद् कीदृशं स्यात्?
जगत्यसत्ये ननु रज्जुसत्तां कुतः प्रमाणी कुरुषे मनीषिन्।। द०दि० १४.६५

३. सत्ये विषधरे रज्वां सत्यायां तमसो वशात्
भ्रमोत्पत्तिर्जनस्वान्तै विना नागं कुतो नु सा।। द०दि० १४.६६

४. द०दि० १४.६०-६८

कृ०— माया से।

स्वा० — वह माया क्या चीज है?

कृ०— वह भासमान होती हुई भी अरूप है।

स्वा०— अरूप होती हुई कैसे भासती है?............"

इत्यादि प्रमाण और तर्कों से दयानन्द ने तीन दिन तक कृष्णानन्द के असत्य पक्ष को जनता के समक्ष खण्डित कर दिया।[१]

स्वामी जी जनता में फैले मिथ्याज्ञान को दूर करने में लगे रहते थे। एक बार— 'श्री कृष्ण' नामक पण्डे ने पूछा महाराज! श्रीराम और श्रीकृष्ण अवतार नहीं थे? स्वा०— नहीं, वे केवल प्रतापी राजे थे। परमेश्वर जन्म धारण नहीं करता। कृष्णचन्द्र योगी थे। गोपियों के संग की गयी रासलीला उनके चरित्र को कलंकित करती है। अतः वह मिथ्या ही है।

स्वा०— वह गंगा स्वच्छ जल से केवल बाह्य शरीर को ही अति पवित्र बनाती है और इसका पानी अमृत तुल्य है, जिसके पान करने से तीरवासी जनों को आरोग्य बढ़ता है।

एक सज्जन ने समीप आकर कहा— स्वामी जी दण्डवत्, स्वामी ने कहा— दण्डवत् तुम्हीं होओ। सज्ज०— क्या गंगा मोक्षदायिनी नहीं है? स्वा०— यह तो केवल उत्तम जल वाली नदी है।[२]

इसके पश्चात् एक अन्य दम्भी मूर्तिपूजक 'हीराबल्लभ' नामक पण्डित से स्वामी जी का शास्त्रार्थ हुआ जो छः दिन तक लगभग दो हजार जनों के बीच चला। जिसमें 'हीराबल्लभ' को हार माननी पड़ी। शास्त्रार्थ इस प्रकार है—

स्वा०— हे विद्वान्— ये किनकी आकृतियाँ हैं?

हीराबल्लभ-मुनिवर्य! ये देवों की मूर्तियाँ हैं।

स्वा०— ये कौन से देव?

हीरा०— ये ब्रह्मा, विष्णु, महेश। सृष्टि के कर्ता, धर्ता, और संहर्ता।

स्वा० क्या इन मूर्तियों में देवता का लक्षण घटता है? यास्काचार्य सम्मत देवपद का निर्वचन कीजिये।

---

१. द०दि० १४.८५-८८

२. द०दि० १४.११३-११६.

हीरा०—'देवो दानाद्वा, द्वीपनाद्वा, द्योतनाद्वा द्युस्थाने भवतीति वा।।'

स्वा०— हे जड़ पूजक। इन प्रतिमाओं में यह लक्षण घटता है क्या?

हे विद्वन्! आपकी देवमूर्तियों में न दानशीलता, न दीपनता, न प्रकाशत्व और नहीं द्युस्थानाश्रयत्व प्रतीत होता है, तो इनकी अर्चना से क्या लाभ?

जड़पूजा का केवल जड़ता ही फल है और विद्वद्पूजा का विद्वत्तारूप उत्तम फल है। आप ही यथार्थ रूप से सोचिये कि आपने यह बुधेन्द्रता कहाँ से प्राप्त की?

हे मतिमन्! आप यदि आनन्द स्वरूप परमेश्वर को प्राप्त करने के लिए मूर्तिपूजा करते हैं तो यह वृथा है। यदि आप सांसारिक दुःख चक्र से छुटकारा चाहते हैं तो सनातन वेदमत को ही मानिये''

परमेश्वर प्राप्ति और मुक्ति के लिए वेद मन्त्र का यह प्रमाण है— ''वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्०'' इत्यादि। इसका भाव यह है, कि अज्ञान अन्धकार से रहित सूर्यसम प्रकाशक उस महान् पुरुष परमात्मा को यथार्थ रूप से जानकर ही उपासक योगी मृत्यु से तर जाता है और प्रभु को प्राप्त करता है। परमात्मा ज्ञान के सिवाय मुक्ति का दूसरा मार्ग नहीं है।

''ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः'' ज्ञान के सिवाय मनुष्य की मुक्ति नहीं है। सारे शास्त्र निश्चय से यही प्रतिपादन करते हैं। बिना कर्म के ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, अतः यथार्थ ज्ञान उपार्जनं करना चाहिए।

मनुष्य को 'जीवात्मा' 'परमात्मा' तथा 'प्रकृति' इन तीनों का भिन्न स्वरूप तत्त्वरूप से जानना चाहिए। यथार्थ बोध होने पर ही सत्यभक्ति अर्थात् श्रद्धा उत्पन्न होती है; क्योंकि सच्ची भक्ति से ही ईश्वर की उपासना सरलता से हो सकती है।

अनन्तर जीवात्मा अष्टांगयोगानुष्ठान से चित्त को विषय, विमुख एवं एकाग्र बनाकर परब्रह्म से साक्षात्कार को पाकर उत्तम आनन्द का उपभोग करता है।

वेदों और शास्त्रों में भी विष्णु भगवान् की मूर्तिमत्ता का जरा भी वर्णन नहीं मिलता। फिर प्रभु की मूर्ति न बन सकने के कारण कपोलकल्पित मूर्तिपूजा बन्ध्या पुत्र के विवाह के समान मिथ्या है।[१]

स्वामी दयानन्द जीवनभर पाखण्डियों से टक्कर लेते रहे। एक वृन्दावनीय 'रंगाचारी' का प्रसिद्ध शिष्य राव कर्ण सिंह ठाकुर के पण्डित और कुछ संन्यासी भी आया करते

---

१. द०दि० १४.१२.१३८.

थे। उस 'कर्णसिंह' के नौकर महर्षि को निमन्त्रण देने आये। महर्षि— मैं ऐसे निन्द्यतर कर्म में सम्मिलित नहीं होता। तुम अपने पूज्य-पुण्यपुरुषों के वेष धारण कर उनको रंग भूमि में नचाते हो। यह अतिगर्हणीय एवं लज्ञास्पद बात है। स्मृतियों ने इसका विरोध किया है, सत्पुरुषों को तो कदापि इसे नहीं देखना चाहिये। इस प्रकार लोकमान्य ऋषि ने उन मनुष्यों को कहकर विदा किया।[१]

आगे स्वामी जी से उनका कटु वार्तालाप हुआ। स्वामी जी निडर होकर उनके प्रश्नों का उत्तर देते रहे। कण्ठी, तिलक की निन्दा सुनकर 'कर्णसिंह' आपे से बाहर हो गया, और स्वामी जी पर प्रहार करने का प्रयास किया, स्वामीजी ने उसकी तलवार छीनकर, भूमि के सहारे टिकाकर दो टुकड़े करके उसे भयभीत कर विदा कर दिया।[२]

एक दिन फिर धोखे से 'कर्ण सिंह' के नौकरों ने स्वामी जी को मारना चाहा, स्वामी जी ने भयंकर हुंकार के साथ इतने जोर से सिंहनाद किया कि कर्णसिंह के नौकर मूर्छा खाकर गिर पड़े, स्वामी जी के फटकारने पर वे वहाँ से भाग खड़े हुए।[३]

स्वामी जी ने 'कानपुर' में मिथ्या और यथार्थ ज्ञान के स्वरूप को आठ गप्प और आठ सत्य के रूप में इस प्रकार बतलाया—

आठ गप्प

१. सब मनुष्यकृत ग्रन्थ ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण।

२. देवता बुद्धि से पाषाणादि पूजा,

३. शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य आदि सम्प्रदाय

४. तन्त्रग्रन्थोक्त वाममार्ग

५. भांग आदि मादक द्रव्यों का सेवन,

६. परस्त्रीगमन

७. चोरी

८.छल, कपट, अभिमान और मिथ्या भाषण त्याज्य हैं।

आठ सत्य

१. ऋग्वेदादि ईश्वरकृत चार वेद और ऋषि कृत अन्य सतरह (१७) ग्रन्थ

---

१. द०दि० १५.६८-७१.
२. द०दि० १५.७२-९१
३. द०दि० १५.११०-११३

२. ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर गुरु की सेवा और स्वधर्मानुष्ठान पूर्वक वेदों का अध्ययन।

३. वेदोक्त वर्णाश्रम में स्वधर्म, अनुकूल सन्ध्या वंदनादि, अग्निहोत्रादि करना।

४. पंचमहायज्ञों का अनुष्ठान।

५. ऋतु काल में अपनी स्त्री से सहवास, श्रुति, स्मृति, सदाचार के अनुकूल आचरण। शम, दम, तपश्चरण, यमादि से लेकर समाधि तक उपासना, सत्संगपूर्वक वानप्रस्थाश्रम का अनुष्ठान।

६. विचार, विवेक,वैराग्य और पराविद्या का अभ्यास व संन्यास ग्रहण करके सब कर्मों के फल की इच्छा त्याग।

७. ज्ञान विज्ञान से सब प्रकार के अनर्थ मरण, जन्म, हर्ष, शोक, काम, क्रोध, लोभ, मोह, संगदोष के त्यागने का अनुष्ठान।

८. अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, तमस्, रजस्, सत्त्व सब क्लेशों की निवृत्ति, पंचमहाभूतों से अतीव होकर 'मोक्ष' के स्वरूप और 'स्वराज्य' की प्राप्ति।[१]

स्वामी दयानन्द ने जीवन का यथार्थ देखा था कि एक दिन गंगा तट पर बैठे हुए प्रकृति का सौन्दर्य निहार रहे थे, उसी समय एक स्त्री मरे हुए बच्चे को लेकर 'गंगा' में प्रविष्ट हुई और उसने बच्चे के निर्जीव कलेवर को 'हाय-हाय' के आर्तनाद के साथ गंगा में बहाकर उसके शरीर पर लपेटा हुआ कपड़ा उतारकर उसे धोकर घर ले गयी। वह करुण दृश्य देखकर दयानन्द दुःख सागर में डूब गये और सोचने लगे, अरे! माता अपने कलेजे के टुकड़े को नदी में बहा चली है, परन्तु उसने वस्त्र इसलिए नहीं बहाया कि शरीर ढँकने के लिए उसका मिलना कठिन है, इससे बढ़कर संसार में दरिद्रता का दृष्टान्त मिलना दुर्लभ है। इसलिए महाराज ने प्रण किया कि कुछ काल तक इन्हीं लोगों की भाषा में प्रचार करके इनके दुःख दूर करने के साधन उपस्थित करूँगा।[२]

स्वामी जी सत्याचारण पर बड़ा ध्यान देते थे। मृतक श्राद्ध की कुरीति से हटाते हुए उन्होंने कहा— सदा अपने जीवित माता-पिता का श्राद्ध (श्रद्धा पूर्वक सेवा) पुत्रों को करनी चाहिए, मरे हुओं की नहीं।[३]

'कलकत्ता' में 'केशव चन्द्र सेन' से स्वामी जी का वार्तालाप हुआ। केशव चन्द्र सेन ने पूछा— इस समय हमारे सामने 'बाईबिल', 'कुरान' और'वेद' इन पुस्तकों के

---

१. द०दि० १७.५८

२. द०दि० १९.६९.७३.

३. द०दि० २०-२३.

आधार पर तीन बड़े धर्म हैं। सभी अपने को सच्चा कहते हैं। हमें कैसे विदित हो कि इनमें से वास्तव में कौन सा सच्चा है? स्वामी जी ने अनेक तर्कों से 'वेदों' की सत्यता एवं स्वाग्रगण्यता सिद्ध कर दिखायी।[१] इस प्रकार स्वामी जी ने धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझा दिया।

'पण्डित कृष्णराम' व 'इच्छाराम' अद्वैतवादी स्वामी जी से पास आये। स्वामी जी ने इनके हाथ से 'वेदान्त ध्वान्त निवारण' नामक निबन्ध लिखवाया। तार्किक सम्राट् के प्रमाण एवं तर्क किरणों से इनके हृदयाकाश का 'अद्वैतान्धकार' नष्ट हो गया। स्वामी ने 'बल्लभाचार्य' एवं 'स्वामी नारायण' के मतों के खण्डन के विषय में पुस्तकें बनाकर प्रकाशित करायी।[२]

सूरत शहर में राजा जगजीवन के सभापतित्व में स्वामी जी ने वेदविरुद्ध 'बल्लभमत', 'स्वामी नारायण पंथ' एवं 'रामानुज मत' का खण्डन किया। बडौदा में ही उन्होंने 'बौद्ध', 'जैन', 'पौराणिक' और 'तांत्रिक' मतों का भी खण्डन किया।[३]

भडौच में 'अद्वैतानन्द' की बहुत सी चेलियाँ थी। वे तथा अन्य ब्राह्मण स्त्रियाँ मुनीन्द्र के कथामृतपान की इच्छा से धर्मशाला में आयीं। गुरुदेव ने उन्हें पर्दे में बिठलाकर उनके कर्त्तव्य का उपदेश दिया —''आर्य देवियों को मन्दिरों, में मठों आदि स्थानों में आना जाना और साधु संन्यासियों के दर्शनों के लिए इधर-उधर घूमना उचित नहीं है। उनका पति ही गुरु और देव है। सदा, मन, वचन, कर्म से स्त्रियों को पति ही की सेवा करनी चाहिए।"[४]

स्त्री-शिक्षा' के लिए भी उन्होंने लोगों को प्रेरित किया। उनका कहना था कि— ''पिताओं को योग्य है, कि पुत्रियों को पुत्रों के समान गुरुकुल में भेजकर उत्तम शिक्षण दें, तभी भारत में 'सीता' तथा 'सुलभा' समान पतिव्रता एवं ब्रह्मवादिनी आर्य सुन्दरियाँ उत्पन्न होंगी।''[५]

स्वामी जी यथार्थ के चिन्तक थे। पादरियों और मौलवियों से मुक्ति के यथार्थ स्वरूप को बतलाते हुए उन्होंने कहा— ''यह जीवात्मा जन्ममरण की विपत्ति के महान्

---

१. द०दि० २०.४०.
२. द०दि० २१.३९-४०.
३. द०दि० २१.४९-६४.
४. द०दि० २१.७०-७१.
५. द०दि० २१.७४.

चक्र में से छूटकर, प्रभुवर को प्राप्त करके आनन्द सागर, ज्ञान स्वरूप, परमात्मा में जिससे लीन हो जाता है, उसको ही निश्चय से 'मुक्ति' कहते हैं।''

'मुक्ति' का पहला साधन सत्याचरण है। 'सर्वान्तर्यामी ईश्वर को साक्षी रखकर मुमुक्षु जन जिस कार्य में भय, शंका और लज्जा, प्रतीत हो ऐसा कर्म न करके आनन्द, उत्साह और निर्भयता को देने वाला, कल्याणकारी पुण्याचरण करें।'[१]

स्वामी जी 'डार्बिन' के 'विकासवाद' को उचित नहीं मानते थे। 'रुड़की' में उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों के प्रमाण देकर, 'डार्विन' के 'विकासवाद' का खण्डन किया।[२]

कभी कभी स्वामी जी शास्त्रार्थ में प्रतिपक्षी के मुख को इतनी सरलता से बन्द कर देते थे कि लोगों को आश्चर्य हुआ करता था। एक बार 'मोटूसिंह' नामक एक वेदान्ती स्वामी जी के पास आया, वह अपने को 'ब्रह्म' मानता था। ऋषि ने उससे कहा कि यदि तू वास्तव में 'ब्रह्म' है, तो इस मरी हुई मक्खी में प्राण तो डाल दे? तब तो 'मोटू सिंह' चकराए, बुद्धू बने हुए गए, मुँह से एक शब्द भी न निकला।[३]

स्वामी जी का समाज सुधार का सबसे बड़ा कार्य आर्य-समाज की स्थापना का था। उन्होंने अनेकों स्थानों पर आर्य समाजों की स्थापना करके इस कार्य को सम्पन्न किया।

स्वामी जी के यथार्थ दर्शन का स्वरूप मेधाव्रत के अन्य ग्रन्थों में भी व्यक्त हुआ है। 'ब्रह्मचर्य' 'महत्त्वम् ग्रन्थ' में कवि ने ब्रह्मचर्य द्वारा बुद्धि में ज्ञान के उदय का वर्णन किया है— यथा मन और हृदय के स्थिर होने पर बुद्धि में ज्ञान का संचय और ज्ञान वृद्धि होने पर वाणी में प्रभावोत्पादक अद्भुत चातुर्य का प्रादुर्भाव होता है।[४]

कवि ने 'दयानन्द लहरी' नामक ग्रन्थ में जीवन के लक्ष्य और प्रथम पुरुषार्थ धर्म के महत्त्व को समझाते हुए आचार-मीमांसा गत यथार्थ को इन शब्दों में व्यक्य किया है— ''प्रत्येक प्राणी को जीवन के लक्ष्य को समझने के लिए अपने द्वारा इन दश लक्षणों (धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध) का पालन करना चाहिए क्योंकि इनका पालन 'धर्म' और इनके विपरीत आचरण 'अधर्म' कहलाता है। पुरुषार्थ चतुष्टय का पहला मन्तव्य धर्म की वास्तविकता को

१. द०दि० २३.५०-५१.
२. द०दि० २४.४७.
३. द०दि० २४.५३
४. ब्रह्मचर्यमहत्त्वम्, श्लोक ११६.

परिलक्षित करना है, क्योंकि इस प्रकार ज्ञान से प्रदीप्त धर्म-मार्ग का बोध कराते हुए वेदपथ के अनुगामी परिव्राजक 'महर्षि दयानन्द जी' उत्कर्ष का लाभ कर रहे हैं।"[१] तथा धर्मानुरागी वेद भक्तों को मार्ग से विरतन करके मोक्षाकांक्षी स्वामी भूलोक में सुख का संचार करें।[२]

निष्कर्ष- उक्त अध्याय में 'दयानन्द दर्शन और यथार्थ जीवन की उपादेयता के विषय में महर्षि दयानन्द के चिन्तन को उनके जीवन के प्रमुख अंग 'ज्ञान मीमांसा'', 'तत्त्व मीमांसा' और 'आचार-मीमांसा' के रूप में प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार इस विस्तृत विवेचन से स्पष्ट हो जाता है, कि जहाँ स्वामी जी की दृष्टि जीवन के यथार्थ धरातल पर आकर टिकती है और जहाँ वे विविध मत-मतान्तरों के मिथ्याज्ञान का बलपूर्वक खण्डन करते हैं, वहीं वे साथ-साथ वेदमूलक 'आचार-मीमांसा' का मण्डन भी करते हैं। उससे उनकी जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टि का पता चलता है। सर्वत्र उनका दृष्टिकोण मिथ्या भ्रमों को तोड़कर सत्याचरण पर स्थिर हो जाता है। यही उनके यथार्थवाद की मौलिक देन है। इसमें समाज-सुधार एवं जन कल्याण के व्यापक उद्देश्य निहित हैं। मानव जाति के लिए यही उनकी सबसे बड़ी देन है। आचार्य मेधाव्रत के ग्रन्थों में दयानन्द की इस दार्शनिक दृष्टि का पदे-पदे प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है।

---

१. अविद्या कूपान्तर्निपतित जनान् पंकजटिलान्
श्रुतीनां निश्रेणिप्रतिमवचसां श्रेणि भिरलम्।
समुद्धृत्य ज्ञानोज्ज्वलसुकृत मार्गं प्रतिदिशन्,
दयानन्दः स्वामी निगमपथगामी विजयताम्।। दयानन्द लहरी—श्लोक ९.

२. द०ल०—श्लोक ३२.

सप्तम अध्याय

उपसंहार

आचार्य मेधाव्रत की साहित्यिक रचनाओं में प्रतिबिम्बित दयानन्द शीर्षक शोधकार्य को विस्तृत आयाम देते हुए दो भागों में उक्त अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्रथम भाग में 'विषय-प्रवेश' के अन्तर्गत 'दयानन्द दर्शन' की अवधारणा को 'वेद', 'उपनिषद्', 'भारतीय दर्शनों', 'स्वामी दयानन्द के वेदभाष्यों', उनकी समस्त रचनाओं, व्याख्यानों एवं शास्त्रार्थों के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। 'विषय-प्रवेश' के अन्तर्गत ही आचार्य मेधाव्रत की रचनाओं– 'शतक', 'नाटक', 'उपन्यास', 'चरित-काव्यों' एवं 'महाकाव्यों' आदि का परिचय देते हुए उनमें उपलब्ध शोध-विषयक सामग्री का भी निर्देश किया गया है। द्वितीय भाग में मुख्य अध्ययन को पाँच अध्यायों में विभक्त करके प्रस्तुत किया है। ये पाँच अध्याय हैं–'ज्ञान-मीमांसा', 'प्रकृति', 'जीवात्मा', 'ईश्वर' एवं 'दयानन्द-दर्शन और यथार्थ जीवन'।

स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के अध्ययन के पश्चात् यह तथ्य निकलकर आता है, कि स्वामी जी ने वैदिक अध्यात्मवाद की परम्परा को पुनर्जीवित किया है। 'शंकराचार्य' के 'वेदान्त-दर्शन' एवं उसके अवान्तर सम्प्रदायों में जो कोरा ज्ञान-काण्डीय भटकाव है उससे बचाकर स्वामी दयानन्द ने आज के मानव समूह को पुनः व्यावहारिक रूप में वैदिक अध्यात्मवाद की मूल परम्परा से जोड़ दिया है। उनके द्वारा रचित 'सत्यार्थ-प्रकाश' और 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' आदि ग्रन्थों में उनकी विचारधारा इतनी यथार्थ और सुस्पष्ट है, कि सामान्य व्यक्ति भी उनके मन्तव्यों से जीवन में लाभ उठा सकता है, अधिक पढ़े-लिखे पुरुषों के लिए तो उनके ग्रन्थ नित्य प्रज्वलित ज्योति के समान सदा प्रकाश देने वाले हैं। स्वामी जी ने भौतिकवाद से अध्यात्मवाद की ओर का समन्वयात्मक मार्ग चुना है। वे पुरुषार्थ के साथ 'सत्य' और 'धर्म' के मार्ग पर चल कर भौतिक उन्नति के साथ-साथ सामाजिक और आत्मिक उन्नति करते हुए योगाभ्यास के द्वारा परमात्मा को पाकर जीवन के चरम लक्ष्य 'मोक्ष' का मार्ग प्रशस्त करते हैं। यही उनका दर्शन अन्यों से भिन्न है, जो यथार्थ पर आधारित है।

दयानन्द ने संसार को सुखदुःखमय मानते हुए शुभ कार्यों की ओर जनसमूह को

प्रेरित किया। उन्होंने तर्कपूर्वक यह सिद्ध किया है, कि 'जीवात्मा' कर्म करने में स्वतन्त्र किन्तु उसका फल भोगने में पराधीन व ईश्वर के आश्रित है। अतः पुरुषार्थपूर्वक शुभ कार्य करते हुए जीवन का अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' सुख की प्राप्ति की ओर मोड़ना चाहिए। 'ज्ञान-मीमांसा' और 'तत्त्व मीमांसा' की अपेक्षा जहाँ अन्य दार्शनिक 'आचार-मीमांसा' पर आकर लड़खड़ा जाते हैं और सन्मार्ग को त्याग देते हैं वहाँ स्वामी जी ने 'सत्याचरण' और धर्म पर सबसे अधिक बल दिया। उनकी दृष्टि बड़ी व्यापक और सूक्ष्म है। उन्होंने 'वर्णाश्रम व्यवस्था', 'राजधर्म', 'शिक्षा-पद्धति', 'विवाह', 'खानपान,', 'व्यवहार', 'अस्पृश्यता' 'नारी की दुर्दशा', 'अशिक्षा', 'देश की स्वाधीनता', 'देश-प्रेम व स्वराज्य' और 'भाषा की एकता' आदि पर भी गहनता से वेदानुकूल मन्तव्य व्यक्त करके इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया है। आचार्य मेधाव्रत यथावसर इन सब विषयों का अपने ग्रन्थों में तदनुकूल प्रतिपादन करते हैं।

स्वामी दयानन्द, 'ज्ञान', 'विज्ञान', 'कर्म' और 'उपासना' का समन्वय प्रस्तुत करके मानव का चरम लक्ष्य मोक्ष की सिद्धि मानते हैं। वे 'ज्ञान-मीमांसा' और 'तत्त्व-मीमांसा' के साथ 'आचार-मीमांसा' को भी समान रूप से समन्वित करते हुए जीवन के लिए उपयुक्त समझते हैं। अन्य भारतीय दर्शानिक या तो 'ज्ञान-मीमांसा' में उलझकर रह जाते हैं या 'तत्त्व-मीमांसा' में। 'आचार-मीमांसा' पर तो सभी दर्शनों में बहुत अधिक भटकाव है। यहाँ 'आदर्श व व्यवहार' में बहुत दूरी बढ़ जाती है। 'स्वामी-दयानन्द', 'आदर्श' और 'व्यवहार' का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करते हैं। यही उनके दर्शन की सबसे बड़ी मौलिक देन है। आचार्य मेधाव्रत के काव्यों में उनकी यही दार्शनिक विचारधारा अपने समग्र रूप से परिलक्षित होती है।

'दयानन्द-दर्शन' के अनुसार समग्र विश्व में तीन तत्त्व अनादि हैं—'परमात्मा', 'जीवात्मा' और 'प्रकृति'। 'परमात्मा' सृष्टि का निमित्त कारण है। वह सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कर्ता है। वह सच्चिदानन्दस्वरूप, अनन्त निर्विकार, निष्काम, निराकार, अन्तर्यामी सर्वज्ञ, सर्वेश्वर और निर्गुण है। जीवात्मा 'सत्य' और 'चेतन' तो है, किन्तु पूर्ण आनन्द रूप नहीं। इस आनन्द की प्राप्ति के लिए कर्म और संस्कारवश वह पुनः पुनः 'बन्धन', 'मृत्यु' और मोक्ष के चक्र में पड़ता रहता है। सृष्टि-चक्र में परमात्मा के निमित्त से 'साधारण कारण' के रूप में यह वह कार्य करता रहता है। तीसरा तत्त्व, 'प्रकृति' है। 'प्रकृति' जड़, सत्त्व, रजस् और तमस्-त्रिगुणरूपमयी तथा सृष्टि की रचना में उपादान कारण है। वह अणु-परमाणु, द्वयणुक और त्रसरेणु आदि

रूप में 'परिणामी' और 'परिवर्तनशील' है। इस प्रकार स्वामी दयानन्द की विचारधारा इस 'त्रैतवाद' की सुदृढ़ भित्ति पर आधारित है, जिसका मूलाधार वेद संहिताएँ हैं।

जगत्-रचना के रहस्य को 'कार्य-कारणवाद्' के द्वारा अष्टप्रमाणों सहित विभिन्न दार्शनिक मन्तव्यों की समीक्षा करते हुए स्वामी जी ने प्रस्तुत किया है। स्वामी जी की दृष्टि लौकिक और पारलौकिक दोनों विषयों से सम्बद्ध अतिगूढ़ रहस्यों– 'जन्म', 'बन्धन', 'संस्कार', 'कर्म' 'मृत्यु', 'परलोक', 'ऋत', 'सत्य', 'पुरुषार्थ', 'नैतिकता', 'भाग' और 'संयम' पर भी जाती है।

स्वामी जी ने कोई नया 'पन्थ' और अथवा 'सम्प्रदाय' नहीं चलाया। समस्त मानव जाति के लिए उनकी दृष्टि बड़ी व्यापक है और उदार है। मानव-जीवन के सत्य का उद्घाटन करने के लिए उन्होंने 'सत्यार्थ-प्रकाश' लिखा। उन्होंने अपनी दार्शनिक विचारधारा को जीवन से जोड़ते हुए, 'प्रमाण' से लेकर 'प्रकृति', 'जीवात्मा', 'परमात्मा', 'मोक्ष', 'चरित्र' एवं 'नीति' के विविध पक्षों पर समन्वयात्मक रूप से यथार्थ प्रकाश डाला है। 'व्यक्तिगत' व 'सामाजिक' उन्नति के साथ-साथ वे 'राष्ट्रों' और समग्र 'मानव-जाति' की उन्नति चाहते हैं। जनसमूहों के मध्य खुले रूप में शास्त्रार्थ करके उन्होंने समाज-सुधार का जो कार्य किया और 'सत्य' और धर्म को जीवन का लक्ष्य बनाकर जो आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं योग-साधना का मार्ग प्रशस्त किया है वह उनके निजी दर्शन और मौलिक चिन्तन को प्रस्तुत करता है। उनका दर्शन तो 'यथार्थ' जीवन का दर्शन है, जिसमें जीवन की समस्याओं का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए उनका 'व्यावहारिक' और 'आदर्श' समाधान खोजने का प्रयास किया गया है।

'ज्ञान-मीमांसा' में उन्होंने अपने ग्रन्थों में 'ज्ञान के स्वरूप' 'ज्ञाता', 'ज्ञेय' 'ज्ञान-प्रक्रिया', और साधन के रूप में अष्टप्रमाणों, मिथ्याज्ञान और यथार्थज्ञान का सम्यक् विवेचन किया है। 'प्रकृति' तत्त्व पर विवेचन करते हुए उन्होंने उससे निःसृत जगत् के स्वरूप को 'मिथ्या' और 'क्षणभंगुर' नहीं माना है। उनकी दृष्टि में मूल परमाणु आदि द्रव्य तो 'अनादि' हैं किन्तु जगत् 'नित्य' नहीं। 'प्रकृति' को 'उपादान कारण' मानते हुए उन्होंने परमाणुओं के क्रम से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय को माना है। 'जीवात्मा' के स्वरूप पर विचार करते हुए उन्होंने माना कि जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र किन्तु कर्मफल भोगने में परतन्त्र और ईश्वर के आश्रित है। वे 'पुनर्जन्म', 'बन्ध' और मोक्ष को वेदानुकूल मानते हैं। 'बन्धन' के पश्चात् 'मोक्ष' और 'मोक्ष' के पश्चात् 'बन्धन' को भी वे स्वीकारते हैं। वे 'जीवात्मा' का सम्बन्ध 'ईश्वर' और

'प्रकृति' से भी जोड़ते हैं। 'नवीन वेदान्तियों' के समान 'जीवात्मा' और 'प्रकृति' 'ब्रह्म' की अंश नहीं है।

'ईश्वर' के स्वरूप को वेदों के प्रमाणों से पुष्ट करते हुए वे 'ईश्वर', 'ब्रह्म' और 'परमात्मा' को एक ही मानते हैं। 'कार्य-कारण' की परम्परा द्वारा व तर्कसंगत रूप से ईश्वर की सिद्धि में प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं और उसके साथ ही सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कर्ता ईश्वर को ही मानते हुए 'जीवात्मा' को लौकिक और 'मोक्ष' के सुख का भागी भी मानते हैं।

दयानन्द का दर्शन मानव जीवन के 'यथार्थ' धरातल पर आधारित है। 'जीवन' और 'जगत्' के प्रति उनका दृष्टिकोण 'व्यावहारिक' है। 'भौतिक' और 'अध्यात्म' का वे सुखद समन्वय प्रस्तुत करते हैं। उनके जीवन का चरम लक्ष्य 'व्यक्तिक', 'सामाजिक', 'राष्ट्रीय' और 'मानव जाति' के भौतिक और आत्मिक-उन्नति के साथ-साथ परम पद 'मोक्ष' की प्राप्ति भी है। 'पुरुषार्थ चतुष्टय' को वे आवश्यक मानते हैं। भोगों से विरति, व्यायाम,तपस्या, संयम और सत्याचरण पर वे बल देते हैं। उनके अनुसार जगत् सुख और दुःखमय है। 'सत्याचरण' के द्वारा वे सुख का मार्ग प्रशस्त करते हैं। वे 'ज्ञान', 'विज्ञान', 'कर्म' और 'उपासना' का एक साथ उचित समन्वय करते हैं। इस प्रकार उनकी विचारधारा जीवन के ठोस पदार्थ पर आधारित है। निश्चय ही उनका दर्शन वेदसम्मत और अन्य दार्शनिकों की अपेक्षा सर्वथा मौलिक है।

आचार्य मेधाव्रत की रचनाओं 'देशाभ्युदयकाव्यम्', 'ब्रह्मचर्यशतकम्', 'गुरुकुलशतकम्', 'प्रकृतिसौन्दर्यम्', 'पद्यतरङ्गिणी', 'कुमुदिनीचन्द्रः', 'रुक्मिणीहरणम्', 'दयानन्दलहरी', 'सत्यार्थप्रकाशमहिमा', 'दिव्यसंगीतामृतम्', 'गिरिराजगौरव', 'दयानन्द-दिग्विजयम्' (पूर्वार्द्ध, उत्तरार्द्ध) 'ईशोपनिषत्काव्यम्' 'ब्रह्मचर्यमहत्त्वम्', 'नारायणस्वामिचरितम्', 'विरजानन्दचरितम्', 'दिव्यानन्दलहरी', 'ज्ञानेन्द्रचरितम्', 'व्रतीन्द्रनित्यानन्दशतकम्', 'शुद्धिगंङ्गावतारः', 'छन्दसूत्रवृत्तिः', 'काव्यलंकारसूत्र-वृत्ति', 'चारुचरितामृतम्', (प्रथमभागः-द्वितीयभागः), 'वैदिकराष्ट्रकाव्यम्' एवं साहित्य-सुधा (प्रथमभागः, द्वितीयभागः) में काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों को छोड़कर शेष पर स्वामी दयानन्द की विचारधारा का प्रभाव आंका गया है।

उनकी अनुपलब्ध रचनाओं— 'सुखानन्दलहरी', 'देशाभ्युदयकाव्यम्', 'ज्ञानेन्द्रचरितम्', 'व्रतीन्द्रनित्यानन्दशतकम्', 'शुद्धिगंङ्गावतारः', 'छन्दसूत्रवृत्ति' और 'वैदिकराष्ट्रकाव्यम्' के उपलब्ध न होने से इनका विवेचन सम्भव नहीं हो सका है,

किन्तु यह आशा अवश्य की जा सकती है, कि उपलब्ध ग्रन्थों की सी विचारधारा ही इनमें पल्लवित हुई होगी।

इस प्रकार **प्रथम अध्याय** के अन्तर्गत 'दयानन्द-दर्शन की अवधारणा' और आचार्य मेधाव्रत की रचनाओं में एतत् विषयक शोध-सामग्री का विवेचन प्रस्तुत किया गया।

विषय-प्रवर्तन के पश्चात् मुख्य अध्ययन प्रस्तुत करते हुए **द्वितीय अध्याय** में स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित 'ज्ञान-मीमांसा' का मेधाव्रत की रचनाओं में प्रतिबिम्बित प्रभाव का अंकन करने का प्रयास किया गया। प्रथम विविध भारतीय दर्शनों में 'ज्ञान-मीमांसा' के अन्तर्गत आने वाले विषयों— 'ज्ञान का स्वरूप,' 'ज्ञाता', 'ज्ञेय', 'ज्ञान-प्रक्रिया' और 'ज्ञान के साधन' के रूप में अष्ट प्रमाणों का संक्षिप्त किन्तु विशद विवेचन किया गया है। इसके साथ ही 'मिथ्याज्ञान' और 'यथार्थज्ञान' के स्वरूप को भी स्पष्ट किया गया है, जिससे उक्त अध्ययन के अपेक्षित ठोस निष्कर्ष निकाले जा सकें। तत्पश्चात् इस सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द की विचारधारा का विवेचन प्रस्तुत करते हुए कवि मेधाव्रत की रचनाओं में उपलब्ध 'ज्ञान-मीमांसा' विषयक विचारों की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। समीक्षा करने पर पाया गया कि आचार्य मेधाव्रत ने स्वामी दयानन्द के समान 'चार्वाक्', 'बौद्ध', 'जैन', और 'नवीन वेदान्त' के विविध मतमतान्तरों का क्रमानुसार खण्डन एवं 'दयानन्द-दर्शन' का मण्डन करने का प्रयास किया है। मेधाव्रत के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा 'दयानन्द दिग्विजय' महाकाव्य में 'ज्ञान-मीमांसा' विषयक विचार अधिक पुष्ट पाये गये हैं। मेधाव्रत की सम्पूर्ण रचनाओं का पारायण करने पर यह पाया गया कि कवि ने 'दयानन्द-दर्शन' के 'यथार्थ' मार्ग का ही प्रधानतः अनुसरण किया है। कवि की विशेषता यह है, कि अन्य नवीन विषय प्रस्तुत करते हुए भी उनका दृष्टिकोण स्वामी दयानन्द से पृथक् नहीं है। 'दयानन्द दिग्विजय' महाकाव्य के चौदहवें सर्ग से लेकर छब्बीसवें सर्ग तक उनकी 'ज्ञान-मीमांसा' विषयक विचारधारा अपेक्षाकृत अधिक पुष्ट से पुष्टतर होती चली गयी है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि यद्यपि महाकाव्य में कल्पनाशीलता के लिए बहुत अधिक अवकाश होता है तथापि उनका चिन्तन दयानन्द सम्मत विचारधारा से कदापि दूर नहीं हटा है। अपने लेखन में उन्होंने दयानन्द के चरित्र एवं कर्त्तव्यों की मूलधारा को विधिवत् रूप से प्रस्तुत करते हुए उनके यथार्थ चिन्तन को नहीं छोड़ा है। अनेक स्थलों पर भावपूर्ण चित्रण करते हुए भी स्वामी दयानन्द की विचारधारा से वे कदापि दूर नहीं हटे हैं। उन्होंने 'स्वामी' जी के समान ही 'ज्ञान', 'विज्ञान', 'कर्म' और 'उपासना' का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार 'ज्ञाता' ज्ञेय, सभी

परमार्थ सत् हैं। 'प्रमाण' और 'प्रमेय' आदि भी वास्तविक हैं। 'बौद्धों' और 'नवीन वेदान्तियों' के समान ये सब अविद्याकल्पित नहीं हैं। 'ज्ञेय' और 'ज्ञाता' दोनों भिन्न हैं। 'ज्ञान' की यथार्थता को उन्होंने ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और उनके उपदेश, सृष्टि-क्रम के अनुसार आप्तोपदेश, अपनी आत्मा की पवित्रता और विद्या तथा आठों प्रमाणों के अनुकूल माना है। एक विशेषता यह है, कि आठ प्रमाणों का पूर्ण आग्रह नहीं है। वे अन्तिम चार प्रमाणों का अन्तर्भाव पूर्व के चार प्रमाणों में मानते हैं। दयानन्द के अनुकूल मेधाव्रत ने भी 'ईश्वर' को 'प्रत्यक्ष' का विषय बतलाया है। वेदों को उन्होंने 'स्वत: प्रमाण' और वेदेतर ग्रन्थों को वेद के अनुकूल होने पर 'परत: प्रमाण' माना है। 'शब्द प्रमाण' के अन्तर्गत उनका 'आप्त पुरुष' भी दयानन्द के समान 'यथार्थद्रष्टा' और 'यथार्थवक्ता' के साथ साथ 'धर्मात्मा' और 'परोपकारप्रिय' आदि गुणों से युक्त है।

अध्ययन को आगे बढ़ाते हुए **तृतीय अध्याय** में मेधाव्रत के काव्यों में उपलब्ध 'प्रकृति के स्वरूप', उसके 'उपादानकारण' और सृष्टि की 'उत्पत्ति' 'स्थिति' तथा 'प्रलय' का विवेचन करने से पूर्व इस सन्दर्भ में 'दयानन्दाभिमत' 'प्रकृति' का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही जगत् के 'यथार्थ' स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए, जगत् के 'मिथ्या', 'क्षणभंगुर' और 'नित्य' न होने का प्रतिपादन किया गया है। कवि मेधाव्रत के ग्रन्थों का इस परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करने पर पाया गया कि उन्होंने प्रकृति और जगत् का वर्णन किंचित् कल्पनाशीलता के साथ प्रस्तुत करते हुए भी स्वामी दयानन्द की एतत् विषयक अवधारणा के पोषण का ध्यान रखा है। कवि के जगत् को 'मिथ्या' न मानकर 'यथार्थ' माना है और 'नवीन वेदान्तियों' के 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' मत का खण्डन 'दयानन्द-दिग्विजय' महाकाव्य के चौदहवें सर्ग में किया है। उन्होंने 'प्रलय' का अर्थ 'अभाव' नहीं माना है। उनकी दृष्टि में 'जगत्' परिणामी है। 'क्षणिक' और 'नित्य' न होकर 'नियतकालस्थायी' है।

कवि ने 'कार्यकारणवाद' को दयानन्द के अनुकूल ही स्वीकार करते हुए 'सत्' और 'असत्' एवं 'कार्यकारणवाद' का समन्वय किया है। 'वेदान्त' के मूल 'बादरायण सूत्रों' की ओर संकेत देते हुए 'षड्दर्शन' के समन्वय की प्रवृत्ति भी अनेक काव्यों में झलकती है। कवि के मतानुसार 'प्रकृति' जगत् का 'उपादान कारण' है। 'प्रकृति' में ही परिवर्तन और परमाणु आदि द्वारा उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय होता रहता है।

कवि ने प्रसंगवश 'स्वभाववाद', 'भौतिक द्वन्द्ववाद' और 'कालवाद' आदि युक्तियों का यथा प्रसंग खण्डन करते हुए ईश्वर को जगत् का कर्ता माना है। इस सम्बन्ध में उन्होंने 'बौद्ध', 'जैन' और 'चार्वाक्' मतों की भी कटु आलोचना की है। मानव की

सर्वप्रथम उत्पत्ति दयानन्द के अनुकूल कवि मेधाव्रत जी ने भी 'तिब्बत' में आर्यावर्त में ही मानी है। जिसका विशद वर्णन उन्होंने 'दयानन्द-दिग्विजय' महाकाव्य में प्रथम दो सर्गों में विशेषतः किया है।

प्रस्तुत शोध-कार्य को आगे बढ़ाते हुए **चतुर्थ अध्याय** में 'दयानन्दाभिमत' और कवि मेधाव्रत के काव्यों में उपलब्ध 'जीवात्मा' के स्वरूप का विवेचन करने से पूर्व अन्य 'भारतीय दर्शनों' में उपलब्ध 'जीवात्मा' के स्वरूप पर भी विचार किया है। इसके पश्चात् दयानन्द के अनुसार 'जीवात्मा' का स्वरूप और उनकी 'संख्या' का निर्देश किया है। तत्पश्चात् 'जीव' कर्म करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में ईश्वर के अधीन है, यह प्रतिपादित किया गया है। 'पुनर्जन्म' 'बन्ध' और 'मोक्ष' के सम्बन्ध में मेधाव्रत ने जितने भी श्लोक रचे हैं वे दयानन्द की विचारधारा का ही प्रतिपादन करते हैं। इसके साथ ही 'जीवात्मा' का 'ईश्वर' और 'प्रकृति' से सम्बन्ध भी दिखलाया गया है। 'जीवात्मा' के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द की विचारधारा पूर्णतया यथार्थ पर आधारित है।

अन्य भारतीय दार्शनिकों 'चार्वाक्', 'बौद्धों', 'जैनों', 'नवीन वेदान्तियों' और उसके अवान्तर सम्प्रदायों— 'रामानुज' के 'विशिष्टाद्वैतवाद', 'माध्वाचार्य' के 'शुद्धाद्वैतवाद', 'निम्बार्क' के 'द्वैताद्वैतवाद' और 'बल्लभाचार्य' के 'शुद्धाद्वैतवाद' का भी दयानन्द के समान कवि मेधाव्रत ने यत्र-तत्र अपने काव्यों में खण्डन किया है। 'जीवात्मा' के 'बन्धन' और 'मोक्ष' के विषय में 'जैन', 'बौद्ध' और 'चार्वाक्' आदि विद्वानों ने जो अपने विचार व्यक्त किये हैं, वे उनके अनुसार केवल सतही ज्ञान पर आधारित हैं। वस्तुतः उनका चिन्तन अधूरा है। 'न्याय-वैशेषिक', 'मीमांसा', 'वेदान्त', 'सांख्य' और 'योग' ने 'बन्धन' और 'मोक्ष' के विषय में जो विचार व्यक्त किये हैं, वे सत्य के अधिक समीप हैं किन्तु 'नवीन-वेदान्त' के मन्तव्य अपेक्षाकृत अधिक उलझे हुए हैं जो व्यावहारिक प्रतीत नहीं होते, ऐसा कवि का विचार है।

मोक्ष के पश्चात् 'जीवात्मा' का पुनः जीवन-धारण का भी 'स्वामी' जी का पृथक् सिद्धान्त है। इसे उन्होंने 'सांख्य' दर्शन के आधार पर माना है। इस विषय में उनके विचार उचित प्रतीत होते हैं। यदि केवल 'जीवात्मा' का 'मोक्ष' ही हो जाये तथा मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं हो तो जीवन का उच्छेदन मानना पड़ सकता है, जो व्यवहार में देखने में नहीं आता। अतः उनके विचार व्यावहारिक हैं। कवि मेधाव्रत ने 'दयानन्द-दिग्विजय' महाकाव्य में 'मोक्ष' के पश्चात् 'पुनरावृत्ति' का अनुकूल ही वर्णन किया है।

उक्त शोध-कार्य को पूर्णता की ओर ले जाते हुए **पंचम अध्याय** में विविध दर्शनों में उपलब्ध 'ईश्वर' तत्त्व के स्वरूप को प्रथमतः स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात् तुलनात्मक रूप से स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित 'ईश्वर' के स्वरूप की विवेचना की गयी है। अभी तक सम्भवतया किसी अन्य विद्वान् ने 'ईश्वर' तत्त्व को लेकर इतना व्यापक चिन्तन प्रस्तुत नहीं किया है जितना कि इस युग में स्वामी दयानन्द ने आधिकारिक रूप से पुष्ट प्रमाणों द्वारा सिद्धि करते हुए लिखा है। 'सत्यार्थ-प्रकाश' के प्रथम समुल्लास में ईश्वर के 'एक सौ आठ' नामों की व्याख्या उन्होंने निजी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हुए उसकी वेदमूलकता सिद्ध की है। उनकी दृष्टि में 'ईश्वर', 'ब्रह्म' अथवा 'परमात्मा' एक ही हैं। जगत् की 'उत्पत्ति' 'स्थिति' और 'प्रलय' में 'कार्यकारणवाद' द्वारा उन्होंने विविध प्रमाण देकर 'ईश्वर' की सिद्धि प्रस्तुत की है।

इसके साथ ही 'ईश्वर' के गुण, कर्म और स्वभाव का भी उन्होंने विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का मूल 'निमित्त कारण' उन्होंने 'परमात्मा' को माना है। उन्होंने 'जैन', 'चार्वाक्', 'बौद्ध' आदि नास्तिक मतों की कटु आलोचना करते हुए 'वेद', 'उपनिषद्', 'मनुस्मृति' और 'दर्शनों' से विधिवत् रूप से प्रमाण देते हुए 'शंकराचार्य' द्वारा प्रवृत्त 'नवीन वेदान्त' और उसके अवान्तर सम्प्रदायों का खण्डन करते हुए 'ईश्वर' की यथार्थ रूप में सिद्धि प्रस्तुत की है।

उन्हें 'शंकराचार्य' के 'अद्वैत वेदान्त' के 'ब्रह्म', 'रामानुज' के 'विशिष्टाद्वैतवाद' के 'ईश्वर', 'चित्' और 'अचित्', 'मध्वाचार्य' के 'द्वैतवाद' के अनुसार 'जीव' और 'जगत्' का 'ब्रह्म' के साथ सम्बन्ध, 'शुद्धाद्वैतवादी', 'बल्लभाचार्य' के अनुसार 'जीव' तथा 'जगत्' को 'ब्रह्म' से अभिन्न मानना और 'जीव' तथा 'जगत्' को 'ब्रह्म' के कार्य मानने की यथावश्यकता भर्त्सना की है। 'सांख्य दर्शन' के 'ईश्वराऽसिद्धेः' सूत्र के अनुसार 'जगत् के उपादानभूत 'ईश्वर' की असिद्धि प्रतिपादित कर उसे (ईश्वर को) जगत्-सृजन का निमित्तकारण प्रतिपादित किया है। अन्य आस्तिक दर्शनों में ईश्वर की सिद्धि के लिए जो युक्तियाँ दी हैं, उनका स्वामी जी ने आश्रय लेते हुए 'ईश्वर' तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का तर्कसंगत और न्यायपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। स्वामी दयानन्द ने जिस दृष्टिकोण से पूर्व एकाग्रता के साथ 'ईश्वर' तत्त्व का समग्र विवेचन प्रस्तुत किया है उससे उनके विचारों का अधिक महत्त्व बढ़ जाता है। इतना स्पष्ट वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। स्वामी दयानन्द का 'ईश्वर', 'सत्य', 'चेतन' और 'आनन्द स्वरूप' है। वह 'एक', 'अन्तर्यामी', 'सर्वशक्तिमान्', 'सर्वज्ञ', 'अनुपम', 'सर्वाधार', 'सर्वनियन्ता', 'अजर,' 'अमर', 'अभय' और 'पवित्र' है। वह पूर्णतः 'निष्काम' है।

वह निमित्तमात्र से क्रीड़ावत् जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करता है। वह जीवात्माओं को 'लौकिक सुख' और 'पारलौकिक मोक्ष' का सुख प्रदान करता है। उनके अनुसार ईश्वर की सत्ता सर्वोपरि है।

स्वामी दयानन्द के अनुसार ही 'ईश्वर' तत्त्व का विवेचन कवि मेधाव्रत ने अपने ग्रन्थों– 'दयानन्द दिग्विजय' महाकाव्य आदि में किया है। 'ईश्वर' के सम्बन्ध में 'कवि' का चिन्तन स्वामी दयानन्द के विचारों से किंचित् भी भिन्न नहीं है। इसका कारण कवि का गहन अध्ययन और आर्य विद्वानों की संगति है। ऐसा प्रतीत होता है, कि कवि के विद्याध्ययन के प्रारम्भ से लेकर मृत्यु पर्यन्त आर्य-समाज की शिक्षा-संस्थाओं और उसके प्रचार में संलग्न रहने से 'स्वामी जी' की विचारधारा उसी क्रम में निरन्तर अभ्यासवश उनके हृदय में बलवती होती रही है। 'कवि' को ईश्वर का काल्पनिक स्वरूप नहीं अपितु 'यथार्थ स्वरूप' प्रिय एवं अभीष्ट है। अतः उन्होंने इस सम्बन्ध में दयानन्द के विचारों का ही सर्वत्र अवलम्बन किया है।

अन्तिम **षष्ठ अध्याय** में 'दयानन्द-दर्शन और यथार्थ जीवन' का विवेचन करते हुए प्रथम जीवन और जगत् के प्रति स्वामी दयानन्द के दृष्टिकोण और उनके जीवन के परम लक्ष्य 'मोक्ष' को स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात् इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु 'पुरुषार्थ-चतुष्टय' 'सांसारिक भोगों से विरक्ति', 'सत्याचरण', 'धर्मयुक्त संयमी जीवन' और जगत् को सुख दुःखमय जानकर 'ज्ञान', 'विज्ञान', 'कर्म' और 'उपासना' के समन्वय द्वारा परमपद 'ईश्वर' की प्राप्ति और 'मोक्ष' के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। 'कवि मेधाव्रत' के ग्रन्थों का इस दृष्टि से अवलोकन करने पर पाया गया कि स्वामी दयानन्द के समान ही कवि का दृष्टिकोण जीवन के यथार्थ पर आधारित है। दयानन्द के जन्म लेने से पूर्व भारत की दशा और जन्म से लेकर उनकी मृत्यु पर्यन्त जो-जो कार्य उन्होंने व्यक्तिगत,सामाजिक, राष्ट्र एवं मानव जाति की आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक उन्नति हेतु यौगिक प्रक्रिया द्वारा परमपद ईश्वर को पाकर जीवन के चरम-लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए किये हैं, उन सबका विधिवत् रूप से कवि ने यथावसर उचित विवरण प्रस्तुत किया है। स्वामी दयानन्द का यह मार्ग दर्शन भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति का समन्वयात्मक रूप है, जिसमें स्वतः ही भौतिक उन्नति से आध्यात्मिक उन्नति की ओर मार्ग प्रशस्त होता चला जाता है। स्वामी जी की सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि उनका चिन्तन 'त्रैतवाद' की जिस यथार्थ विचारधारा पर आधारित है वह बड़ी व्यावहारिक है। 'प्रकृति', 'आत्मा' और 'परमात्मा' ये तीनों तत्त्व अनादि हैं। 'आत्मा' और 'परमात्मा' सदा नित्य हैं। 'परमात्मा' जगत् का 'निमित्त

कारण', आत्मा 'साधारण कारण' तथा प्रकृति, 'जगत्' का 'उपादान कारण' है। 'प्रकृति' प्रवाह से नित्य है। वह मूल रूप में कदापि नष्ट नहीं होती, वह 'परमाणु रूप में परिवर्तनशील' एव 'परिणामी' है। वह प्रलय से सृजन और सृजन से प्रलय तक 'परमाणु परिणामी' है। जगत् भी 'क्षणभंगुर' नहीं है। वह 'नियतकालस्थायी' है। परमात्मा, जीवात्मा के सुख हेतु 'पुनर्जन्म', 'मृत्यु', 'मोक्ष', 'बन्धन' और जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करता रहता है। स्वामी दयानन्द के इस यथार्थ सत्य का कवि मेधाव्रत ने अपने ग्रन्थों में यथावसर सुन्दर वर्णन किया है, जो कवि के ग्रन्थों की उपादेयता को बढ़ा देता है।

ऊपर जिस 'दयानन्द-दर्शन' की अवधारणा की विवेचना प्रस्तुत की गयी, उसका प्रभाव प्रायः 'आचार्य-मेधाव्रत' के सम्पूर्ण ग्रन्थों पर आंका गया है। विशेष रूप से उनके प्रमुख ग्रन्थ 'दयानन्द-दिग्विजय' महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग पर तो उनकी विचार-धारा की छाप पदे-पदे परिलक्षित होती है। उक्त महाकाव्य में स्वामी दयानन्द के जन्म से पूर्व की भारत की स्थिति और स्वामी दयानन्द के 'जन्म' से लेकर मृत्यु पर्यन्त उनके द्वारा किये गये महान् कार्यों का 'सत्ताईस (२७) सर्गों में लगभग २७०० श्लोकों में क्रमिक रूप से विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है। उक्त शोध-कार्य का महत्त्व भावी शोध-कर्त्ताओं के लिए इस दृष्टि से बढ़ जाता है, कि इस दिशा में प्रामाणिक रूप से और अधिक ठोस कार्य करके 'दयानन्द-दर्शन' की विचारधारा का सम्यक् पोषण किया जा सके। 'दयानन्द-दर्शन' की इस विचार-धारा का आलोच्य कवि पर प्रतिबिम्बित प्रभाव मूल्यांकन करने के लिए उनके ग्रन्थों का अवलोकन करना अपेक्षित प्रतीत हुआ।

'ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना' के द्वारा दयानन्द ने 'लोकाभ्युदय' और 'निःश्रेयस्' का मार्ग ढूँढा है। उन्होंने परमेश्वर की उपासना करके 'अविद्या', 'क्लेश' तथा 'अधर्माचरण' आदि दुर्गुणों का निवारण करके 'शुद्ध विज्ञान' और 'धर्मादि' शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति और जीव की मुक्ति का उपाय ढूँढ़ा है। कवि मेधाव्रत ने 'दयानन्द-दिग्विजय' महाकाव्य, 'दयानन्द लहरी' व 'दिव्यानन्दलहरी' आदि ग्रन्थों में इन सबका विवरण विधिवत् रूप से प्रस्तुत किया है।

'दयानन्द-दिग्विजय' महाकाव्य के चौथे सर्ग से बारहवें सर्ग तक तथा उत्तरार्द्ध के चौदहवें सर्ग एवं अन्तिम पाँच सर्गों में इस विषय में विस्तृत सामग्री प्रस्तुत की गयी है।

इस प्रकार साररूप में कहा जा सकता है, कि आचार्य मेधाव्रत की रचनाओं में स्वामी दयानन्द का दर्शन कहीं आंशिक रूप से तो कहीं पूर्णता के साथ प्रमुखता से प्रतिबिम्बित है। सम्पूर्ण शोध-कार्य के निष्कर्ष के रूप में यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है, कि कवि मेधाव्रत स्वामी दयानन्द की विचारधारा से पूर्णतया ओतप्रोत हैं। जिस शैली में उन्होंने दयानन्द के कार्यों, उनकी विचारधारा एवं उनके दार्शनिक मन्तव्यों का विवरण प्रस्तुत किया है वह सर्वथा अनूठी, उपादेय तथा भावी शोधकर्ताओं के लिए प्रामाणिक और विस्तृत शोधसामग्री प्रस्तुत करती है। एक शोध छात्र से इस सम्बन्ध में जो अपेक्षा की जा सकती है, अपने पूरे प्रयास से उसे यहाँ पूर्ण करने का प्रयत्न किया है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

मूल ग्रन्थ–आचार्य मेधाव्रत की रचनाएँ

१. कुमुदिनीचन्द्र	झज्जर (हरयाणा), १९९६ ई०
२. दयानन्द लहरी	झज्जर (हरयाणा), १९९६ ई०
३. सत्यार्थप्रकाशमहिमा	चित्तौड़गढ़ (राजस्थान) १९४८ ई०
४. दिव्यसंगीतामृत	हिन्दी स्फुट रचना
५. दिव्य कुञ्जयोगाश्रमवर्णनम्	चित्तौड़गढ़ (राजस्थान) १९४८ ई०
६. गिरिराजगौरव (हिन्दी काव्य)	झज्जर (हरयाणा),
७. दयानन्द दिग्विजयम्	महाकाव्य पूर्वार्द्ध, (नरेला, दिल्ली) १९९५
८. दयानन्द दिग्विजयम्	महाकाव्य उत्तरार्द्ध, (नरेला, दिल्ली) १९९५
९. ब्रह्मचर्यमहत्त्वम्	झज्जर (हरयाणा), वि०सं० २०१२.
१०.ईशोपनिषत्काव्यम्	झज्जर (हरयाणा)
११. नारायणस्वामीचरितम्	झज्जर (हरयाणा), वि०सं० २०१४.
१२. विरजानन्दचरितम्	झज्जर (हरयाणा), वि०सं० २०१२.
१३. चारुचरितामृतम्, प्रथम भाग	झज्जर (हरयाणा), १९७१ ई०
१४. गुरुकुलशतकम्	झज्जर (हरयाणा), १९६० ई०
१५. दिव्यानन्दलहरी	चित्तौड़गढ़ (राजस्थान) १९४८ ई०
१६. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति	मंझावली फरीदाबाद (हरयाणा) वि०-स० २०५४
१७. साहित्यसुधा (प्रथम भाग)	झज्जर चतुर्थ संस्करण
१८. सुखानन्द गिरिदर्शनम्	चित्तौड़गढ़ (राजस्थान) १९४८ ई०
१९. महात्मचरितम्	झज्जर (हरयाणा),
२०. ब्रह्मचर्यशतकम्	झज्जर (हरयाणा),
२१. प्रकृतिसौन्दर्यम् (नाटक)	बड़ौदा, १९३४ ई०
२२. देशाभ्युदयकाव्यम्	अनुपलब्ध
२३. पद्यतरंगिणी	अनुपलब्ध
२४. ज्ञानेन्द्रचरितम्	अनुपलब्ध

२५. व्रतीन्द्रनित्यानन्दशतकम्	अनुपलब्ध
२६. शुद्धिगंगावतार	अनुपलब्ध
२७. छन्दसूत्रवृत्तिः	अनुपलब्ध
२८. वैदिकराष्ट्रकाव्यम्	अनुपलब्ध
२९. सुखानन्दलहरी	अनुपलब्ध
३०. साहित्यसुधा (द्वितीय भाग)	अनुपलब्ध

सहायक ग्रन्थ-स्वामी दयानन्द के ग्रन्थ-

१. अनुभ्रमोच्छेदन (दयानन्द लघु ग्रंथ संग्रह)	चौदह पुस्तकों का संकलन दिल्ली १९८६
२. आर्याभिविनय (दयानन्द लघु ग्रंथ संग्रह)	चौदह पुस्तकों का संकलन दिल्ली १९८६
३. आर्योद्देश्यरत्नमाला (दयानन्द लघु ग्रंथ संग्रह)	दिल्ली १९८६
४. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	बहालगढ़ १९८४ ई०
५. ऋषिदयानन्द के पत्र और विज्ञापन	बहालगढ़ १९८४ ई०
६. ऋषिदयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास	बहालगढ़ १९८३ ई०
७. गोकरुणानिधि (दयानन्द लघु ग्रंथ संग्रह)	दिल्ली १९८६ ई०
८. चतुर्वेद विषय सूची	अजमेर १९७१ ई०
९. (दयानन्द लघु ग्रंथ संग्रह)	चौदह लघु-ग्रंथों का संग्रह १९८६
१०. पञ्चमहायज्ञविधि	दिल्ली, १९८६ ई०
११. भागवतखण्डनम्	(दयानन्द लघु ग्रंथ संग्रह) दिल्ली- १९८४
१२. भ्रमोच्छेदन	(दयानन्द लघु ग्रंथ संग्रह) दिल्ली- १९८५
१३. भ्रान्तिनिवारण	(दयानन्द लघु ग्रंथ संग्रह) दिल्ली- १९८५
१४. वेदविरुद्धमतखण्डन	(दयानन्द लघु ग्रंथ संग्रह दिल्ली- १९८५
१५. वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण	(दयानन्द लघु ग्रंथ संग्रह) दिल्ली- १९८५
१६. व्यवहारभानुः	(दयानन्द लघु ग्रंथ संग्रह) दिल्ली- १९८५
१७. शिक्षापात्री-ध्वान्त-निवारण,	(दयानन्द लघु ग्रंथ संग्रह) दिल्ली- १९८५
१८. संस्कार विधिः	बहालगढ़ १९७४ ई०
१९. सत्यार्थ-प्रकाश	बहालगढ़ वि०सं० २०५०
२०. वेदभाष्य	अजमेर
२१. यजुर्वेद भाष्यविवरण	बहालगढ़ १९७२ ई०
२२. ऋग्वेदभाष्य	बहालगढ़ १९७४ ई०

२३. ऋग्वेदभाष्य — परोपकारिणी सभा अजमेर १९८५ ई०
२४. उपदेशमञ्जरी — दिल्ली, १९८४ ई०,
२५. ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ और प्रवचन — (युधिष्ठिर मीमांसक)बहालगढ़

अन्य ग्रन्थ–

१. नवजागरण के पुरोधा: दयानन्द सरस्वती — (डॉ० भवानी लाल भारतीय), अजमेर-१९८३ ई०
२. ऋषि दयानन्द और आर्य समाज से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण अभिलेख — (युधिष्ठिर मीमांसक) बहालगढ़
३. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका परिशिष्ट — (युधिष्ठिर मीमांसक) अमृतसर १९६७
४. संस्कार चन्द्रिका — (पं० भीमसैन शर्मा एवं राजरत्न आत्माराम), दिल्ली, १९९३ ई०
५. महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य की विशेषताएँ — (पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड), दिल्ली, वि०सं० २०३२.
६. दयानन्द शास्त्रार्थ-संग्रह — (डॉ० भवानी लाल भारतीय), बहालगढ़-१९८२ ई०
७. विविध निबन्ध संग्रह — अजमेर : वि०सं० २०२३.
८. महर्षि दयानन्द और उनकी परिभाषाएँ — (श्रीमती तारामणि आर्या) इलाहाबाद, १९८६. ई०
९. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन — (डॉ० भवानी लाल भारतीय), अजमेर-वि०सं० २०२५.
१०. अष्टोत्तरशतनाम मालिका — (विद्यासागर शास्त्री) अजमेर १९६३ ई०
११. तत्वमसि अथवा अद्वैतमीमांसा — (स्वामी विद्यानन्द सरस्वती), गाजियाबाद
१२. वैदिक-कर्म-मीमांसा — (डॉ० ओमदत्त शर्मा) मेरठ १९९५ ई०
१३. ऋग्वेद संहिता — (श्रीपाद दामोदर सातवेलकर) पारडी
१४. यजुर्वेद संहिता — (श्रीपाद दामोदर सातवेलकर) पारडी
१५. सामवेद संहिता — (श्रीपाद दामोदर सातवेलकर) पारडी
१६. अथर्ववेद संहिता — (श्रीपाद दामोदर सातवेलकर) पारडी
१७. अथर्ववेद भाष्य — ४ से २० काण्ड (प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, बहालगढ़

१८. शतपथ ब्राह्मण (गंगा प्रसाद उपाध्याय) दिल्ली,

१९. अष्टविंशत्युत्तरशतोपनिषत्संग्रहः चौखम्बा संस्कृत सीरीज

२०. उपनिषत्संग्रहः जे० एल० शास्त्री, दिल्ली

२१. अष्टादश-उपनिषद् लिमये तथा वाडेर पूना, १९५८ ई०

२२. निघण्डु और निरुक्त (लक्ष्मण स्वरूप) अनु०, सत्यभूषण योगी, दिल्ली १९६७

२३. वैदिक वाङ्मय का इतिहास (अपौरुषेय वेद तथा शाखा) प्रथम भाग, पं० भगवद्दत्त सत्यश्रवा, दिल्ली, १९७८ ई०,

२४. वेदों का भाष्यकार (द्वितीय भाग) पं० भगवद्दत्त सत्यश्रवा, दिल्ली, १९७८ ई०,

२५. मनुस्मृति (कुल्लूकभट्ट मन्वर्थमुक्तावली) मुम्बई १९४६ ई०

२६. ए डेस्क्रिप्टिव कैटालॉगस ऑफ संस्कृत मैन्सयुस्क्रिप्ट्स वा-१ पार्ट-१, (वैदिक) ग०स० का० लायब्रेरी स०भा० बनारस (१७९१-१९५०)

२७. वैदिक कोषः (राजवीर शास्त्री) आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली

२८. वैदिक दर्शनों का समन्वय सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली।

२९. षड्दर्शन-भाष्य (आर्यमुनि) झज्जर (हरयाणा)।

३०. आत्मतत्त्व विवेक (उदयनाचार्य) चौखम्बा संस्कृत सीरिज वाराणसी।

३१. न्यायकुसुमाञ्जलि (उदयनाचार्य) चौखम्बा संस्कृत सीरिज वाराणसी।

३२. भारतीयदर्शन बलदेव उपाध्याय, १९९१ ई०।

३३. सर्वदर्शनसंग्रह (श्रीमध्वाचार्य) पूना १९७७ ई०।

३४. वैशेषिकदर्शन (स्वामी ब्रह्ममुनि) दिल्ली, १९६२ ई०।

३५. सांख्यदर्शन (आचार्य उदयवीर शास्त्री) दिल्ली, १९९४

३६. योगदर्शन (आचार्य उदयवीर शास्त्री) दिल्ली, १९९४

३७. न्यायदर्शन (आचार्य उदयवीर शास्त्री) दिल्ली, १९९४

३८. मीमांसादर्शन (आचार्य उदयवीर शास्त्री) दिल्ली, १९९४

३९. वैशेषिकदर्शन (आचार्य उदयवीर शास्त्री) दिल्ली, १९९५

४०. ब्रह्मसूत्र (वेदान्त दर्शन) (आचार्य उदयवीर शास्त्री) दिल्ली, १९९६

४१. वैदिक पदानुक्रमः कोषः (आचार्य विश्वबन्धु शास्त्री) होशियारपुर।

४२. न्यायवार्तिक (उद्योत्त) वाराणसी, १९९६ ई०।

४३. तन्त्रवार्तिक (कुमारिलभट्ट) पूना,

४४. श्लोकवार्तिक (कुमारिलभट्ट), वाराणसी

४५. अद्वैतवाद (गंगाप्रदास उपाध्याय), इलाहाबाद

४६. वैदिक त्रैतवाद (गंगाप्रदास उपाध्याय), इलाहाबाद

४७. अवतार रहस्य (डॉ० श्रीराम), दिल्ली।

४८. चरम सत्य की खोज में (डॉ० विष्णुकान्त वर्मा) दो भाग में विलासपुर-म० प्र० १९८४.

४९. वैदिक-सृष्टि-उत्पत्ति रहस्य (डॉ० विष्णुकान्त वर्मा) दो भाग में विलासपुर-म० प्र० १९८६-८८.

५०. ब्रह्मसूत्रभाष्य (शारीरिक शंकर भाष्य तथा भामति सहित) निर्णय प्रेस, बम्बई।

५१. तत्त्ववैशारदी (वाचस्पति मिश्र) पूना, १९७८ ई०

५२. दयानन्द दर्शन (डॉ० वेदप्रकाश गुप्त) मेरठ।

५३. अणुभाष्य-ब्रह्मसूत्र (बल्लभाचार्य) चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९०५ ई०

५४. तर्कभाषा (केशवमिश्र) मेरठ, १९७८ ई०

५५. वेदनित्यता तथा ऋषि दयानन्द (डॉ श्रीनिवास शास्त्री) कुरुक्षेत्र १९८२.

५६. वेद तथा ऋषि दयानन्द (डॉ श्रीनिवास शास्त्री) कुरुक्षेत्र १९७९

५७. दयानन्द दर्शन एक अध्ययन (डॉ श्रीनिवास शास्त्री) कुरुक्षेत्र १९७७

५८. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ (डॉ० महेश भारतीय), गा०बाद० १९९६

५९. भारतीय न्याय शास्त्र (ब्रह्ममित्र अवस्थी), दिल्ली।

६०. भारतीय दर्शनों में चेतना का स्वरूप (श्री कृष्ण सक्सेना), वाराणसी,

६१. अद्वैतसिद्धि (मधुसूदन सरस्वती)

६२. तार्किक रक्षा (वरदाज)

६३. प्रशस्तपाद-भाष्य (श्री निवासशास्त्री), गाजियाबाद

६४. योगवार्तिक (विज्ञान भक्षु)

६५. प्रमाण-समुच्चय (दिङ्नाद मैसूर)
६६. प्रमाण-समुच्चय (हेमचन्द्र)
६७. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (उमा स्वाति)
६८. श्रीमद्भगवद्गीताभाष्यम् (पं० तुलसी राम स्वामी)
६९. अथर्ववेद संहिता (पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी
७०. वैदिक ज्योति (आचार्य वैद्यनाथशास्त्री)
७१. वेद-रहस्य (श्री अरविन्द)
७२. आर्य समाज की विचार-धारा (पं० गगाप्रसाद उपाध्याय)।
७३. कर्मफल सिद्धान्त (पं० गगाप्रसाद उपाध्याय)।
७४. जीवात्मा (पं० गगाप्रसाद उपाध्याय)।
७५. वैदिक दर्शन डॉ० फतेह सिंह, दिल्ली।
७६. आत्मदर्शन महात्मा नारयण स्वामी।
७७. दयानन्द सिद्धान्त भास्कर कृष्णचन्द्र विरमानी।
७८. मृत्यु और परलोक महात्मा नारायण स्वामी।
७९. योगरहस्य महात्मा नारयण स्वामी।
८०. वैदिक सम्पत्ति पं० रघुनन्दन शर्मा
८१. षड्दर्शन समन्वय पं० बुद्धदेव मीरपुरी।
८२. सत्यार्थ प्रकाश के दार्शनिक विचार भानुचरण आर्षेय दर्शनालंकार
८३. वैदिक त्रैतवाद पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
८४. फिलॉसफी ऑफ दयानन्द गंगाप्रसाद उपाध्याय
८५. स्वामी दयानन्द- ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ हिज लाइफ एण्ड टीचिंग्स एफ० के खान दुर्रानी
८६. मॉडर्न थॉट एण्ड आर्य समाज दीवान चन्द
८७. ए क्रिटिकल स्टजी ऑफ दि फिलॉसफी ऑफ दयानन्द सत्यप्रकाश (अजमेर)

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या



डॉ० योगेश शास्त्री

जन्म:- ३१.०८.१९७३

ग्राम- निरमाना, पत्रालय-निरमाना, जनपद, मुजफ्फरनगर (उ०प्र०) पिन० २५१००१

शिक्षा:— १. शास्त्री सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, २. एम.ए. चौ० चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ, ३. बी०एड० चौ० चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ, ४. आचार्य, संस्कृत साहित्य एवं प्राचीन व्याकरण, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, ५. आचार्य, शुक्ल यजुर्वेद, उत्तरांचल संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

६. शोध-कार्य 'आचार्य मेधाव्रत की साहित्यिक रचनाओं में प्रतिबिम्बित: दयानन्द-दर्शन' शीर्षक पर संस्कृत विषयान्तर्गत चौ० चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ से पी-एच्०डी० की उपाधि।

७. शोध लेख- मान्यता प्राप्त शोध पत्रिकाओं, अन्तराष्ट्रिय, राष्ट्रिय विश्वविद्यालयस्तरीय शोध-सम्मेलनों में लगभग २५ शोध-पत्र प्रस्तुत एवं १२ शोध-पत्र प्रकाशित।

अन्य:— ८. अध्यापन कार्य— विद्यालय-विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, (हरिद्वार)।

९. प्रकाशित रचना— वैदिक यज्ञ एवं पर्व-विधि

१०. अप्रकाशित रचनाएँ— १. ब्रह्मचारी कृष्णदत्त जी का चतुर्युगी परिचय (प्रकाशनाधीन) २. गुरुकुल बनरावा का संक्षिप्त परिचय (लेखनाधीन)

११. प्रचार यज्ञ कार्य— १. पूज्य ब्रह्मचारी कृष्णदत्त जी के सानिध्य एवं प्रेरणा से भारतवर्ष के कोने-कोने में लगभग २०००, यज्ञ सम्पादित। जिनमें चतुर्वेद पारायण, वेद पारायण एवं स्वस्ति यज्ञों का ब्रह्मत्व एवं आचार्यत्व। २. प्रवचन द्वारा वैदिक धर्म एवं वेद-ज्ञान-विज्ञान का प्रचार-प्रसार।

सम्पर्क सूत्र:— विद्यालय-विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार (उत्तराखण्ड) दूरभाष-01334-246447

परिमल पब्लिकेशन्स

कार्यालय : २७/२८, शक्ति नगर, दिल्ली-११०००७

बिक्री केन्द्र : २२/३, शक्ति नगर, दिल्ली-११०००७

ई-मेल : parimal@ndf.vsnl.net.in

ISBN 81-7110-309-X

9788171103096